एम.ए. उत्तरार्द्ध

समाजशास्त्र, चतुर्थ प्रश्नपत्र

राजनीतिक समाजशास्त्र

(POLITICAL SOCIOLOGY)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY – BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Archana Chauhan
   Assistant Professor
   Govt. S.N. (P.G.) Autonomous College, Bhopal (M.P.)
2. Dr. Madhavi Lata Dubey
   Professor
   Govt. Dr. Shyama Prasad Mukharjee Science & Commerce College, Bhopal (M.P.)
3. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   Institute for Excellence in Higher Education, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)
2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)
3. Dr. Anjali Singh
   Director,
   Student Support *Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)*
4. Dr. Archana Chauhan
   Assistant Professor
   Govt. S.N. (P.G.) Autonomous College, Bhopal (M.P.)
5. Dr. Madhavi Lata Dubey
   Professor
   Govt. Dr. Shyama Prasad Mukharjee Science & Commerce College, Bhopal (M.P.)
6. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   Institute for Excellence in Higher Education, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Dr. Biswaranjan Mohanty, Assistant Professor, Department of Political Science, S.G.T.B. Khalsa College, University of Delhi, Delhi
Units (1.0-1.1, 1.4-1.4.1, 1.5-1.9, 3.0-3.1, 3.6-3.10, 4.0-4.1, 4.6-4.10, 5.0-5.1, 5.2, 5.6-5.10)

Dr. Arun Kumar Gupta, Registrar, U.P. Rajarshi Tandon University, Allahabad, U.P.
Units (1.2-1.3, 1.4.2, 2, 3.2-3.5, 4.2-4.3, 4.4, 4.5, 5.3, 5.4, 5.5)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

राजनीतिक समाजशास्त्र

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 राजनीतिक समाजशास्त्र की परिभाषा एवं विषयवस्तु; राजनीतिक समाजशास्त्र का विशिष्ट दृष्टिकोण; राजनीतिक प्रणाली एवं समाज के मध्य अंतर्संबंध– राजनीतिक प्रणाली, राजनीतिक प्रणाली और समाज का संबंध	**इकाई 1** : राजनीतिक समाजशास्त्र : एक परिचय **(पृष्ठ 3–30)**
इकाई–2 लोकतांत्रिक एवं सर्वसत्तात्मक व्यवस्था का सामाजिक– आर्थिक पक्ष – लोकतंत्रः अर्थ, महत्व एवं अभिकरण, सर्वाधिकारवादी (सर्वसत्तात्मक) व्यवस्था	**इकाई 2** : लोकतांत्रिक एवं सर्वसत्तात्मक व्यवस्थाएं **(पृष्ठ 31–41)**
इकाई–3 शक्ति–वितरण के सिद्धांत (मोस्का, परेटो, आर. मिशेल, सी.डब्ल्यू. मिल्स आदि) – मोस्का की अवधारणा, परेटो की अवधारणा, रॉबर्ट मिशेल की अवधारणा, सी.डब्ल्यू. मिल्स की अवधारणा; बुद्धिजीवी / बुद्धिजीवियों की राजनैतिक भूमिका एवं महत्ता– राष्ट्र – निर्माण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता, राजनीतिक संस्कृति निर्माण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता, राजनीति के स्वरूप निर्माण–निरूपण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता, राजनीतिक सहभागिता के अभिप्रेरण के रूप में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता, मतदान व्यवहार के निर्माण–नियमन–निरूपण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता, सामाजिक आंदोलनों के स्वरूप व लक्ष्य निर्धारण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता; दबाव समूह एवं हित समूह : प्रकृति, आधार, राजनीतिक महत्व– दबाव समूह, हित समूह; नौकरशाही : अर्थ, विशिष्टताएं एवं स्वरूप; भारत के संदर्भ में राजनीतिक विकास संबंधी महत्ता– नौकरशाही : अर्थवत्ता, विशिष्टताएं एवं स्वरूप, नौकरशाही के गुण–दोष, नौकरशाही की महत्तापरक भूमिका एवं इसके उपागम	**इकाई 3** : समाज में शक्ति–वितरण के कुलीन सिद्धांत **(पृष्ठ 43–88)**
इकाई–4 राजनीतिक दल : वैशिष्ट्य एवं सामाजिक संरचना– राजनीतिक दल : अवधारणा व वैशिष्ट्य, राजनीतिक दलों की सामाजिक संरचना; भर्ती– नकारात्मक और सकारात्मक भर्ती, भर्ती की पद्धतियां एवं गुण–दोष, अर्हताएं एवं योग्यता निर्धारक विधियां; सामूहिक भागीदारी– स्थानीय स्वशासन का संगठन एवं लोक भागीदारी, न्यून लोक भागीदारी के सूचक, स्वशासन व्यवस्था में लोक भागीदारी बढ़ाने के उपाय, जनभागीदारी और स्थानीय स्वशासन; राजनीतिक उदासीनता : कारण एवं प्रभाव (भारत के विशेष संदर्भ में)– राजनीतिक उदासीनता के कारण, राजनीतिक उदासीनता के परिणाम	**इकाई 4** : राजनीतिक दल **(पृष्ठ 89–137)**
इकाई–5 भारत में राजनीतिक प्रक्रिया के विविध विषय – जाति, धर्म, क्षेत्रवाद, भाषा, अन्य; जनमत : मास मीडिया की भूमिका – जनमत का अर्थ एवं परिभाषाएं, अशिक्षित समाज में जनमाध्यमों की भूमिका एवं समस्याएं; दल एवं इनके राजनीतिक संदर्भ– दलों का वर्गीकरण, राजनीतिक दलों के कार्य : प्रजातांत्रिक और अधिनायकवादी; सामाजिक जीवन का राजनीतिकरण – जीवन के राजनीतिकरण की यथार्थता, भारत में राजनीतिकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	**इकाई 5** : भारत में राजनीतिक प्रक्रिया **(पृष्ठ 139–200)**

विषय–सूची

परिचय 1

इकाई 1 राजनीतिक समाजशास्त्र : एक परिचय 3–30

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 राजनीतिक समाजशास्त्र की परिभाषा एवं विषयवस्तु
1.3 राजनीतिक समाजशास्त्र का विशिष्ट दृष्टिकोण
1.4 राजनीतिक प्रणाली एवं समाज के मध्य अंतर्संबंध
1.4.1 राजनीतिक प्रणाली
1.4.2 राजनीतिक प्रणाली और समाज का संबंध
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 लोकतांत्रिक एवं सर्वसत्तात्मक व्यवस्थाएं 31–41

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 लोकतांत्रिक एवं सर्वसत्तात्मक व्यवस्था का सामाजिक– आर्थिक पक्ष
2.2.1 लोकतंत्र : अर्थ, महत्व एवं अभिकरण
2.2.2 सर्वाधिकारवादी (सर्वसत्तात्मक) व्यवस्था
2.3 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.4 सारांश
2.5 मुख्य शब्दावली
2.6 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.7 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 समाज में शक्ति–वितरण के कुलीन सिद्धांत 43–88

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 शक्ति–वितरण के सिद्धांत (मोस्का, परेटो, आर. मिशेल, सी.डब्ल्यू. मिल्स आदि)
3.2.1 मोस्का की अवधारणा
3.2.2 परेटो की अवधारणा
3.2.3 रॉबर्ट मिशेल की अवधारणा
3.2.4 सी.डब्ल्यू. मिल्स की अवधारणा
3.3 बुद्धिजीवी / बुद्धिजीवियों की राजनैतिक भूमिका एवं महत्ता
3.3.1 राष्ट्र – निर्माण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता
3.3.2 राजनीतिक संस्कृति निर्माण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता
3.3.3 राजनीति के स्वरूप निर्माण–निरूपण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता
3.3.4 राजनीतिक सहभागिता के अभिप्रेरण के रूप में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता
3.3.5 मतदान व्यवहार के निर्माण–नियमन–निरूपण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता
3.3.6 सामाजिक आंदोलनों के स्वरूप व लक्ष्य निर्धारण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता

3.4 दबाव समूह एवं हित समूह : प्रकृति, आधार, राजनीतिक महत्व
3.4.1 दबाव समूह
3.4.2 हित समूह
3.5 नौकरशाही : अर्थ, विशिष्टताएं एवं स्वरूप; भारत के संदर्भ में राजनीतिक विकास संबंधी महत्ता
3.5.1 नौकरशाही : अर्थवत्ता, विशिष्टताएं एवं स्वरूप
3.5.2 नौकरशाही के गुण–दोष
3.5.3 नौकरशाही की महत्तापरक भूमिका एवं इसके उपागम
3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.7 सारांश
3.8 मुख्य शब्दावली
3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 राजनीतिक दल **89–137**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 राजनीतिक दल : वैशिष्ट्य एवं सामाजिक संरचना
4.2.1 राजनीतिक दल : अवधारणा व वैशिष्ट्य
4.2.2 राजनीतिक दलों की सामाजिक संरचना
4.3 भर्ती
4.3.1 नकारात्मक और सकारात्मक भर्ती
4.3.2 भर्ती की पद्धतियां एवं गुण–दोष
4.3.3 अर्हताएं एवं योग्यता निर्धारक विधियां
4.4 सामूहिक भागीदारी
4.4.1 स्थानीय स्वशासन का संगठन एवं लोक भागीदारी
4.4.2 न्यून लोक भागीदारी के सूचक
4.4.3 स्वशासन व्यवस्था में लोक भागीदारी बढ़ाने के उपाय
4.4.4 जनभागीदारी और स्थानीय स्वशासन
4.5 राजनीतिक उदासीनता : कारण एवं प्रभाव (भारत के विशेष संदर्भ में)
4.5.1 राजनीतिक उदासीनता के कारण
4.5.2 राजनीतिक उदासीनता के परिणाम
4.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.7 सारांश
4.8 मुख्य शब्दावली
4.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 भारत में राजनीतिक प्रक्रिया **139–200**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 भारत में राजनीतिक प्रक्रिया के विविध विषय
5.2.1 जाति
5.2.2 धर्म
5.2.3 क्षेत्रवाद
5.2.4 भाषा
5.2.5 अन्य

5.3 जनमत : मास मीडिया की भूमिका
5.3.1 जनमत का अर्थ एवं परिभाषाएं
5.3.2 अशिक्षित समाज में जनमाध्यमों की भूमिका एवं समस्याएं
5.4 दल एवं इनके राजनीतिक संदर्भ
5.4.1 दलों का वर्गीकरण
5.4.2 राजनीतिक दलों के कार्य : प्रजातांत्रिक और अधिनायकवादी
5.5 सामाजिक जीवन का राजनीतिकरण
5.5.1 जीवन के राजनीतिकरण की यथार्थता
5.5.2 भारत में राजनीतिकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'राजनीतिक समाजशास्त्र' का लेखन विश्वविद्यालय द्वारा दूरस्थ शिक्षा हेतु निर्धारित एम.ए. उत्तरार्द्ध पाठ्यक्रम के अनुरूप किया गया है।

राज्य और समाज के पारस्परिक संबंध पर 19वीं शताब्दी में संवाद शुरू हुआ और 20वीं शताब्दी में द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत सामाजिक विज्ञानों में विविधीकरण–विशिष्टिकरण की प्रवृत्ति अस्तित्व में आई। इसी दौरान राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी क्रांति के और अंतः अनुशासनात्मकता के महत्व भी बढ़े। फलतः जर्मन व अमेरिकी विद्वानों में राजनीतिक विज्ञान के समाजोन्मुख अध्ययन की एक नूतन प्रवृत्ति उद्भूत हुई। राजनीतिक समस्याओं की समाजशास्त्रीय खोज एवं जांच की जाने लगी। ये यत्न न तो सर्वथा समाजशास्त्रीय थे और न ही पूर्णतः राजनीतिक। परिणामस्वरूप ऐसे अध्ययनों को 'राजनीतिक समाजशास्त्र' नाम से जाना जाने लगा। इस प्रकार एक स्वतंत्र और स्वायत्त अनुशासन के रूप में राजनीतिक समाजशास्त्र का उद्भव–विकास, अध्ययन अध्यापन एक नूतन और अपरिहार्य परिघटना है।

राजनीतिक समाजशास्त्र राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र दोनों के गुणों को स्वयं में समाविष्ट करते हुए, दोनों का अधिक विकसित रूप में प्रतिनिधित्व करता है। इस तथ्य को स्वर देते हुए एस.एस. लिपसेट कहते हैं– "यदि समाज व्यवस्था का स्थायित्व समाजशास्त्र की केंद्रीय समस्या है तो राजनीतिक व्यवस्था का स्थायित्व अथवा जनतंत्र की सामाजिक परिस्थिति राजनीतिक समाजशास्त्र की मुख्य चिंता है।"

इस पुस्तक में राजनीतिक समाजशास्त्र से संदर्भित समस्त पाठ्यपुस्तक निर्धारित पहलुओं का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विषय–विश्लेषण से पूर्ण प्रत्येक अध्याय का परिचय और उसके मूलभूत उद्देश्य स्पष्ट कर दिए गए हैं। विद्यार्थियों के स्व–मूल्यांकन हेतु प्रत्येक अध्याय के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' स्तंभ के तहत वैकल्पिक प्रश्न भी दिए गए हैं। समूचे पाठ्यक्रम को अध्ययन की सुविधा के लिए पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है। इन इकाइयों का विवरण इस प्रकार है–

प्रथम इकाई राजनीतिक समाजशास्त्र की परिचयात्मक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। इसमें राजनीतिक समाजशास्त्र की परिभाषा, विषयवस्तु, इसके विशिष्ट दृष्टिकोण और राजनीतिक प्रणाली व समाज के मध्य अंतर्संबंध को व्याख्यायित किया गया है।

दूसरी इकाई में लोकतांत्रिक एवं सर्वसत्तात्मक व्यवस्था का सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष विश्लेषित किया गया है।

तीसरी इकाई समाज में शक्ति–वितरण के कुलीन सिद्धांतों पर आधारित है। इसमें मोस्का, परेटो, मिशेल एवं मिल्स की अवधारणा स्पष्ट करते हुए दबाव समूह, हित समूह, नौकरशाही आदि की विवेचना की गई है।

चौथी इकाई राजनीतिक दल के वैशिष्ट्य व संरचण से हमारा परिचय कराती है। इसमें भर्ती, सामूहिक भागीदारी एवं राजनीतिक उदासीनता का अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है।

पांचवीं इकाई भारत में राजनीतिक प्रक्रिया का परिदृश्य साकार करती है। इसमें जाति, धर्म, क्षेत्रवाद, भाषा आदि की भारतीय राजनीति में भूमिका, दल एवं इसके राजनीतिक संदर्भ तथा सामाजिक जीवन के राजनीतिकरण को स्पष्ट किया गया है।

टिप्पणी

आशा ही नहीं, हमें विश्वास भी है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों का ज्ञानवर्धन एवं मार्गदर्शन करने में सफल होगी।

इकाई 1 राजनीतिक समाजशास्त्र : एक परिचय

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 राजनीतिक समाजशास्त्र की परिभाषा एवं विषयवस्तु
1.3 राजनीतिक समाजशास्त्र का विशिष्ट दृष्टिकोण
1.4 राजनीतिक प्रणाली एवं समाज के मध्य अंतर्संबंध
  1.4.1 राजनीतिक प्रणाली
  1.4.2 राजनीतिक प्रणाली और समाज का संबंध
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

राजनीति एक अतिगतिशील एवं अतिपरिवर्तनशील क्रियात्मक प्रसंग है। यह समाज में व्यष्टि एवं समष्टि (Individual and Collectivity) चेतना की सर्वाधिक तर्कसंगत सक्रिय एवं संगठित अभिव्यक्ति है। राजनीति एक ऐसी विशिष्ट गतिविधि है जिसके माध्यम से व्यवस्था संचालित होती है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था द्वारा अपने लक्ष्यों के चयन और गंतव्यरूपी परिणाम तक पहुंचने के लिए विविध प्रक्रियाओं, माध्यमों या गतिविधियों को प्रयोग में लाया जाता है, यही राजनीति है। राजनीति एक सर्वव्यापी मौलिक क्रिया है जिसका बुनियादी आधारतत्व सामाजिक पर्यावरण है। मानवीय आवश्यकतायें ही, सामाजिक–राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में सत्ता–प्राप्ति के लिए सतत रूप में चलते रहने वाले संघर्ष की कारण हैं। इनके माध्यम से व्यवस्था के किसी भी तबके में निवास करने वाला व्यक्ति या समूह समाज पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास करता है।

राजनीति जो राजनीतिक व्यवस्था में संघर्ष की जननी है। अपने शुरुआती दौर से समाज वैज्ञानिकों के अध्ययन एवं शोध विषय रहा है। समाजशास्त्र के विकास के आरंभिक दौर से समाजशास्त्री राजनीतिक सत्ता–शक्ति की प्राप्ति, प्रयोग एवं राजनीतिक व्यवस्था की संरचनाओं के अध्ययन में गहरी रूचि रखते रहे हैं। 19वीं शताब्दी तक यह विषय मूल रूप से राजनीति शास्त्र की विषय सूची में शामिल था। 19वीं सदी के उत्तरार्ध से ही राज्य एवं समाज के संबंधों की यथार्थता पर गंभीर विचार–विमर्श का दौर आरंभ हो गया जो 20वीं शताब्दी में द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत विशेष रूप से परवान चढ़ा। इसका श्रेय समाज विज्ञानों की अध्ययन प्रवृत्ति में आई नई क्रांति 'व्यवहारवादी अवधारणा' को दिया जाता है।

इस इकाई में हम राजनीतिक समाजशास्त्र की अर्थवत्ता, विषयवस्तु एवं इसके विशिष्ट दृष्टिकोण को समझते हुए राजनीतिक प्रणाली एवं समाज के अंतर्संबंध की विवेचना कर रहे हैं।

टिप्पणी

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राजनीतिक राजनीतिक समाजशास्त्र की परिभाषा एवं विषय सामग्री को समझ पाएंगे,
- राजनीतिक समाजशास्त्र के विशिष्ट उपागमों से अवगत हो पाएंगे,
- राजनीतिक समाजशास्त्र और समाज के बीच अन्तर्सम्बन्ध का आकलन कर पाएंगे।

1.2 राजनीतिक समाजशास्त्र की परिभाषा एवं विषयवस्तु

'राजनीतिक समाजशास्त्र' दो शब्दों के संयुक्त रूप का एक प्रारूप है। पहला शब्द राजनीतिक है जिसका अर्थ राजनीतिक घटनाओं क्रियाओं एवं संदर्भों से संबंधित। दूसरा शब्द समाजशास्त्र है– जो सामाजिक संबंधों, घटनाओं एवं प्रक्रियाओं का सम्मिलित रूप से अध्ययन करता है। अतः राजनीतिक समाजशास्त्र में राजनीतिक और सामाजिक संबंधों की पारस्परिक अंतर क्रियाओं–प्रक्रियाओं एवं व्यवस्थाओं को सम्मिलित करके उनका अध्ययन किया जाता है। अंग्रेजी के 'Political Sociology' का हिंदी रूपांतरण 'राजनीतिक समाजशास्त्र' है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि इस विषय में राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र दोनों विषयों का मिला–जुला समन्वित अध्ययन किया जाता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र की सार्वभौमिक एवं सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन कार्य है फिर भी विषय की स्थापना को मद्देनजर रखते हुए कतिपय विद्वानों ने अपने–अपने विचार इसकी परिभाषा के संबंध में प्रस्तुत किए हैं, जो इस प्रकार है–

- ग्रीर एवं ऑरलियन्स : "राजनीतिक समाजशास्त्र की प्रमुख सैद्धांतिक समस्या राज्य नामक सामाजिक संरचनाओं का वर्णन विश्लेषण एवं समाजशास्त्रीय निर्वाचन करना है।"
- डाउसे एवं ह्यूज : "राजनीतिक समाजशास्त्र मूल रूप में समाजशास्त्र की वह शाखा है जिसका संबंध राजनीति एवं समाज की अंतः क्रिया का विश्लेषण करना है।"
- स्टूवर्ट राइज : "राजनीतिक समाजशास्त्र का क्षेत्र उस प्रयास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो राजनीतिक व्यवहार एवं राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन में विभिन्न समाजशास्त्रीय अवधारणाओं एवं पद्धतियों का प्रयोग करते हैं।"
- लेविस ए. कॉजर : "राजनीतिक समाजशास्त्र व भाषा है जो समाजों में या समाजों के मध्य दिए गए शक्ति वितरण के कारणों, प्रभावों तथा उन सामाजिक व राजनीतिक संघर्षों का अध्ययन करती है जो इस शक्ति वितरण में परिवर्तन लाती है।"
- टॉम बोटोमोर : "राजनीतिक समाजशास्त्र एक ऐसा अनुशासन है, जो समाजशास्त्र एवं राजनीतिक विज्ञान के बीच अन्तःशास्त्रीय शंकर निश्चयन की उपज है और

टिप्पणी

जो समाज पर राजनीति के पड़ने वाले प्रभाव का तथा राजनीति पर समाज के पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करता है। यह ऐसा मानकर चलता है कि राजनीति का सार सामाजिक संरचना या रूप विधान में निहित है। राजनीतिक समाजशास्त्र एक ऐसी अन्तर्अनुशासनीय वर्णशंकर सन्तान है जो समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान के बीच हुए परिणय सूत्र का परिणाम है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर संक्षेप में हम कह सकते हैं कि "राजनीतिक समाजशास्त्र' वह विज्ञान है जिसमें राजनीतिक घटनाओं का सामाजिक जीवन पर एवं सामाजिक घटनाओं का राजनीतिक जीवन पर पड़ने वाले पारस्परिक संबंधों पारस्परिक प्रक्रियाओं तथा अवस्थाओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।"

सामाजिक विज्ञानों में आए व्यवहारवादी आंदोलन के प्रादुर्भाव से राजनीति शास्त्र भी अछूता नहीं रहा। विषय के परम्परागत अध्ययन से संबद्ध राजनीति के अध्ययन का आयाम जो सिर्फ संवैधानिक इकाइयों, यथा–राज्य, सरकार, राजनीतिक संस्थाओं के दायरे तक सिमटा था उसे व्यवहारवादी तत्वेत्ताओं ने आदर्शात्मक आयामों से मुक्त करके सामाजिक गतिविधि का स्वरूप दिया। तत्वज्ञों ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया कि राजनीति की मूल जड़ें सामाजिक पृष्ठभूमि में गड़ी हैं, इसलिए इस क्रियात्मक प्रसंग का आनुभविक अध्ययन सामाजिक वातावरण एवं सामाजिक व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में करना समय की मांग है।

सामाजिक विज्ञान के अध्ययन–क्षेत्र में आई व्यवहारवादी क्रांति (Behavioural Revolution) के परिणामस्वरूप पश्चात राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं द्वारा राजनीति विज्ञान के सम्मुख अध्ययन–विश्लेषण की नई प्रवृत्ति की शुरुआत हुई। इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध अध्ययन की ऐसी नई तकनीकों, उपागमों से था जिसका प्रयोग बड़े पैमाने पर समाजवैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक अपने शोध–प्रसंगों के अध्ययन–विश्लेषण के लिए कर रहे थे। राजनीतिकशास्त्र के तत्वविदों द्वारा इन्हीं तकनीकों का प्रयोग सामाजिक पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक प्रसंगों की वास्तविकता की खोज के लिए किया जाने लगा। राजनीति के मौलिक प्रसंगों, तत्वों, परिवर्त्यों का समाजशास्त्रीय संकल्पनाओं पर आधारित सत्यापन (Verification) व्यवस्थापन (Systematisation) एवं परिमाणीकरण (Quantification) न तो पूर्णतः समाजशास्त्रीय था और न ही पूर्णतः राजनीतिक। तात्त्विक स्तर पर अध्ययन की इस नई प्रवृत्ति को राजनीतिक समाजशास्त्र की संज्ञा दी गयी।

इसलिए राजनीतिक समाजशास्त्रीय राजनीति और समाज के मध्य चलने वाली अन्य क्रियाओं के पारंपरिक संबंधों का अध्ययन करते हैं। राजनीतिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक परिवर्त्यों, जैसे– सत्ता, शक्ति, औचित्यपूर्णता, प्रभाव, संप्रभुता, स्वतंत्रता, समानता, जनमत, मताधिकार, प्रतिनिधित्व, सामाजिक न्याय, राजनीतिक आन्दोलनों आदि का अध्ययन–विश्लेषण सामाजिक परिवर्त्यों जैसे– वर्ग, जाति, धर्म, संप्रदाय, संस्कृति, समाजीकरण, भाषा, रहन–सहन, क्षेत्रीयता, सजातीयता, प्रजाति आदि से पारस्परिक संबधों के आधार पर किया जाता है।

राजनीतिक, सामाजशास्त्रियों की दृष्टि में प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का प्रतिरूप होती है। अपने आनुभविक अध्ययनक्रम में ये राजनीति करे राज्य की सीमा से परे समाज में सर्वव्यापी स्वरूप में देखते हैं। यह नया विषय राजनीतिक

घटनाओं, समस्याओं का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सामाजिक परिप्रेक्ष्य में करता है।

टिप्पणी

1.3 राजनीतिक समाजशास्त्र का विशिष्ट दृष्टिकोण

आज 'कंप्यूटरीकृत' समाज के प्रत्येक क्षेत्र में विशेषीकरण हो रहा है। फलतः समाजशास्त्र की व्यापक अवधारणाओं में से अनेक विशिष्ट क्षेत्रों के स्वतंत्र अस्तित्व में भी वृद्धि हो रही है। इसी का परिणाम है कि आज समाजशास्त्र की कई नवीन शाखाएं प्रथम व विशिष्ट विज्ञान के रूप में सामने हैं। जैसे ग्रामीण समाजशास्त्र, नगरीय समाजशास्त्र, औद्योगिक समाजशास्त्र, नारियों का समाजशास्त्र, अपराध का समाजशास्त्र आदि।

राजनीतिक समाजशास्त्र भी समाजशास्त्र की एक शाखा है, जिसका स्वतंत्र रूप से अध्ययन प्रारंभ हो चुका है। संक्षेप में, सरल रूप से राजनीतिक समाजशास्त्र में राजनीतिक सामाजिक संरचना, समूह, राजनीतिक संस्थाओं, संबंधों तथा व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। साथ ही राजनीतिक समूहों पर पड़ने वाले बाह्य समाजों के प्रभावों का भी अध्ययन किया जाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो ने कहा है– "मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है। किंतु वह सर्वत्र बेड़ियों से बंधा है।" रूसो की इस बात से हम सब सहमत हैं। अतः इस विषय में ऐसा लगता है कि समाजशास्त्र के 'समाज' में हम स्वतंत्र रूप से पैदा होते हैं और राजनीतिक समाजशास्त्र की 'राजनीति' में हमारी स्वतंत्रता को अनुशासित एवं नियंत्रित किया जाता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र, राजनीतिक–सामाजिक पारस्परिक सम्बन्धों की प्रक्रियाओं का अध्ययन प्रस्तुत करता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र के अन्वेषण क्षेत्र की प्रारम्भिक रूपरेखा है। सत्ता की मूल धारणा से सम्बन्धित प्रश्नों के अतिरिक्त राजनीतिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत प्राधिकार (Authority), प्रभाव(Influence), बल (Force), या हिंसा (Violence), जो सामाजिक संदर्भ में अपेक्षित हैं, राजनीतिक समाजशास्त्र के क्षेत्रान्तर्गत आते हैं।

टॉम बोटोमोर ने लिखा है कि मेरी राय में "राजनीतिक समाजशास्त्र और राजनीति–विज्ञान में कोई महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक भेद करना असम्भव है। ज्यादा से ज्यादा कुछ भिन्नताएँ हैं, जो पारम्परिक सुविधाजनक श्रम–विभाजन जनित हैं। उदाहरण के लिए, राजनीतिक वैज्ञानिकों ने सरकारी मशीनरी कानून बनाने के उपकरण और प्रक्रियाओं, प्रशासन और विधि नियंत्रण के अध्ययन में विशेष अभिरूचि दिखाई है तथा कुछ हद तक उनको सामाजिक सन्दर्भ से पृथक कर विचार किया है और मुख्यतः उनका विवरणात्मक विवेचन किया है। दूसरी ओर आधुनिक राजनीति विज्ञान है जो राजनीतिक समाजशास्त्र से बहुत कुछ अविभेद्य है। इसका विशिष्ट विकास अठारहवीं शताब्दी से हुआ जिसमें 'राजनैतिक' और 'सामाजिक' का स्पष्ट भेद किया गया है जिसका उद्देश्य समाज की बनावट का क्रमबद्ध अन्वेषण है और जो राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन के बीच विद्यमान सम्बन्धों का तर्कसंगत प्रतिबिम्ब है।"

अनेक राजनीतिक समाजशास्त्रियों ने राजनीतिक समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

सारतोरी का मानना है कि "यह एक ऐसा अनुशासन है जो न तो विशुद्ध समाजशास्त्र है और न ही विशुद्ध राजनीतिक विज्ञान। यह दोनों के समन्वय से बना

हुआ एक संयुक्त पुल है। उसने राजनीतिक समाजशास्त्र के क्षेत्र को तीन बिन्दुओं में रखा है।"

टिप्पणी

1. प्रथमत : ऐसा अध्ययन जो समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान की विचारधाराओं के मेल से एक नए दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है इसे राजनीतिक समाजशास्त्र का क्षेत्र मान सकते हैं। इसके विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि समाज और राजनीति दोनों अन्तर्सम्बन्धित हैं।
2. समाज के सर्वसाधारण व्यक्ति, राजनीतिक दृष्टि से किस आधार से और कैसी क्रिया करते हैं। ऐसी क्रिया से उत्पन्न प्रक्रिया का समावेश राजनीतिक समाजशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।
3. राजनीतिक पार्टियाँ समाज को किस रूप में प्रभावित करती हैं, चूँकि समाज में पाए जाने वाले ये दल (पार्टी) उस समाज संरचना पर पड़ने वाला प्रभाव का अध्ययन भी राजनीतिक समाजशास्त्र करता है।

उपरोक्त विश्लेषण से हमारे सामने राजनीतिक समाजशास्त्र के दो विशिष्ट लक्षण स्पष्ट होते हैं–

पहला राजनीतिक समाजशास्त्र सामाजिक तथा राजनीति के बीच सम्बन्ध का अध्ययन करता है।

दूसरा राजनीति को हम तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि सामाजिक के साथ उसे सम्बन्धित न करें।

इस समस्त विषय में जैसा कि ए.के. मुखोपाध्याय ने लिखा है कि "राजनीतिक समाजशास्त्र एक ऐसा समाज विज्ञान है जो राजनीतिक घटनाओं (Political Phenomena) को आवश्यक रूप से उनके सामाजिक निर्धारक तत्वों से सम्बन्धित करते हुए समझने का प्रयत्न करता है।" जहाँ तक राजनीतिक समाजशास्त्र के क्षेत्र का प्रश्न है इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। पिछले कुछ दशकों में इसके विषय क्षेत्र का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। समकालीन समाज के सभी राजनीतिक सामाजिक पहलुओं का अध्ययन राजनीतिक समाजशास्त्र में किया जाता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र के क्षेत्र के महत्वपूर्ण अंगों को अलग–अलग रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है–

1. **राजनीतिक संरचनाओं तथा संस्थाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन सम्मिलित है**– इसमें राज्यों की अवधारणा तथा उसके लिए राज्य की उत्पत्ति तथा राज्य सत्ता के विभिन्न सिद्धांतों एवं राज्य की संरचना का अध्ययन किया जाता है। सरकार राज्य का बड़ा मूर्त रूप है। अतः राजनीतिक समाजशास्त्र में परंपरागत तथा आधुनिक सामाजिक व्यवस्थाओं में सरकार के प्रमुख कार्यों तथा प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त, राजनीतिक समाजशास्त्र में नेतृत्व की प्रकृति, प्रकारों, प्रमुख लक्षणों, राजनीतिक दल, दबाव समूहों आदि का अध्ययन किया जाता है। मतदान व्यवहार के अध्ययन के बिना राजनीतिक समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र अधूरा है। साथ ही साथ राजनीतिक सत्ता का विश्लेषण भी करना इसके क्षेत्र के अंतर्गत आता है।
2. **नौकरशाही एवं अभिजात वर्गों का अध्ययन**– आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में नौकरशाही तथा अभिजन वर्ग का विशेष स्थान है। राजनीतिक समाजशास्त्र

टिप्पणी

में इनकी प्रकृति, संरचना, प्रकार, व्यवहार आदि का अध्ययन किया जाता है। साथ ही प्रजातंत्र में कर्मचारी तंत्र का क्या स्वरूप है? किस प्रकार प्रजातंत्र की व्यवस्था में कर्मचारी तंत्र साधनों को प्रभावित करने की कोशिश की है। यह सभी राजनीतिक समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र से संबंधित हैं।

3. **प्रजातंत्रीय सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन**– आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में प्रजातंत्र को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अतः प्रजातांत्रिक समाज राजनीतिक समाजशास्त्र का एक मुख्य अध्ययन विषय है। एक लोकतंत्रीय सरकार से अधिकतम संख्या की भलाई के काम करने और एक उदारवादी, नरम और सुव्यवस्थित समाज बनाने की अपेक्षा की जाती है। इसीलिए तौक विल ने लोकतंत्र पर अधिक महत्व दिया और आधुनिक समाज के बनाने में उसे अधिक महत्व दिया है।

4. **राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन**– राजनीतिक समाजशास्त्र के अंतर्गत राजनीतिक प्रक्रियाओं का भी अध्ययन किया जाता है। जनमत, प्रचार, राजनीतिक आंदोलनों तथा राजनीतिक परिवर्तन आदि इस शास्त्र के मुख्य विषय हैं।

5. **सामाजिक संस्करण एवं राजनीतिक विचार का अध्ययन**– प्रत्येक समाज में संस्तरण पाया जाता है। यह संस्तरण किसी भी रूप में हो सकता है। समाज में कुछ व्यक्ति उच्च स्थिति को प्राप्त करते हैं तो कुछ नीचे की स्थिति को धारण करते हैं। राजनीतिक समाजशास्त्र को यह देखना चाहिए कि इस संस्तरण का राजनीतिक व्यवहार के साथ क्या संबंध है? किसी जाति विशेष के व्यक्ति जातिगत आधार पर मत देना क्यों उचित समझते हैं? ये सभी विचार राजनीतिक समाजशास्त्र के विषय है।

6. **युद्ध तथा शांति का अध्ययन**– आधुनिक समाज में युद्ध और शस्त्र अनेकों प्रकार से प्रयुक्त किए जाते हैं। गृह युद्ध शीतयुद्ध ये सभी राजनीतिक सामाजिक कूटनीति के मुख्य भाग होते हैं।

7. **'राजनीतिक क्रांति का समाज पर प्रभाव' का अध्ययन**– राजनीतिक समाजशास्त्र राजनीतिक क्रांति से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों, क्रांति के लक्षणों, क्रांति के कारणों, क्रांति संबंधी दृष्टिकोण आदि का अध्ययन प्रस्तुत करता है। साथ ही इनका समाज पर पड़ने वाले प्रभावों की भी विवेचना करता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. राजनीतिक समाजशास्त्र को 'राजनीति एवं समाज की अंतःक्रिया का विश्लेषण करने वाली समाजशास्त्र की शाखा' कहकर किसने परिभाषित किया?

   (क) स्टूअर्ट राइज (ख) डाउसे एवं ह्यूज

   (ग) लेविस ए. काजर (घ) टॉम बोटोमोर

2. राजनीतिक समाजशास्त्र के क्षेत्र हैं–

   (क) नौकरशाही का अध्ययन (ख) प्रजातंत्रीय समाज

   (ग) व्यवस्था का अध्ययन (घ) उपरोक्त सभी

1.4 राजनीतिक प्रणाली एवं समाज के मध्य अंतर्संबंध

टिप्पणी

सामाजिक विज्ञानों के अंतर्गत 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनीतिक समाजशास्त्र नामक विषय का अभ्युदय हुआ। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है: 'राजनीतिक समाजशास्त्र' समाजशास्त्र की एक शाखा के रूप में विकसित विषय है। विभिन्न विषयों में इसके अध्ययन की दिलचस्पी बढ़ी है। आज राजनीति के अध्ययन का समाजशास्त्रीय उपागम बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया है। मैकाइवर, ईस्टन और आमण्ड जैसे लेखकों ने इस तत्व को मान्यता प्रदान की है की समाजशास्त्र के क्षेत्र में पर्याप्त आंकड़े उपलब्ध हैं जिनसे राजनीतिक व्यवहार के कतिपय नियमों का निर्धारण किया जा सकता है। अर्थात व्यक्तियों के राजनीतिक व्यवहार को समझने और उसकी व्याख्या करने के लिए सामाजिक संदर्भ का सहारा लेना आवश्यक है।

राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने वालों की सामाजिक पृष्ठभूमि इन की सामाजिक दशा व मूल्यों का समुचित महत्व होता है। अतः यह सत्य है कि कोई भी राजनीतिक कार्य व संस्था सामाजिक व्यवस्था से पृथक नहीं होती है। कैटलिन ने स्वीकार किया कि राजनीति संगठित समाज का अध्ययन है। समाजशास्त्र की धरती पर 'राजनीतिक समाजशास्त्र' का अवतरण आधुनिक व्यवहारवाद का परिणाम कहा जा सकता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र के मूलभूत आधार

राजनीतिक समाजशास्त्र ऐसा विषय है जिसमें 'राज्य और समाज' (State and Society) जैसी अवधारणा मिश्रित है। समाज का उद्विकास सरल से जटिल की ओर हुआ है। इसी तरह प्रत्येक सामाजिक विज्ञानों का उद्विकास भी सरलता से जटिलता की ओर हुआ है। राजनीतिक समाजशास्त्र के मूलाधार निम्नांकित हैं–

1. **राज्य एवं समाज में पारस्परिक अंतर्द्वंद्व**– प्रसिद्ध अंग्रेज समाज वैज्ञानिक हरबर्ट स्पेंसर ने कहा कि राज्य एक आवश्यक बुराई है। उनके अनुसार समाज की सत्ता गौण है जबकि व्यक्ति की सत्ता प्रमुख है। इसी तरह राजनीतिक समाजशास्त्र के जन्म एवं विकास में 'राज्य एवं समाज' का विवाद एक प्रमुख कारण रहा है। इस विवाद का स्रोत ही राजनीतिक समाजशास्त्र का विकास है। इस बात को अनेक विद्वान जैसे– लिप्सेट, यूज, मैक आदि स्वीकार करते हैं। अनेक प्राचीन समाज वैज्ञानिकों ने 'राज्य एवं समाज' को अलग–अलग अवधारणाएं एवं इन दोनों में पृथक संबंध की बात को नहीं स्वीकार करते। यहां यह संकट उपस्थित होता है कि राज्य प्रमुख है कि समाज। इस अंतर्द्वंद्व के चलते ही हॉब्स, लॉक एवं रूसो जैसे अनेक विचारकों ने राज्य एवं समाज के इस विवाद को कम करने का प्रयास किया। राज्य एक भौगोलिक अथवा प्रादेशिक दशा है जो राजनीतिक एवं प्रशासकीय आधार पर निर्धारित होती है, दूसरी ओर समाज पारस्परिक अन्तः क्रिया के माध्यम से निर्मित एक संरचित व्यवस्था है। कतिपय विद्वान समाज की अपेक्षा राज्य को महत्वपूर्ण इकाई मानते हैं, जिनमें हीगल, वानस्टीन आदि प्रमुख रहे हैं। इसी प्रकार अन्य कुछ विद्वानों ने समाज को सर्वप्रथम इकाई स्वीकार किया है। कार्ल, सेट साइमन आदि अनेक विचारकों ने राज्य की अपेक्षा समाज को महत्वपूर्ण माना है। फ्रेंच

टिप्पणी

विद्वान इमाइल दुर्खीम ने तो समाज को देवता स्वीकार किया है। राज्य और समाज के मध्य यह विवाद काफी समय चला।

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि राज्य एवं समाज यह दोनों एक दूसरे से अंतर–संबंधित हैं। राजनीतिक समाजशास्त्रियों का मानना है कि राज्य विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक संस्था है जबकि समाज अनेक सामाजिक संस्थाओं की संपूर्ण व्यवस्था है। यह विद्वानों द्वारा स्वीकार किया जाने लगा कि राज्य एवं समाज पारस्परिक पूरक अवधारणाएं हैं। लिप्सेट का कहना है कि "मूल त्रुटि समाज एवं राज्य को दो स्वतंत्र सत्ता मानने की है। अतः यह नहीं पूछा जाना चाहिए कि दोनों में कौन अधिक महत्वपूर्ण है एवं किसे अधिक प्राथमिकता देनी चाहिए। अतः यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक समाजशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास का प्रमुख कारण राज्य एवं समाज का आपसी विवाद था।

2. **राजनीति विज्ञान की प्राचीन संकल्पना**– राजनीतिक समाजशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास का दूसरा आधार जनता में प्राचीन राजनीतिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं के प्रति असंतोष को माना जा सकता है। 1960 के दशक में औद्योगिक समाजों में उग्र राजनीतिक विरोध के पुनरुत्थान और आर्थिक एवं राजनीतिक संकट की शुरुआत होने के कारण नए–नए वैकल्पिक मॉडलों को स्वीकार किया जाने लगा है। वास्तविक रूप में आज समाज में जहां प्रत्यक्षवाद और यथार्थवाद को मान्यता मिल चुकी है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक यथार्थता को अनुभविक वैषमिकता के साथ समझा जा सकता है। राजनीतिक संस्थाओं एवं व्यवस्थाओं के आदर्श आत्मक अध्ययन को अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है जिसमें प्रमुख रूप से ईस्टन, दहल, आमण्ड एवं सैसवेल आदि प्रमुख हैं।

   उपर्युक्त विद्वानों का मत है कि समाज के अधिकतम लोगों के कल्याण के लिए राजतंत्रात्मक व्यवस्था के स्थान पर प्रजातंत्रात्मक व्यवस्थायें उपयुक्त हैं। विद्वानों का मानना है कि राज्य का कार्य व्यक्तियों के कल्याणार्थ होते हैं। अतः राजनीतिक संस्थाओं को सामाजिक हित में सर्वथा प्रयत्नशील होना चाहिए। इसलिए आज अनेक समाजों में प्रजातंत्र, मतदान व्यवहार, राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक धर्म निरपेक्षीकरण जैसी प्रवृत्तियों को मान्यता मिल रही है। इन्हीं राजनीतिक व्यवस्थाओं में असंतोष के परिणाम स्वरूप ही राजनीतिक समाजशास्त्र विषय का उद्‌भव एवं विकास हुआ है।

3. **राजनीतिक एवं समाजशास्त्रीय उपक्रमों का समागम**– समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं के अध्ययन का एक नवीन विज्ञान है जिसने समग्र रूप से अन्य अनेक सामाजिक विज्ञानों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित किया है। समाजशास्त्र विषय की लोकप्रियता गत वर्षों से सर्वाधिक बड़ी है जिससे राजनीति शास्त्र के क्षेत्र विषय सामग्री एवं उसकी प्रकृति भी प्रभावित हुई है समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के फलस्वरूप ही उसमें अंतर–अनुशासनीय उपागम का अनुभव हुआ। कुछ लेखकों ने यहां तक कहा है कि राजनीति विज्ञान में यह समाजशास्त्र का बढ़ता हुआ अनाधिकार प्रवेश है। इसी संदर्भ में जॉर्ज कैटलिन ने अपनी पुस्तक में यह लिखा है कि "ऐसा लगता है कि

टिप्पणी

राजनीतिक विज्ञान धीरे–धीरे समाजशास्त्र की एक शाखा बनता जा रहा है।" अतः राजनीतिक समाजशास्त्र का जन्म तभी होता है जब राजनीतिक एवं समाजशास्त्री उपगामों का समागम एक बिंदु पर होता है। सारतोदी इससे अंतः अनुशासनीय–पारभेदन की प्रक्रिया कहते हैं। अनेक वैज्ञानिकों ने राजनीतिक समाजशास्त्र के उद्‌भव का कारण इन दोनों विज्ञानों के समागम को माना है।

4. **सामाजिक विज्ञानों की शाखाओं में निरंतर वृद्धि**– 18वीं शताब्दी में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति ने जन्म लिया। इस क्रांति ने धीरे–धीरे समूचे विश्व को प्रभावित किया। परिणाम स्वरूप शक्तियों की खोज हुई तथा औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया तेज हुई। आज का युग श्रम विभाजन और विशेषीकरण का युग है। इस विशेषीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक विज्ञान में अनेक शाखाएं विकसित होती जा रही हैं। राजनीतिक समाजशास्त्र की एक विशेषीकृत नवीन शाखा है जिसके अंतर्गत राज्य, सत्ता, सरकार, नेतृत्व, अधिकार एवं दायित्व इत्यादि सामाजिक तत्वों का अध्ययन किया जाता है। सामाजिक नियंत्रण में राज एवं कानून की भूमिका का भी अध्ययन किया जाता है।

व्यवहारवादी विद्वानों, राबर्ट दहल, हर्बर्ट साइमन, हैरोल्ड लेसवेल आदि ने राजनीतिक व्यवहार की व्याख्या अनुभवसिद्धि विधि द्वारा प्रारंभ की जिससे अनेक विद्वानों चिंतकों की बौद्धिक क्रियाओं में विशिष्टीकरण के साथ वैषयिकता स्पष्ट होने लगी। जिन विषयों को राजनीति विज्ञान में सही स्थान नहीं मिला और न ही ऐसी अवधारणाओं को समाजशास्त्र में स्थान मिला उन्हें 'राजनीतिक समाजशास्त्र' में पूर्ण विधिवत व आदर से समाहित किया गया है।

1.4.1 राजनीतिक प्रणाली

सरकार के प्रत्येक प्रकार में, सरकार के कार्यों को चलाने के लिए उसे विभिन्न अंगों में विभाजित किया जाता है। सरकार के इस अंग विभाजन का उद्देश्य राज्य के शासन को सुचारू रूप से चलाना होता है। किसी भी सरकार के तीन मुख्य अंग होते हैं : (1) कार्यपालिका, (2) विधायिका और (3) न्यायपालिका। सरकार के यह तीनों ही अंग स्वतंत्र रूप से अपने कार्यों का संचालन करते हैं और अपने कार्यों के लिए संसद तथा संविधान के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

कार्यपालिका

संघीय शासन–व्यवस्था में कार्यपालिका का वास्तविक स्वरूप चाहे पूर्णतः संघीय सिद्धांत पर आधारित न हो, तथापि इसके संगठन और इसकी कार्य–प्रणाली का संघीय संस्था पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। संघीय कार्यपालिका अपने संगठन में इकाइयों के स्वत्व को स्वीकार करती है अथवा नहीं, वह राज्यों के अधिकारों का कितना संरक्षण करती है, आदि प्रश्नों के आधार पर आधुनिक संघीय सरकार की कार्य–प्रणाली तथा संघों के साथ कार्यपालिका के संबंधों पर प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक संघों में दो प्रकार की कार्यपालिकाएं पाई जाती हैं–

(1) संसदात्मक कार्यपालिका और

(2) अध्यक्षात्मक कार्यपालिका।

टिप्पणी

संसदात्मक कार्यपालिका का उत्तरदायित्व विधानमंडल पर आधारित रहता है। कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारत, ब्रिटेन आदि में इसी प्रकार की कार्यपालिका पाई जाती है। ''सिद्धांत रूप में राष्ट्रमंडलीय देशों के संविधानों में ब्रिटिश नृप अथवा उसके प्रतिनिधि में सभी कार्यपालिका शक्तियां निहित की हैं, अर्थात भारत में राष्ट्रपति को तथा उपनिवेशों में गवर्नर जनरल को, परंतु वास्तविक व्यवहार में गवर्नर जनरल प्रत्येक उपनिवेश के विधानमंडल के बहुमत दल के नेता को मन्त्रिमंडल बनाने के लिए आमन्त्रित करता है। यह प्रणाली ग्रेट ब्रिटेन से ग्रहण की गई है। संघों में जहां संसदात्मक सरकार न होकर अध्यक्षात्मक सरकार है वहां कार्यपालिका का उत्तरदायित्व विधानमंडल के प्रति नहीं होता। उदाहरणार्थ, अमेरिकी राष्ट्रपति और सचिव (मंत्री) कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी नहीं है। अमेरिका के राष्ट्रपति का चुनाव राष्ट्रपति–निर्वाचक–मंडल द्वारा होता है जिसके सदस्य सभी राज्यों के नागरिकों द्वारा चुने जाते हैं। यह व्यवस्था इसलिए की गई है कि संघीय पदाधिकारी की नियुक्ति में सभी राज्यों की वास्तविक एवं प्रभावशाली आवाज हो। इस तरह राष्ट्रपति एक निर्वाचित राज्याध्यक्ष है जो चार वर्ष तक पद–भार सम्भालता है और इस अवधि में उसे केवल महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है। इसका मंत्रीमंडल स्वयं उसके प्रति उत्तरदायी है।

संघीय व्यवस्था में कार्यपालिका एकल भी हो सकती है और बहुल भी। अमेरिका का राष्ट्रपति एक कार्यपालिका पद्धति का उदाहरण है। ब्रिटेन और भारत में संपूर्ण मंत्रीमंडल प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एकमत होकर काम करता है तो स्विट्जरलैंड की कार्यपालिका का बहुत कार्यपालिका उत्कृष्ट उदाहरण है। वहां कार्यकारी शक्ति एक व्यक्ति में निहित न होकर एक व्यक्ति–समूह को दी हुई है। साई ब्राइस के शब्दों में, ''किसी दूसरे प्रजातंत्र राज्य में ऐसी प्रथा नहीं है कि कार्यपालिका सत्ता एक व्यक्ति को न देकर एक समिति के हाथों में रखी गई हो, और ऐसा कोई दूसरा देश न होगा जहां कार्यकारी सत्ता दलबंदी से इतनी अप्रभावित हो।'' स्विस फैडरल कौंसिल विधानमंडल में नेतृत्व नहीं करती और उसके द्वारा हटाई भी नहीं जा सकती, लेकिन साथ ही विधानमंडल से बिलकुल बाहर भी नहीं है। सोवियत संघ प्रेसीडियम भी बहुल कार्यपालिका का अनुपम उदाहरण है।

विधानमंडल या विधायिका

संघीय व्यवस्था में विधानमंडल एक सदनीय हो या द्विसदनीय– यह प्रश्न विचारणीय है। अमेरिकी राजनीतिज्ञों ने सन् 1787 में जो फिलाडेल्फिया कांग्रेस बुलाई थी, उसमें द्वितीय सदन की शक्तियों पर बल दिया गया और विश्व में संघात्मक शासन–प्रणाली के आधार पर जितने भी नवीन संविधानों का निर्माण हुआ, सभी संविधान–निर्माताओं ने अमेरिका के ऊपरी सदन को उदहरण के रूप में लिया। वास्तव में संघात्मक शासन–व्यवस्था में द्वितीय सदन का अपना एक विशेष महत्व है। अमेरिका की सीनेट विश्व में सर्वाधिक शक्तिशाली द्वितीय सदन है। लेकिन द्वितीय सदन शक्तिशाली हो, यह आवश्यक नहीं है। भारतीय संघ में व्यवस्थापिका द्विसदनीय है, लेकन दूसरे राज्य सभा की अपेक्षा निचले सदन लोकसभा का विशेष महत्व है। सोवियत संघ ने भी द्विसदनीय व्यवस्था को अपनाया है जिसमें दोनों सदनों को समान अधिकार प्राप्त है। स्विस व्यवस्थापिका का निर्माण भी द्विसदनात्मक शासन–प्रणाली के आधार पर हुआ है और दोनों ही सदनों के विधायी अधिकार समान हैं। कनाडा का संघीय

विधानमंडल द्विसदनीय है। जो लगभग ब्रिटिश ढंग पर आधारित है। जापान की डायट भी द्विसदनीय है और मंत्रीमंडल सामूहिक रूप से उसके प्रति उत्तरदायी होता है।

टिप्पणी

न्यायपालिका

अमेरिकी संविधान की विश्व के राजनीतिक क्षेत्र में अनेक नवीन देन है। उसकी प्रमुख देन है उसकी संघीय न्यायपालिका की स्थापना जो पूर्ण रूप से स्वतंत्र एवं शक्तिशाली होने के अतिरिक्त संविधान में अपना विशेष महत्व रखती है और आधुनिक संघ–प्रणाली के उत्थान में पथ–प्रदर्शक के रूप में उपस्थित है। वस्तुतः संघीय व्यवस्था की सफलता के लिए एक शक्तिशाली न्यायपालिका का होना अति आवश्यक है जो राज्यों एवं उसके निवासियों के झगड़ों का निपटारा कर सके। संघ शासन में यह आवश्यक है कि राष्ट्र और राज्य के बीच शक्तियों का अलग–अलग बंटवारा हो और उनके मध्य उठने वाले विवादों का निपटारा करने के लिए शक्तिशाली न्यायपालिका हो।

किसी भी राज्य की न्यायपालिका के संगठन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति किस प्रकार, कितनी अवधि के लिए तथा कितने वेतन पर की जाती है। जब तक न्यायपालिका में स्वतंत्रता, निर्भयता और निष्पक्षता विद्यमान न होगी तब तक न तो नागरिकों को समुचित न्याय मिल सकेगा और न न्यायपालिका में उनका विश्वास ही कायम रहेगा। संघीय व्यवस्था में तो न्यायपालिका के स्वतंत्र, निष्पक्ष और निडर होने की भारी आवश्यकता है क्योकि उसे एक ओर तो केंद्र तथा उप–राज्यों के बीच और सदस्य–राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को निपटाना पड़ता है तथा दूसरी ओर संविधान के किसी भी अनुच्छेद, खंड या भाग की व्याख्या के विषय में उठे विवादों को तय करना पड़ता है। हैमिल्टन ने अपने लेख (फेडरेलिस्ट संख्या 30) में उन सिद्धांतों का उल्लेख किया है जो संघीय न्यायालय की स्थापना करते समय ध्यान में रखने चाहिए। तदनुसार (1) एक ऐसी वैधानिक प्रक्रिया होनी चाहिए जिससे संविधान की धाराओं का सुचारु रूप से पालन हो सके, (2) राष्ट्रीय विधियों के निर्वचन (Interpretation) अथवा व्याख्या करने में एकरूपता होनी चाहिए। (3) राष्ट्र और उसके सदस्य–राज्यों अथवा नागरिकों के बीच उठे विरोधों का निर्णय राष्ट्रीय न्यायाधीकरण द्वारा होना चाहिए, (4) संपूर्ण राष्ट्र की शान्ति एक भाग के ऊपर अवलंबित नहीं होनी चाहिए एवं (5) समुद्री विवादों का निपटारा राष्ट्रीय न्यायपालिका द्वारा होना चाहिए। इन्हीं सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए अमेरिकी संविधान में संघ की न्यायिक शक्ति का अधिकार–क्षेत्र निर्धारित किया गया है। साथ ही सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार–क्षेत्र में और भी कई प्रकार से वृद्धि हो गई है। जिसमे न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार विशेष महत्व रखता है।

भारतीय संघ में न्यायपालिका की स्वतंत्रता, निष्पक्षता और संविधान–संरक्षण की स्थिति को पूर्णतः मान्यता दी गई है तथा संघीय न्यायपालिका में आदर्शों का निर्वाह किया गया है, जबकि स्विट्जरलैंड में शक्तियों का विभाजन न होने के कारण न्यायपालिका न तो शक्तिशाली हो सकती है और न ही प्रभावशाली। विधानमंडल द्वारा पास किए गए अधिनियमों को वैध–अवैध निश्चित करने का अधिकार स्विस न्यायालय (संघ ट्रिब्यूनल) को नहीं है; तथापि स्विस न्यायपालिका का अधिकार–क्षेत्र बराबर विस्तृत होता जा रहा है। यद्यपि सोवियत संघ की सर्वोच्च न्यायपालिका की शक्ति–सीमा को निर्देशित करते हुए टिरबिनर ने लिखा है कि ''संयुक्त राज्य अमेरिका में सुप्रीम

कोर्ट को संविधान की रक्षा करने के लिए कानूनों की वैधता को संरक्षित करने का कार्य सौंपा है। हम शक्ति के केंद्रीकरण के विचार से यह कार्य केंद्रीय कार्यकारिणी समिति और प्रैसीडियम को सौंपते हैं। संघीय सुप्रीम कोर्ट केवल परामर्श देता है।''

टिप्पणी

संसदात्मक शासन–प्रणाली का जनक इंग्लैंड माना जाता है जिसका अनुकरण बाद में विश्व के विभिन्न देशों ने किया है। कुछ देशों में पूर्णतः संसदीय प्रणाली अपनाई गई है तो कुछ में संसदात्मक और अध्यक्षात्मक। कहीं दोनों शासन व्यवस्थाओं का मिश्रित रूप है। यहां हम भारत, ब्रिटेन, अमेरिका और स्विट्जरलैंड की शासन व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में संसदीय स्वरूप तथा इन देशों की सरकार के विभिन्न अंगों में तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में आपसी संबंधों की विवेचना करेंगे।

भारत में संसदीय शासन व्यवस्था

भारतीय शासन व्यवस्था को संसदीय और अध्यक्षीय शासन व्यवस्थाओं का एकात्मक और संघीय शासन–पद्धतियों का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण मानना चाहिए जिसे भारत जैसे विशाल जनसंख्या, विस्तृत भू–प्रदेश और बहु–राज्यों वाले देश के अनुकूल ढाला गया है। फिर भी प्रधानता संसदीय चरित्र की है जो अध्यक्षीय शासन की कुछ बातों को ग्रहण करके निखर गया है। दूसरे शब्दों में, भारतीय शासन व्यवस्था, कुछ विशिष्ट अंतरों के साथ ब्रिटिश संसदीय प्रणाली को अपनाए हुए हैं और अब तक संविधान का जो कार्य रहा है और वह भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

संविधान में भाग 5 के अध्याय 2 में अनुच्छेद 79 से 122 तक संसद और उसके विविध पक्षों का विवरण है। भारतीय संसद के तीन अंग हैं–राष्ट्रपति राज्य–सभा और लोकसभा (अनुच्छेद 79)। राष्ट्रपति संसद के किसी सदन का सदस्य होने के बाद ही अधिनियम का रूप ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत अमेरिका का राष्ट्रपति वहां के विधानमंडल (कांग्रेस) का अंग नहीं है क्योंकि वहां शक्ति पार्थक्य का सिद्धांत अपनाया गया है। जिसके अनुसार सरकार के तीनों अंग एक–दूसरे से पृथक हैं। राष्ट्रपति को संसद का अभिन्न अंग बनाना संसदीय शासन के सिद्धांतों और परम्पराओं के अनुकूल है। इंग्लैंड में सम्राट्, हाउस ऑफ लॉर्ड्स तथा हाउस ऑफ कॉमन्स मिलकर पार्लियामेंट कहलाते हैं।

राज्य–सभा के निर्वाचन अप्रत्यक्ष होते हैं। राज्यों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन संबंधित राज्यों की विधान–सभाओं के निर्वाचन सदस्यों द्वारा किया जाता है और संघ राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन ऐसे ढंग से किया जाता है जैसा कि संसद कानून द्वारा निर्धारित करे। सीटों का आवंटन (निर्वाचित का) जनसंख्या के आधार पर किया जाता है। राज्य–सभा एक स्थाई सदन है, उनका विघटन नहीं हो सकता। उसके सदस्य छः वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं और बारी–बारी से एक तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं। राज्य–सभा की संरचना के संबंध में कई बातें विशेष उल्लेखनीय हैं–एक ही विधायी संस्था के निर्माण में प्रतिनिधित्व के विभिन्न सिद्धांतों का समायोजन किया गया है। समस्त राज्यों के लिए समान प्रतिनिधित्व प्रदान करने का अमेरिकी सिद्धांत लोकतंत्र का विरोधी माना गया। अधिकांश सदस्यों का राज्यों के विधान मंडलों द्वारा निर्वाचित होना संघीय सिद्धांत को मान्यता प्रदान करता है। नामांकित करने संबंधी उपबंधों द्वारा विशेष प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को सभा में सम्मिलित करना संभव हो गया अन्यथा ये व्यक्ति सभा के सदस्य न बन पाते।

टिप्पणी

लोकसभा को प्रायः संसद का निम्न सदन कहा जाता है। यह 'जनता की सभा' है। इसके सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। इसके सदस्यों की अधिकतम संख्या 545 हो सकती है। प्रारंभ में कुल सदस्य संख्या 500 निर्धारित की गई थी, राज्य पुनर्गठन के बाद 1959 में सातवें संशोधन द्वारा इसे बढ़ाकर 520 कर दिया गया, 1962 में चौदहवें संशोधन द्वारा यह संख्या पुनः बढ़ाकर 525 कर दी गई। 1971 में 27 वे संशोधन द्वारा यह 524 की गई और 1974 में संशोधन के 31वें संशोधन द्वारा इसे 545 कर दिया गया। इन 545 सदस्यों में से–(i) 525 सें अधिक सदस्य राज्यों के मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाएंगे, (ii) 20 संघ राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधि होंगे एवं (iii) एंग्लो–इंडियन समुदाय के सदस्य राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 331 के अंतर्गत नामांकित किए जायेंगे। संशोधन के 36वें संशोधन अधिवेशन 1975 द्वारा सिक्किम को भारत के पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया और लोकसभा में उसे प्रतिनिधित्व दिया गया। संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम के अनुसार अनुच्छेद 82 में संशोधन करते हुए यह व्यवस्था की गई है कि लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं में सदस्यों की संख्या सन् 2001 तक वही रहेगी जो 1971 की जनगणना के आधार पर निर्धारित की गई है। व्यवस्था 'राष्ट्रीय जनसंख्या नीति' के आधार पर की गई है ताकि किन्हीं राज्यों को जनसंख्या में वृद्धि के आधार पर लोकसभा अथवा राज्य विधानसभाओं में अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो सके। लोकसभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा होता है। भारत में 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति को वयस्क माना गया है। लोक सभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र 'एकल सदस्यीय' हैं।

सामान्यतः लोकसभा का कार्यकाल उसकी पहली बैठक से पांच वर्षों का होता है, बशर्ते कि इसे इसके पूर्व ही भंग न कर दिया जाए। संकटकाल में एक समय में इसका कार्यकाल अधिक से अधिक एक वर्ष और बढ़ाया जा सकता है। किंतु संकट की स्थिति समाप्त होने के पश्चात इसका कार्यकाल 6 महीने से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता। उल्लेखनीय है कि 42वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा लोकसभा का कार्यकाल बढ़ाकर 6 वर्ष कर दिया गया था, किंतु जनता सरकार ने 44वें संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा इसे घटाकर पुनः 5 वर्ष कर दिया गया। लोकसभा यथासंभव अपने दो सदस्यों को, क्रमशः अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती है। अध्यक्ष लोकसभा की बैठकों का सभापतित्व करता है, सदन में शान्ति और अनुशासन बनाए रखता है तथा सभी सदस्यों के विशेषाधिकारों की रक्षा करता है।

ब्रिटिश सम्राट् की भांति भारत का राष्ट्रपति भी संविधानिक प्रमुख है। मुख्य अंतर यह है कि जहां ब्रिटिश सम्राट् या साम्राज्ञी वंशानुगत है, वहां भारतीय राष्ट्रपति जनता का निर्वाचित अध्यक्ष है। ब्रिटिश लोकसभा की भांति भारतीय लोकसभा भी द्वितीय सदन (राज्य सभा) से अधिक शक्ति का प्रयोग करती है और ब्रिटिश व्यवस्था के अनुरूप ही भारतीय मंत्रिमंडल निचले सदन अर्थात् लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है तथापि जहां ब्रिटिश संसदात्मक प्रणाली अधिकांशतः अधिलिखित संविधान और परम्पराओं पर आधारित है (यद्यपि अब संविधान का लेखबद्ध रूप बहुत कुछ तैयार हो चुका है), वहां भारतीय संसदात्मक प्रणाली का आधार लिखित और मौखिक संविधान है तथा परम्पराओं का क्षेत्र सीमित है।

ब्रिटिश संसदीय कार्यपालिका से भारतीय प्रणाली की एक मुख्य भिन्नता इस बात में है कि यद्यपि राष्ट्रपति एक सांविधानिक प्रमुख है तथापि वह ब्रिटिश सम्राट या

टिप्पणी

सम्राज्ञों की तरह 'स्वर्णिम शून्य' अथवा 'रबड़ की मोहर' मात्र नहीं है। राष्ट्रपति को संविधान द्वारा कुछ विशिष्ट शक्तियां प्रदान की गई हैं जिनका विशेष प्रभाव आपातकाल में स्पष्ट होता है। किंतु किसी भी सूरत में राष्ट्रपति अपनी आपातकालीन शक्तियों के कारण निरंकुश नहीं बन सकता, क्योंकि वह इन शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री के परामर्श से करता है और एक निश्चित अवधि के बाद 'राष्ट्रपति शासन' संसद की अनुमति के बिना नहीं चल सकता।

स्वतंत्र भारत के अब तक के सांविधानिक इतिहास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि, भारत का राष्ट्रपति अपने मंत्रियों का आलोचक है, परामर्शदाता है और मित्र है। परामर्शदाता के रूप में वह अपने विचारों को मंत्रिमंडल के समक्ष प्रभावी रूप से रख रख सकता है। आलोचना के रूप में वह मन्त्रणा पर आपत्ति कर सकता है जो मंत्री ने उसे किसी विषय पर दी हो। किंतु उसे जिद या हठ नहीं करनी चाहिए और अंतिम उपचार के रूप में यदि मंत्री राष्ट्रपति की बात को न मानना चाहे तो उसे मंत्री की बात मान लेनी चाहिए। मंत्रिमंडल के मित्र के रूपमें राष्ट्रपति को इतनी सावधानी बरतनी चाहिए कि वह अपनी बात पर व्यर्थ के लिए अड़ा न रहे, जिसके फलस्वरूप शासन का स्थायित्व खतरे में पड़ जाए। जब तक राष्ट्रपति ऐसी मंत्रिपरिषद की मंत्रणा पर चलता है जिसको लोकसभा का विश्वास प्राप्त है, वह कोई असंवैधानिक कार्य नहीं कर सकता।

राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद के पारस्परिक संबंधों के विषय में सर्वोच्च न्यायालय ने भी अपना यही मत प्रकट किया है कि नीति के महत्वपूर्ण प्रश्नों का निर्धारण मंत्रिमंडल ही करता है और राष्ट्रपति को सांविधानिक राज्याध्यक्ष बनाकर वास्तविक कार्यपालिका सत्ता, मंत्रिपरिषद् अथवा मंत्रिमंडल को सौंप दी गई है।

भारतीय संसद ब्रिटिश संसद के समान पूर्ण सार्वभौम विधायिका नहीं है, क्योंकि–

(अ) सामान्य काल में इसकी विधायी शक्ति संघ और समवर्ती सूची के विषयों तक सीमित है,

(ब) संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों द्वारा भी इसकी शक्ति सीमित होती है एवं

(स) न्यायालय को यह निर्णय–शक्ति प्राप्त है कि संसद द्वारा पारित कोई विधि संविधानिक है अथवा नहीं। पर इन सीमाओं के बावजूद संसद ही वह धूरी है जिस पर सरकार का संपूर्ण शासन तंत्र घूमता है। संकटकाल में तो इसकी शक्ति में असीमित वृद्धि हो जाती है और इसकी विधायी तथा वित्तीय शक्तियों पर लगे प्रतिबंध लगभग समाप्त हो जाते हैं। राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद् के साथ यह भारत संघ की, संप्रभु शक्ति का स्थान ले लेती है। इन्हीं के आधार पर दुर्गादास वसु ने कहा है कि भारतीय संविधान में अद्भुत ढंग से अमेरिकी न्यायालय की सर्वोच्चता के सिद्धांत तथा ब्रिटिश संसदीय संप्रभुता के सिद्धांत के मध्य का मार्ग अपनाया गया है।

भारतीय संसद की शक्तियां और कार्य– संसद का मुख्य कार्य विधि निर्माण है। भारतीय संसद संघीय सूची, समवर्ती सूची, अवशिष्ट विषयों और कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानून बना सकती है। गैर वित्तीय विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित हो सकते हैं, परंतु कोई भी विधेयक अधिनियम तभी

टिप्पणी

बन सकता है जब वह संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित हो गया हो और उस पर राष्ट्रपति ने अपनी स्वीकृति दे दी हो। यदि किसी विधेयक को किसी एक सदन द्वारा संशोधित कर दिया जाता है तो उस संशोधन पर दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है। यदि किसी विधेयक के किसी एक सदन में भेजे जाने के 6 माह तक उक्त सदन विधेयक को पास करके नहीं लौटाता तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आमंत्रित करता है। यदि इस बैठक में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत से विधेयक पारित हो जाता है तो वह विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है। व्यवहार में यहां लोकसभा का पलड़ा भारी रहता है क्योंकि उसकी सदस्य संख्या राज्य सभा की दुगनी से भी अधिक है। संसद की विधायी शक्तियों पर अनेक संवैधानिक मर्यादाएं हैं, जैसे–(i) वह राज्य सूची के विषयों पर सामान्यतः कानून नहीं बना सकती, (ii) वह संशोधन नहीं कर सकती, (iii) संविधान के प्रतिकूल संसदीय विधियों को न्यायालय असंवैधानिक घोषित कर सकते हैं एवं (iv) राष्ट्रपति प्रथम बार किसी विधेयक पर अनुमति न देकर उसे पुनर्विचार के लिए संसद को लौटा सकता है और उस तरह विधेयक को प्रभावित कर सकता है।

संविधान द्वारा वित्तीय क्षेत्र में वास्तविक शक्ति लोकसभा को ही प्रदान की गई है, राज्य सभा की स्थिति बहुत गौण है। वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जा सकते हैं, राज्य सभा में नहीं। ऐसा विवाद उठने पर कि कोई विधेयक वित्तीय विधेयक पर राज्य सभा की स्वीकृति का विशेष महत्व नहीं रहता क्योंकि जब लोकसभा द्वारा पारित होकर वित्तीय विधेयक राज्य सभा में भेजा जाता है तो राज्यसभा की विधेयक की प्राप्ति की तारीख में 14 दिनों के भीतर विधेयक को ज्यों का त्यों या संशोधन सहित लौटा देना होता है और लोकसभा को अधिकार है कि राज्यसभा की सिफारिश को स्वीकार करे या न करे। यदि राज्य सभा की सिफारिशों में से किसी को भी लोकसभा स्वीकार नहीं करती तो वित्तीय विधेयक उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है जिस रूप में वह लोकसभा द्वारा पारित किया गया था। यदि राज्य सभा वित्तीय विधेयक को 14 दिन के अंदर लोकसभा को नहीं लौटाती तो भी विधेयक उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है जिस रूप में वह लोकसभा द्वारा पारित किया गया था। स्पष्ट है कि राज्यसभा किसी वित्तीय विधेयक को अधिक से अधिक 14 दिन के लिए निलंबित कर सकती है। वित्तीय शक्तियों के संबंध में भी संसद कतिपय मर्यादाओं से प्रभावित है, जैसे–(अ) व्यय की कुछ मदों पर संसद में मतदान नहीं हो सकता, (ब) वित्त संबंधी कोई भी विधयेक राष्ट्रपति की सिफारिश पर केवल मंत्रि–परिषद की ओर से ही प्रस्तावित हो सकता है, एवं (स) बहुमत के बल पर व्यवहार में वित्त की व्यवस्था पर मंत्रि–परिषद का ही नियंत्रण रहता है, संसद का अधिकार नाम–मात्र का रह जाता है।

संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य और राज्य विधानमंडलों के निर्वाचित सदस्य मिलकर राष्ट्रपति के निर्वाहक मंडल की रचना करते हैं। इस संबंध में लोकसभा और राज्य सभा की शक्तियां समान हैं। इसी प्रकार संयुक्त अधिवेशन में समवेद संसद के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा उप–राष्ट्रपति का निर्वाचन किया जाता है।

मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है, अतः राज्यसभा का देश की कार्यपालिका पर कोई नियंत्रण नहीं है। मंत्रि–परिषद के उत्तरदायित्व का अभिप्राय यह

टिप्पणी

है कि वह लोकसभा की विश्वासपात्र रहने तक ही सत्तारूढ़ रहेगी। अतः लोकसभा का भी यह दायित्व हो जाता है कि वह शासन के विभिन्न क्रियाकलापों पर इस प्रकार दृष्टि रखे कि कार्यपालिका एवं लोक–प्रतिनिधियों के मध्य नीति संबंधी मौलिक विभेद स्पष्ट रूप से प्रकट होते रहें; और लोकसभा कार्यपालिका की गलतियों पर नियंत्रण रखे। लोकसभा के पास नियंत्रण के बहुरूपी उपाय हैं, जैसे शासन के विभिन्न कार्यों के बारे में सूचना मांगना, शासन कार्यों की आलोचना करना, मंत्रियों से प्रश्न पूछना, सार्वजनिक महत्व की जानकारी के विषय में आंकड़े मांगना, संसदीय समितियो के माध्यम से कार्यपालिका से विभिन्न सूचनाएं प्राप्त करना, आदि। यद्यपि राज्यसभा की कार्यपालिका से प्रश्नों के उत्तर मांगती है, कार्यपालिका की आलोचना करती है और लोकसभा के समान ही स्थगन प्रस्ताव का भी अधिकार रखती है तथा लोकसभा के समान ही ऐसा प्रस्ताव रख सकती है जिसमें आग्रह किया हो कि शासन को एक विशेष प्रकार की नीति पर चलना होता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि कार्यपालिका तभी पदच्युत हो सकती है जब लोकसभा का विश्वास खो दे। यह संभव है कि प्रधानमंत्री एक अवांछनीय लोकसभा को राष्ट्रपति से प्रार्थना करके भंग करवा दे और इस प्रकार एक नई लोकसभा का चुनाव करवाए। पर, साधारणतः ऐसी परिस्थिति से सदैव बचने का प्रयत्न किया जाता है। अभी तक केवल एक बार 1970 में ऐसा हुआ है।

संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति पर ही संविधान में संशोधन हो सकता है। संशोधन संबंधी विधेयक किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है, पर यह आवश्यक है कि संसद के प्रत्येक सदन में संपूर्ण सदस्य के बहुमत से तथा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के 2/3 (दो तिहाई) बहुमत से यह संविधान विधेयक पारित हो। संविधान में कुछ ऐसे भी विषय रखे गए हैं जिनके संशोधन के बारे में राज्य–विधान मंडलों की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं है और जिन पर अकेले संसद की संशोधन कर सकती है। संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित किसी संविधान–संशोधन विधेयक को राष्ट्रपति भी अपनी स्वीकृति देने से मना नहीं कर सकता।

संसद के इन व्यापक अधिकारों को सारभूत रूप से प्रकट करते हुए कहा जा सकता है कि 'संसद का प्रधान कार्य देश के लिए कानून बनाना, सरकार की आवश्यकताओं के लिए धन उपलब्ध कराना और राज्य की सेवाओं के लिए आवश्यक धनराशि का विनियोग करना है। संसद को संविधान में निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायधीशों, मुख्य निर्वाचन आयुक्त, लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक को उनके पदों से हटाने का भी अधिकार प्राप्त हैं। मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप में लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। प्रत्येक कानून के लिए संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। प्रत्यायोजित विधान की भी संसद पुनरीक्षा कर सकती है तथा उस पर नियंत्रण रख सकती है। यद्यपि वित्त संबंधी कानूनों की राष्ट्रपति द्वारा सिफारिश की जानी चाहिए परंतु केवल लोकसभा को ही उन पर स्वीकृति प्रकट करने का अधिकार प्राप्त है। संविधान द्वारा अथवा स्वयं अपने की प्रक्रिया–नियमों द्वारा लगाई गई सीमाओं को छोड़कर सार्वजनिक समस्याओं पर विचार करने तथा सरकार के विभिन्न विभागों के कार्यों की समीक्षा करने का अधिकार सीमित है। संकटकालीन स्थिति में संसद को राज्यसूची में दिए गए विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता

है। उन कुछ मामलों को छोड़कर जिनमें संविधान के अनुच्छेद 368 के अंतर्गत कम से कम आधे राज्यों के विधान–मंडलों का अनुसमर्थन अपेक्षित है, संविधान में संशोधन करने का अधिकार भी मुख्य रूप से संसद को ही है।

टिप्पणी

अमेरिका की अध्यक्षात्मक सरकार

संयुक्त राज्य अमेरिका अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था का एकमात्र और सर्वोत्तम उदाहरण है। अमेरिकी संविधान एक ऐसा संघात्मक संविधान है जिसका अनुकरण अन्य संघीय संविधान वाले देशों ने किया है और जिसके आधार पर संघीय संविधानों के गुणों तथा दोषों का विवेचन किया जाता है। 51 राज्यों के इस संघ का राष्ट्रपति विश्व का सबसे शक्तिशाली राष्ट्राध्यक्ष माना जाता है जिसके हाथ में संविधान ने महान शक्तियां सौंपी हैं और जिसके उत्तरदायित्वों ने इन शक्तियों में चार चांद लगाए हैं। राष्ट्रपति वास्तविक प्रधान है। संघीय राज्यों की समस्त कार्यपालिका–शक्ति उसमें निहित है। कार्यपालिका पर विधायिका का नियंत्रण नहीं है। राष्ट्रपति एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होता है और अपने कार्यों के लिए कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। राष्ट्रपति और उसके मंत्रिगण कांग्रेस के सदस्य भी नहीं होते। शक्ति के पृथक्करण और नियंत्रण व संतुलन का व्यावहारिक प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका की शासन व्यवस्था में देखने को मिलता है। इस देश के शासन में अध्यक्षात्मक स्वरूप के मुख्य तत्त्व ये हैं–

1. संविधान की प्रस्तावना में घोषणा की गई है–''हम संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिक इस शासन–विधान की रचना और स्थापना करते हैं।'' इस प्रस्तावना के दो अर्थ स्पष्ट हैं–प्रथम, संविधान के अंतर्गत जनता को आत्म–निर्णय का अधिकार प्राप्त है, एवं द्वितीय, सांविधानिक संप्रभुता देश की जनता में निहित है। शासन पर जनता की सर्वोपरिता बनाए रखने के लिए यह व्यवस्था है कि जनादेश (Mandate) लेने के लिए प्रस्तुत हो। चाहे देश में कैसी भी परिस्थिति हो, प्रतिनिधियों को लोकप्रिय संप्रभुता के समक्ष जाना ही पड़ता है तथा शासन को लोकप्रिय–संप्रभुता के सामने झुकना ही पड़ता है।
2. अमेरिकी शासन व्यवस्था में स्थायी कार्यपालिका के सिद्धांत का सर्वोत्तम प्रयोग किया गया है। संविधान निर्माताओं की इच्छा के विरुद्ध यद्यपि राष्ट्रपति का निर्वाचन आज अप्रत्यक्ष के बजाय प्रत्यक्ष हो गया है, लेकिन इससे शासन के अध्यक्षीय स्वरूप और स्थाीय कार्यपालिका के सिद्धांत को आघात नहीं पहुंचा है। जैसा कि सी.एफ. स्ट्रांग ने लिखा है कि – ''विश्व के अग्रगण्य राज्यों में संयुक्त राज्य अमेरिका ही एक ऐसा उदाहरण है जहां राष्ट्रपति का चुनाव जनता द्वारा होता है और वह वास्तविक कार्यपालिका भी है। इन दोनों तथ्यों से मिलकर एक असंसदीय कार्यपालिका अनिवार्य हो जाती है क्योंकि यदि कांग्रेस स्वेच्छा से राष्ट्रपति को हटा सकती है (उसे केवल महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है) तो निर्वाचक व्यवस्था, चाहे वह संविधान में उल्लिखित मूल रूप में हो या व्यवहार में अपनाए हुए लोकाभिमत के रूप में, बिल्कुल ही निरर्थक हो जाती है।'' राष्ट्रपति राज्य का वास्तविक प्रधान है जिसे कांग्रेस (विधायिका) से स्वतंत्र रखा गया है।

टिप्पणी

3. ब्रिटेन की भांति ही अमेरिका में भी मंत्रिमंडल है, किंतु दोनों ही स्थितियों में आकाश–पाताल का फर्क है। ब्रिटेन में मंत्रिमंडल ऐसे सहयोगियों का समूह होता है जो विधायिका के प्रति उत्तरदायी होता है और एक साथ तैरता–डूबता है। प्रधानमंत्री उसका नेतृत्व करता है किंतु उसकी स्थिति 'सहयोगियों में प्रथम' की होती है। इसके विपरीत अमेरिकी राष्ट्रपति का मंत्रिमंडल उसका परिवार मात्र है जिसके सदस्यों की बात को मानना या ठुकरा देना पूरी तरह उसकी मर्जी पर है। यद्यपि अपने मंत्रियों अर्थात सचिवों की नियुक्ति पर वह सीनेट की स्वीकृति लेता है, किंतु वह मात्र औपचारिकता है। राष्ट्रपति मंत्रियों को कभी भी पदच्युत कर सकता है और इसका उसकी स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुतः दोनों का संबंध मालिक और सेवक जैसा है।

4. राष्ट्रपति और उसके मंत्री जिन्हें सचिव (Secretaries) कहा जाता है, कांग्रेस के सदस्य नहीं होते, कांग्रेस की कार्यवाहियों में भाग नहीं लेते और न ही उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। संविधान के अनुसार जो स्वतंत्रता राष्ट्रपति और कांग्रेस दोनों को प्राप्त है, वह उन्हें परस्पर अधिक निकट नहीं आने देती। दोनों ही जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं, अतः वे स्वयं को एक दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं, अपने–अपने अधिकारों और सम्मान के लिए एक दूसरे के प्रति विशेष सतर्क रहते हैं। विधायिका कार्यपालिका को भंग नहीं कर सकती (महाभियोग की प्रक्रिया को छोड़कर) और न कार्यपालिका को ही विधायिका को भंग करने का अधिकार है। राष्ट्रपति अपने पद पर राष्ट्रीय निर्वाचन के परिणामस्वरूप आता है, अतः अधिकांश समस्याओं पर उसका दृष्टिकोण राष्ट्रीय होता है। इसके विपरीत कांग्रेस उन सदस्यों की संस्था है जो अपने–अपने राज्यों से क्षेत्रीय आधार पर निर्वाचित होते हैं। नियंत्रण एवं संतुलन प्रणाली के माध्यम से एक अंग दूसरे की स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण भी रखता हैं–

   (i) राष्ट्रपति राज्य का अध्यक्ष है, राज्य की सर्वोच्च कार्यपालिका है। परंतु कार्यपालक शक्तियों का वह एकछत्र स्वामी नहीं है, उनके प्रयोग में कांग्रेस राष्ट्रपति की सहभागी है। मुख्य कार्यपालक के रूप से राष्ट्रपति को उच्च–वर्गीय नियुक्तियां करता है उन पर सीनेट की स्वीकृति आवश्यक होती है (निम्न वर्गीय नियुक्तियां वह पूर्ण स्वेच्छा से कर सकता है)। व्यवहार में सीनेट प्रायः राष्ट्रपति की नियुक्तियों को अस्वीकृत नहीं करती, किंतु महत्वपूर्ण नियुक्तियों पर वह निश्चय ही गंभीर हो जाती है और अनेक बार ऐसी नियुक्तियों पर उसने अपनी अस्वीकृति दी है। इस तरह बहुत से पदों का जब कांग्रेस द्वारा सृजन किया जाता है, तब भी यदि कांग्रेस ऐसा निश्चय करे तो उन पर नियुक्ति के लिए सीनेट की स्वीकृति आवश्यक हो जाती है फिर, नियुक्तियों के संबंध में राष्ट्रपति को व्यावहारिक रूप में प्रायः सीनेट की शालीनता (Senatorial Courtesy) की प्रथा का अनुपालन करना पड़ता है और वह विभिन्न नियुक्तियां, जो विभिन्न राज्यों में फैली होती हैं, सीनेटरों की सिफारिशों के अनुसार ही कर देता है।

   (ii) विदेश नीति के संचालक के रूप में राष्ट्रपति विदेशों से संधियां करता है और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध का संचालन भी करता है, परंतु अपने इन

टिप्पणी

कार्यों के संपादन में भी वह किसी न किसी रूप में कांग्रेस पर निर्भर है। संधियां देश पर लागू तभी हो सकती हैं जबकि सीनेट बहुमत से उनकी पुष्टि कर दे। इसी तरह विदेशों के साथ युद्ध की घोषणा करने से पूर्व भी राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक होता है कि कांग्रेस इस क्षेत्र में राष्ट्रपति को पूरी तरह नियंत्रित रखती है। अपनी महान शक्तियों के बल पर और एक राष्ट्र के वास्तविक प्रधान के रूप में राष्ट्रपति ऐसे कूटनीतिक संबंध स्थापित कर सकता है या ऐसी विषम परिस्थितियां पैदा कर सकता है अथवा सेना को ऐसी अवस्था में खड़ा कर सकता है कि युद्ध अनिवार्य हो जाए।

(iii) संविधान द्वारा शक्ति–विभाजन के अनुसार विधि निर्माण के क्षेत्र में कांग्रेस का एकाधिकार है और राष्ट्रपति को उससे कोई प्रयोजन नहीं है, परंतु व्यवहार में राष्ट्रपति एक बड़ी सीमा तक कांग्रेस के विधि निर्माण कार्य का सहभागी होता है। स्वयं संविधान की व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह समय–समय पर कांग्रेस को लिखित या मौखिक संदेश भेजता रहे। चूंकि प्रशासन और विदेशी मामलों में राष्ट्रपति का अनुभव बड़ा गहन होता है और देश का वह मुख्य कार्यवाहक है, अतः कांग्रेस राष्ट्रपति के संदेशों को बड़ा महत्व देती है और प्रायः बहुत से कानूनों का सूत्रपात तक इन्हीं संदेशों से होता है। अपने संदशों के अंतर्गत राष्ट्रपति विशिष्ट कानूनों के निर्माण का भी सुझाव भेज सकता है।

(iv) विधि निर्माण कार्यक्रम को अपनी इच्छा से प्रभावित करने की दृष्टि से राष्ट्रपति अनेक प्रकार से सक्षम होता है। प्रथम, प्रमुख कांग्रेस सदस्यों की इच्छानुकूल नियुक्तियां करके वह उन्हें व्यवस्थापन संबंधी कार्य के लिए अपने अनुकूल बना सकता है; द्वितीय, विरोधी सदस्यों को वह उसके द्वारा दिए गए लाभों को छीन लिए जाने का भय दिखाकर (जैसे उच्च पदों पर नियुक्त उनके मित्रों या रिश्तेदारों को पदच्युत करने की धमकी देकर) अपने अनुकूल कर सकता है; एवं तृतीय, सदस्यों से व्यक्तिगत संपर्क स्थापित करके उन्हें प्रभावित कर सकता है। कांग्रेस के व्यवस्थापन के एकाधिकार को नियंत्रित करने की राष्ट्रपति के पास सबसे बड़ी शक्ति 'निषेधाकिार' (Veto Power) है। विधि निर्माण कार्य कांग्रेस का है, परंतु कांग्रेस द्वारा पारित कोई भी विधेयक कानून तभी बन सकता है जब राष्ट्रपति उस पर हस्ताक्षर कर दे। राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा पारित कोई भी विधेयक कानून तभी बन सकता है जब राष्ट्रपति उस पर हस्ताक्षर कर दे। राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा पारित विधेयक पर अपना विलंबन निषेध (Suspensory Veto) लगा सकता है। किंतु कांग्रेस के दोनों सदनों द्वारा 2/3 बहुमत से उन विधेयकों को पुनः पारित कर देने पर राष्ट्रपति उसे रोक नहीं सकता। लेकिन व्यवहार में यह देखा गया है कि राष्ट्रपति द्वारा वीटो किए गए विधेयकों में से प्रायः एक प्रतिशत विधेयक भी दुबारा कांग्रेस द्वारा पारित नहीं किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति अधिवेशन के अंत के निकट भेजे गए विधेयकों को 'पॉकेट वीटो' (Pocket Veto) कर सकता है। राष्ट्रपति वीटो शक्ति का प्रयोग करके ही नहीं, प्रत्युत उसे

टिप्पणी

प्रयुक्त करने की धमकी देकर भी कांग्रेस पर अपना प्रभाव डाल सकता है। वस्तुतः देश के विधान मंडल में लड़ी गई व्याख्या संबंधी लड़ाई को कांग्रेस का कोई भी पक्ष इतने समय में हार सकता है, जितनी देर में राष्ट्रपति 'नहीं'; या कुछ दूसरे व्याख्यात्मक शब्द लिखे। परंतु जहां राष्ट्रपति कांग्रेस का विरोध करने की ठान लेता है वहां कांग्रेस वित्त पर अपनी नियंत्रण शक्ति द्वारा एवं विधेयकों को दुबारा पारित करने की शक्ति द्वारा राष्ट्रपति को सीमा में रहने को विवश कर सकती है।

(v) संविधान के अनुसार वित्त संबंधी अधिकार पूर्णतः कांग्रेस को ही प्राप्त हैं। व्यवहार में यद्यपि बजट राष्ट्रपति के संरक्षण में तैयार किया जाता है, किंतु उसे स्वीकार, अस्वीकार या उसमें कटौती करना पूर्णतः कांग्रेस पर निर्भर है। इस प्रकार राष्ट्रपति द्वारा चाहे गए धन में कमी करके कांग्रेस उसकी सारी योजनाओं पर तुषारापात कर सकती है और प्रशासनिक क्षेत्र में उसे असफल बना सकती है। हाल ही के वर्षों में कांग्रेस ने अपने इस अधिकार का बड़ा प्रभावी उपयोग किया है।

5. विधायिका और कार्यपालिका पर न्यायपालिका का भी नियंत्रण रहता है। संविधान के किसी शब्द की व्याख्या करने अथवा संविधान की धारा का अर्थ लगाने की अतिम शक्ति सर्वोच्च न्यायालय को ही है। साथ ही यदि सर्वोच्च न्यायालय यह समझता है कि कांग्रेस अथवा राष्ट्रपति ने संविधान की किसी धारा के विरुद्ध कार्य किया है तो वह उस कार्य को अवैध घोषित कर सकता है और उसका यह निर्णय अंतिम माना जाता है। परंतु न्यायपालिका कहीं अपनी शक्तियों के दुरूपयोग पर उतारू न हो जाए, अतः उस पर भी नियंत्रण की व्यवस्था की गई है। अमेरिकी कांग्रेस को अधिकार है कि राष्ट्रपति के तथा उच्चतम न्यायाधीश के कोई गलत काम करने पर महाभियोग की कार्यवाही द्वारा उनको पद से हटा दे। ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ में न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त नहीं है। इन देशों में विधानमंडल की सर्वोच्चता (Supremacy of Legislature) के सिद्धांत को अपनाया गया है, इसीलिए न्यायालय विधान के कार्य की वैधानिकता का परीक्षण नहीं कर सकता।

निःसंदेह संयुक्त राज्य अमेरिका की शासन व्यवस्था अथवा स्थायी या राष्ट्रपति शासन प्रणाली का सर्वोत्तम रूप है जिसमें शक्ति पृथक्करण तथा नियंत्रण एवं संतुलन की प्रणाली का सुंदर और व्यावहारिक सम्मिश्रण है। संविधान–निर्माताओं ने यद्यपि शासन के तीनों विभागों का पृथक्करण कर दिया है, पर वे इस तथ्य को भूले नहीं कि तीनों अंगों के मध्य पारस्परिक संपर्क और संबंध स्थापित करना भी सफल शासन के लिए परमावश्यक है। अतः उन्होंने शक्ति विभाजन को व्यावहारिक बनाने के लिए ऐसा प्रबंध कर दिया है कि तीनों अंग एक दूसरे पर इस तरह नियंत्रण बनाए रखें जिससे शक्तियों का संतुलन बना रहे। यदि कोई अंग कभी अपने उत्तरदायित्वों का ज्ञान खो बैठे तो दूसरा अंग उसे सचेत करके संविधानुकूल आचरण और कार्य करने के लिए मजबूर कर दे। अमेरिका एक प्रतिनिधि सत्तात्मक गणराज्य है और इकाई राज्यों की शासन प्रणाली भी प्रतिनिधिमूलक तथा गणतंत्रात्मक है। यद्यपि राज्यों के अपने अलग संविधान हैं, किंतु संघीय संविधान और राज्यों को गणतंत्रात्मक शासन की गारंटी दी गई है।

ब्रिटेन में संसदीय शासन व्यवस्था

टिप्पणी

संसदीय लोकतंत्र और मंत्रिमंडलीय शासन की जननी ब्रिटिश संसद और ब्रिटिश मंत्रिमंडलीय ही है। कालांतर में जिन राष्ट्रमंडलीय राज्यों ने अपने संविधानों का निर्माण किया, उनमें से भी अधिकांश ने ब्रिटिश संसदीय शासन व्यवस्था का ही अनुकरण किया है। विशिष्ट अंतर इस बात में रहा है कि जहां ब्रिटेन में संसदीय लोकतंत्र और मंत्रिमंडलीय शासन पद्धति मुख्यतः परम्पराओं की उपज है वहां अन्य देशों में लिखित संविधानों द्वारा इस व्यवस्था का प्रावधान किया गया है।

ब्रिटेन संसदीय शासन व्यवस्था का उसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है जिस प्रकार अध्यक्षीय शासन व्यवस्था का संयुक्त राज्य अमेरिका। ब्रिटेन में कार्यपालिका के दो रूप विद्यमान हैं–एक नाममात्र की कार्यपालिका है (सम्राट या साम्राज्ञी) और दूसरी वास्तविक कार्यपालिका है (मंत्रिमंडल)। वास्तविक शासन शक्ति का उपभोक्ता मंत्रिमंडल है जिसके सदस्य संसद से लिए जाते हैं और जो लोकप्रिय सदल (हाउस ऑफ कामन्स या लोकसभा) के विश्वास पर्यन्त अपने पद पर बने रहते हें। ब्रिटिश मंत्रिमंडल का जीवन संसद की सद्भावना पर निर्भर है जिसका अर्थ है–लोकसभा का विश्वास। अंतिम विश्लेषण में जिसका मतलब यह है कि नियंत्रण निर्वाचकगण के हाथों में है। जैसा कि वाल्टर बेजहॉट ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ बतलाया है, ''मंत्रिमंडल एक जीव है, किंतु अन्य जीवों के विपरीत उसमें अपने स्रष्टा अर्थात् लोकसभा को नष्ट करने की शक्ति है, क्योंकि यदि लोकसभा में मंत्रिमंडल के हाथ कमजोर हो जाएं तो वह त्यागपत्र देने के स्थान पर उस सभा को, जिस पर वह स्वयं निर्भर है, भंग करने के लिए सम्राट को परामर्श दे सकता है। तब इस बात का निर्णय निर्वाचकगण करते हैं कि वह दल जिसके मंत्रिमंडल ने अपील की है, बहुमत प्राप्त करेगा या नहीं। इससे यह पता चल जाता है कि मंत्रिमंडलीय शासन की स्थिरता किस अनिवार्य सीमा तक दलीय प्रणाली पर निर्भर है।

मान्टसेक्यू ने ब्रिटिश संसदीय शासन व्यवस्था के बारे में कहा था कि ब्रिटेन में शासन के तीनों अंगों का कार्यक्षेत्र पृथक–पृथक हैं। पर वास्तव में ब्रिटेन में तो शासन की शक्ति केंद्रीभूत हैं। यद्यपि आंग एवं जिंक के अनुसार इंग्लैंड में 'शक्ति पृथक्करण' का सिद्धांत आंशिक रूप में लागू हुआ है जिसका प्रयोग केवल न्यायपालिका के संबंध में होता है, पर आज प्रवृत्ति यह है कि व्यवस्थापन के विस्तार के कारण न्यायपालिका की शक्ति भी कार्यपालिका में केंद्रित होती जा रही है। बीसवीं शताब्दी में विकसित प्रदत्त व्यवस्थापन और प्रशासकीय न्याय व्यवस्था इंग्लैंड के शक्ति–एकत्रीकरण सिद्धांत को सबल करती है। इसके अतिरिक्त लॉर्ड सभा विधायिका का अंग होते हुए भी अपील के अंतिम न्यायालय के रूप में कार्य करती है और तब मंत्रिमंडल का सदस्य लॉर्ड चांसलर मुख्य न्यायाधीश के पद पर आसीन होता है। इन सब व्यवस्थाओं के कारण यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि इंग्लैंड में शक्ति का पृथक्करण हैं पर इसका यह आशय नहीं है कि ब्रिटेन में कार्यपालिका निरंकुश है अथवा नाजी या फासिस्ट सरकार के पद–चिह्नों पर चल सकती है। ब्रिटिश संसद कार्यपालिका की निरंकुशता के प्रति सदैव जागरूक रहती है और कार्यपालिका भी उत्तरदायी बनने की प्रवृत्ति प्रायः नहीं रखती। ब्रिटिश चरित्र ब्रिटेन की संसदीय शासन व्यवस्था को बनाए रखने में बहुत अधिक सहायक हैं।

टिप्पणी

संसदीय शासन व्यवस्था के अनुरूप ब्रिटिश संसद वैधानिक दृष्टि से सर्वोच्च है वह पूर्ण शक्ति–सम्पन्न संस्था है जिसका अधिकार–प्रवेश राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हैं कानून बनाने, संशोधन करने, रद्द करने अथवा कानून का विस्तार करने आदि का उसे पूरा अधिकार है। वह केवल साधारण कानूनों के निर्माण में ही सर्वोच्च सत्तावान नहीं है वरन् सांविधानिक कानूनों के निर्माण में ही सक्षम है। ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था की एक विशेषता इस बात में है कि यद्यपि न्यायपालिका को संसदीय कानूनों की समीक्षा करने का अधिकार नहीं है और कार्यपालिका के कार्यों की वैधता या अवैधता पर विचार कर उन्हें अवैधानिक घोषित करना उसके क्षेत्र के बाहर है, तथापि न तो संसद ही निरंकुश आचरण करती है और न कार्यपालिका ही, क्योंकि कानून का शासन (Rule of Law) व्यक्ति के अधिकारों का रक्षक है। कानून के शासन का सामान्यतः यह अभिप्राय समझा जाता है कि देश में शासन वहां के कानून के अनुसार चलता है, किसी व्यक्ति विशेष की इच्छानुसार नहीं। कानून का शासन नागरिकों के स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध रक्षा और कानून की सर्वोच्चता स्थापित करता है और सभी वर्गों के व्यक्तियों की समानता स्थापित करते हुए अन्ततोगत्वा संविधान को देश के सामान्य कानून पर आधारित करता है।

ब्रिटेन में संसदीय सर्वोच्चता के सन्दर्भ में हमें वैधानिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को ध्यान में रखना चाहिए। वैधानिक दृष्टि से तो संसद सर्वोच्च ही है, किंतु व्यावहारिक दृष्टि से उस पर अनेक नैतिक और परम्परागत बातों का अंकुश लगा रहता है। वह सांविधानिक परम्पराओं की उपेक्षा नहीं कर सकती और न ही लोकमत की अवहेलना कर सकती है। संसद का संपूर्ण कार्य सदैव उत्तरदायित्व की भावना में होता है। संविधान का संशोधन करते समय उसे विभिन्न मनोवैज्ञानिक एवं स्व–आरोपित प्रतिबंधों का ध्यान रखना होता है। ये सब बातें संसदीय चरित्र के अनुरूप हैं, क्योंकि संसदीय सर्वोच्चता का अर्थ संसद की निरंकुशता नहीं होता। निरंकुशता तो प्रत्येक रूप में बुरी है, चाहे यह कार्यपालिका की निरंकुशता हो या संसद की, एक व्यक्ति की निरंकुशता हो या समूह की। ब्रिटिश संसदीय शासन–प्रणाली में भी अवरोध और संतुलन के सिद्धांत का समावेश है। उदाहरणार्थ, संसद के दोनों सदन कोई भी नियम पारित कर सकते हैं, पर अधिनियम के लागू होने के लिए सम्राट की स्वीकृति आवश्यक है।

ब्रिटेन में संसद द्वि सदनीय है–निम्न सदन अर्थात लोकसभा लोकप्रिय सदन है जिसके सदस्य पृथक्–पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों में 'एक व्यक्ति एक मत' के आधार पर व्यस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित होते हैं। मंत्रिमंडल का उत्तरदायित्व इस सदन के प्रति है। लॉर्ड सभा उच्च सदन है जिसकी रचना में पैतृकता, नियुक्ति और निर्वाचन तीनों की सिद्धांतों का समन्वय किया गया है। अधिकांश सदस्य पैतृक या वंशानुगत रूप से सदस्यता प्राप्त करते हें। ब्रिटिश संसदीय जीवन का यह एक विचित्र विरोधाभास है कि लॉर्ड सभा भी सामन्ती तत्त्वों की प्रतीक बनी हुई है, लेकिन इससे भी बड़े आश्चर्य की बात यह है कि इन सामन्ती और राजतंत्रीय तत्त्वों से लोकतंत्रीय सिद्धांतों को कोई हानि न होकर बढ़ावा ही मिलता है। लॉर्ड सभा की वंशानुगत रचना का प्रमुख कारण यही है कि अंग्रेज रूढ़िवादी हैं और अपनी प्राचीन संस्थाओं के प्रति उनमें भारी श्रद्धा है।

ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था में विपक्ष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि सरकारी पक्ष। विपक्ष भी उतना ही सुसंगठित होता है जितना कि सत्तारूढ़ पक्ष। विपक्ष का

टिप्पणी

मुख्य कार्य है कि वह सत्तारूढ़ पक्ष की स्वस्थ आलोचना करें, जनमत को अपनी ओर मोड़े तथा निर्वाचनों में विजय प्राप्त कर सत्तारूढ़ होने का प्रयत्न करें। ब्रिटिश राजनीति की यह विशेषता है कि संगठित विपक्ष को राजकीय मान्यता प्रदान की गई है। सरकार विपक्ष का पूरा आदर करती है और उसे 'राजा या रानी का विरोधी दल' (His/Her Majesty's Opposition) कहा जाता है। राजा या रानी द्वारा संसद का उद्घाटन करते समय विपक्ष का नेता प्रधानमंत्री के साथ खड़ा होता है। उसकी स्थिति वैकल्पिक प्रधानमंत्री (Alternative Prime Minister) की होती है। वास्तव में ब्रिटिश संसदीय शासन व्यवस्था में दो ही महत्त्वपूर्ण दल हैं जिनके हाथ में सत्ता आती–जाती रहती है। यद्यपि और भी दल हैं, तथापि वे गौण हैं। भारत जैसी बहुदलीय व्यवस्था जिसमें रचनात्मक शक्ति का अभाव है, ब्रिटेन में नहीं पाई जाती।

स्विट्जरलैंड की संसदीय व्यवस्था

स्विट्जरलैंड बाइस कैंटनों (अथवा 16 पूर्ण तथा 6 अर्द्ध–कैंटनों) का शाश्वत संघ है। इस देश का संविधान संघीय और लोकतांत्रिक व्यवस्था की दृष्टि से जिस प्रकार अनूठा है, उसी प्रकार संसदीय प्रणाली की दृष्टि से भी अनूठा है। स्विस शासन व्यवस्था न पूरी तरह संसदीय है और न पूरी तरह अध्यक्षात्मक ही, वरन इसमें दोनों का विचित्र सम्मिश्रण हैं। इस अनूठी संसदीय व्यवस्था के महत्वपूर्ण तथ्य हैं–

1. स्विट्जरलैंड में प्रभुसत्ता जनता में निहित है राज्य का प्रधान प्रत्यक्ष चुनाव के आधार पर अपना पद प्राप्त करता है। संविधान के छठे अनुच्छेद में कैंटनों को गणतंत्रीय स्वरूप देने और अपनी संस्थाओं को गणतंत्रीय ढंग पर निर्मित करने का प्रावधान है।
2. स्विट्जरलैंड में लोकतंत्रीय सिद्धांतों का सर्वाधिक सफल प्रयोग हुआ है। शासन के प्रत्येक कार्य में जनता प्रत्यक्ष रूप से अनिवार्यतः भाग लेती है। जनता की इच्छा का निर्माण नीचे से ऊपर की ओर हुआ है। कैंटनों से अधिक महत्व कम्यूनों का है और संघ से अधिक महत्व कैंटनों का है। संविधान जनता द्वारा संशोधित किया जाता है। आरम्भिक, लोक–निर्णय आदि द्वारा सर्वसाधारण की इच्छा को सर्वोपरि महत्व दिया गया है। स्विस संविधानों में अन्य संविधानों की अपेक्षा स्वतंत्रता की समानता की पर विशेष बल दिया गया है, यहां तक कि कार्यपालिका के सभी मंत्री भी परस्पर स्वतंत्र और समान हैं।
3. स्विस कार्यपालिका, जो संघीय परिषद (Federal Council) कहलाती है, बड़ी अनूठी है। यह व्यवस्थापिता के दोनों सदनों द्वारा निर्वाचित सात सदस्यों से मिलकर बनती है। इस बहुल कार्यकारिणी (Plural Executive) के सभी सदस्यों की शक्तियां लगभग समान हैं। अध्यक्ष भी अन्य सदस्यों के समान दर्जे का होता है। सभी सदस्य बारी–बारी से अध्यक्ष बनते हैं। स्विस कार्यपालिका इस दृष्टि से भी अनोखी है कि इसमें उत्तरदायित्व और स्थायित्व दोनों के ही गुण हैं। एक ओर तो वह विधायिका के प्रति उत्तरदायी है तथा दूसरी ओर विधायिका द्वारा हटाई भी नहीं जा सकती। मंत्रिगण वेतनभोगी असैनिक सेवकों की तरह हैं जो विधायिका की आज्ञानुसार काम करते हैं।
4. स्विस संसदीय व्यवस्था वस्तुतः अनेक दृष्टियों से अनुपम है। प्रथम, स्विस शासन व्यवस्था न पूरी तरह संसदीय है और न पूरी तरह अध्यक्षात्मक ही। शासन

टिप्पणी

का प्रमुख (President) राजा भी है और प्रधानमंत्री भी तथा नाम–मात्र का शासन–प्रमुख भी है और वास्तविक शासन–प्रमुख भी। दूसरे, स्विस कार्यपालिका संसद में से ली जाती है, संसदीरय कार्यवाही में भाग लेती है तथा संसद के प्रति उत्तरदायी भी होती है, किंतु संसद के अविश्वास के फलस्वरूप उसे त्याग–पत्र नहीं देना पड़ता। तीसरे, स्थायित्व की दृष्टि से स्विस शासन यद्यपि अध्यक्षात्मक है, किंतु शक्तियों का पृथक्करण नहीं पाया जाता। कार्यपालिका और विधायिका दोनों एक–दूसरे पर निर्भर है। चौथे, संसदीय व्यवस्था की तरह मंत्रिगण उत्तरदायित्व और पारस्परिक सहयोग की भावना से काम करते हैं, किंतु सामूहिक उत्तरदायित्व के नाम पर उन्हें अपनी आत्मा का बलिदान नहीं करना पड़ता। वे न केवल मंत्रिमंडल वरन् संसद की बैठक में भी अपना स्वतंत्र मत व्यक्त कर सकते हैं। पांचवे, स्विस विधायिका द्वि–सदनीय है और दोनों सदनों के अधिकार लगभग बराबर हैं। सी.एफ.स्ट्रांग के शब्दों में, ''संसार के शब्दों में स्विस विधायिका ही एक ऐसी विधायिका है जिसके दोनों सदनों के कार्यों में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं है।''

5. स्विट्जरलैंड में राजनीतिक दलों का इतना महत्त्व नहीं है जितना अन्य लोकतान्त्रिक देशों में पाया जाता है। मतदान के समय किसी दल की हार या जीत को विशेष महत्व नहीं दिया जाता। अन्य देशों के समान संगठित दलों की भी कमी है। प्रजातांत्रिक राज्यों में दलीय व्यवस्था के जो गंभीर दोष दिखाई देते हैं, वे स्विट्जरलैंड में नगण्य हैं। स्विस राज्य रूपी जहाज दलबन्दी की लहरों द्वारा कभी डगमगाया नहीं। वहां अन्य देशों की तुलना में दलीय संघर्ष बहुत कम पेचीदा और दलीय भावना बहुत कम है।

1.4.2 राजनीतिक प्रणाली और समाज का संबंध

राजनीतिक व्यवस्था एवं समाज के मध्य अंतर संबंधों के विश्लेषण से पूर्व राजनीति राजनीतिक व्यवस्था एवं समाज के संबंधों की पृष्ठभूमि को जान लेना अति आवश्यक है। सभी राजनीतिक व्यवस्थाएं अपने मौजूदा समाज में ही अवस्थित होती है अर्थात राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का ही एक हिस्सा है। समाज से प्रथक राजनीतिक व्यवस्था के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। समाज एक व्यापक व्यवस्था है इसलिए समाज शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक संदर्भ में किया जाता है। मैकाइवर एवं पेज ने अपनी रचना सोसाइटी में कहा है कि समाज नीतियों एवं कार्य विधियों के अधिकारों एवं पारस्परिक सहायता के अनेक समूहों तथा विभागों का एवं मानव व्यवहार पर नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था को ही हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का जाल है जो सदैव गतिशील एवं परिवर्तनशील रहता है।

टालकॉट पारसन्स ने 'Encyclopedia of Social Sciences' में कहा है कि "समाज को उन मानवीय संबधों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साधन और साध्य के सम्बन्ध द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न हुआ हो चाहे ये सम्बन्ध यथार्थ हो या प्रतीकात्मक हो।" पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्था में तीन विशेषताओं का पाया जान अति आवश्यक बताया है–

टिप्पणी

1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों का परस्पर क्रिया करना इनकरेक्ट।
2. व्यक्तियों द्वारा क्रिया करते समय ध्यान रखना कि अन्य व्यक्तियों की क्रिया पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा।
3. कभी–कभी व्यक्तियों द्वारा एक समूह लक्ष्य कॉमन गोल को प्राप्त करने का प्रयास करना।

कैटलिन ने अपनी कृति में स्पष्ट रूप से राजनीति को संगठित समाज का अध्ययन कहा है। समाज राज्य हमेशा से एक दूसरे के सहयोगी रहे हैं। समाजशास्त्र अपनी उत्पत्ति के आरंभिक दिनों से राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन करता आ रहा है। राजनीतिक दार्शनिक प्लेटो एवं अरस्तु ने अपने अध्याय में राज्य एवं समाज पद का प्रयोग सामान अर्थों में किया है। कालांतर में राज्य एवं समाज की अलग–अलग रेखाओं की अभिव्यक्ति दोनों विषयों के विद्वानों द्वारा की जाने लगी। समाज को व्यक्ति के लिए एक स्वाभिमान संगठित इकाई माना गया है, जबकि राज्य राजनीतिक व्यवस्था का संबंध सत्ता शक्ति, औचित्यपूर्णता, प्रभाव–दबाव आदि से है। हीगल दर्शन में समाज की मजबूती के लिए पर्यावरण में व्याप्त संघर्षों, प्रतिस्पर्द्धाओं, तनाव को नियंत्रित करने के लिए शक्तिशाली राज्य की संकल्पना प्रस्तुत की गई है।

आधुनिक राजनीति विद्वानों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था प्रक्रिया एवं राजनीतिक व्यवहार की यथार्थता जानने–समझने तथा व्यवहारपरक गहन अध्ययन विश्लेषण करने के लिए समाजशास्त्रीय उपगामों, प्रतिमाओं, सिद्धांतों, प्रविधियों का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया है। अंतरानुशासनिक पद्धति के प्रयोग की वजह राजनीतिक व्यवस्था एवं समाज के मध्य निरंतर चलते जाने वाली अंतःक्रियाओं, अंतःबढ़ता एवं अन्योंन्याश्रित का तथ्यपरक एवं यथार्थपरक अध्ययन सामाजिक पृष्ठभूमि, सामाजिक पर्यावरण, सामाजिक संस्कृति, सामाजिक अभिवृत्तियों, मूल्यों, विश्वासों, परम्पराओं, आस्थाओं तथा प्रासंगिक अभिविन्यासों के परिप्रेक्ष्य में किया जाने लगा क्योंकि इनका मानना था कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का अस्तित्व सामाजिक व्यवस्था से पृथक नहीं हो सकता है तथा राजनीतिक एवं राजनीति व्यवस्था से संदर्भित प्रसंगों की वास्तविकता का अध्ययन विश्लेषण व्यापक सामाजिक संदर्भ में ही किया जा सकता है। इनके विचार में एक और जहां सामाजिक प्रवृत्ति या राजनीति व्यवहारों पर गहरा प्रभाव डालती है वहीं दूसरी ओर राजनीतिक व्यवस्थाएं सामाजिक व्यवहारों की मोड़ने में भी सक्षम होती है। राजनीतिक व्यवस्था की क्रियात्मकता का क्षेत्र समाज है, जिसमें राजनीति क्रियाशील रहती है। सामाजिक व्यवस्था की विभिन्न इकाइयां, उनके विचार, मूल्य आदि राजनीतिक व्यवस्था को औचित्यता की सामग्री प्रदान करता है जिसके आधार पर राजनीतिक अवस्थाएं अपनी शक्तियों का निर्धारण, क्रियान्वयन सत्ता–संचालन करती है। किसी भी व्यवस्था में गैर राजनीतिक (सामाजिक एवं परिस्थितिकीय) तत्व, राजनीतिक व्यवस्था एवं उसमें क्रियाशील राजनीति को किस सीमा तक प्रभावित करती है और उस राजनीतिक व्यवस्था को इकाइयां एवं राजनीति इन सामाजिक तत्वों को किस प्रकार अपने कार्य के अनुकूल बना पाती है यह राजनीतिक व्यवस्था में विद्वान समाज, सामाजिक परिस्थितियों, समानताओं, असमानताओं एवं सामाजिक व्यवहार की प्रकृति पर निर्भर करता है। जिस राजनीतिक व्यवस्था के सामाजिक पर्यावरण में पारिस्थितिकीय भिन्नताएं जितने ज्यादा मात्रा में पाई जाती हैं, वह राजनीतिक व्यवस्था उसी अनुपात में कमजोर, अस्थिर एवं समस्याग्रस्त होती है।

टिप्पणी

पारसन्स ने अपेक्षित अनुसंधान के पश्चात समाज की सातत्य को कायम रखने वाली चार प्रमुख क्रियाओं की पहचान की है–

1. लक्ष्य सिद्धि– या समाज एवं राजनीतिक व्यवस्था दोनों का प्रधान कार्य है।
2. अनुकूलन– इस कृत्य के अंतर्गत सामाजिक व्यवस्था के साथ तत्व को कायम रखने के लिए अपेक्षित संसाधनों का इंतजाम किया जाता है।
3. एकीकरण– इस कार्य का उद्देश्य समाज को तोड़ने से बचाना है यानी कि अटूट रखने का इंतजाम करना है।
4. प्रतिमान अनुरक्षण– इस कार्य का उद्देश्य समाज में मूल्यों का संप्रेषण और तनाव प्रबंधन करना है ताकि सामाजिक मूल्यों के प्रति समाज के ज्यादा से ज्यादा सदस्यों की आस्था बनी रहे।

अपनी प्रगति जांचिए

3. राज्य को एक आवश्यक बुराई किसने कहा?

   (क) कैटलिन (ख) हरबर्ट स्पेंसर

   (ग) लिप्सेट (घ) दुर्खीम

4. राजनीतिक प्रणाली में सरकार के अंश होते हैं–

   (क) कार्यपालिका (ख) विधायिका

   (ग) न्यायपालिका (घ) पूर्वोक्त सभी

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (घ)
3. (ख)
4. (घ)

1.6 सारांश

राजनीतिक समाजशास्त्र में राजनीतिक और सामाजिक संबंधों के पारस्परिक अंतर क्रियाओं–प्रक्रियाओं एवं व्यवस्थाओं का सम्मिलित अध्ययन किया जाता है। अंग्रेजी के 'Political Sociology' का हिंदी रूपांतरण 'राजनीतिक समाजशास्त्र' है।

राजनीतिक समाजशास्त्र में राजनीतिक सामाजिक संरचना, समूह, राजनीतिक संस्थाओं, संबंधों तथा व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। साथ ही राजनीतिक समूहों पर पड़ने वाले बाह्य समाजों के प्रभावों का भी अध्ययन किया जाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो ने कहा है– "मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है। किंतु वह सर्वत्र बेड़ियों से बंधा है।" रूसो की इस बात से हम सब सहमत हैं। अतः इस विषय में ऐसा लगता है कि समाजशास्त्र के 'समाज' में हम स्वतंत्र रूप से पैदा होते हैं और राजनीतिक

समाजशास्त्र की 'राजनीति' में हमारी स्वतंत्रता को अनुशासित एवं नियंत्रित किया जाता है।

टिप्पणी

समाजशास्त्र विषय की लोकप्रियता गत वर्षों से सर्वाधिक बड़ी है जिससे राजनीति शास्त्र के क्षेत्र विषय सामग्री एवं उसकी प्रकृति भी प्रभावित हुई है समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के फल स्वरुप ही उसमें अंतर–अनुशासनीय उपागम का अनुभव हुआ। कुछ लेखकों ने यहां तक कहा है कि राजनीति विज्ञान में यह समाजशास्त्र का बढ़ता हुआ अनाधिकार प्रवेश है। इसी संदर्भ में जॉर्ज कैटलिन ने अपनी पुस्तक में यह लिखा है कि "ऐसा लगता है कि राजनीतिक विज्ञान धीरे–धीरे समाजशास्त्र की एक शाखा बनता जा रहा है।" अतः राजनीतिक समाजशास्त्र का जन्म तभी होता है जब राजनीतिक एवं समाजशास्त्री उपगामों का समागम एक बिंदु पर होता है।

किसी भी सरकार के तीन मुख्य अंग होते हैं : (1) कार्यपालिका, (2) विधायिका और (3) न्यायपालिका। सरकार के यह तीनों ही अंग स्वतंत्र रूप से अपने कार्यों का संचालन करते हैं और अपने कार्यों के लिए संसद तथा संविधान के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

समाज राज्य हमेशा से एक दूसरे के सहयोगी रहे हैं। समाजशास्त्र अपनी उत्पत्ति के आरंभिक दिनों से राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन करता आ रहा है। राजनीतिक दार्शनिक प्लेटो एवं अरस्तु ने अपने अध्याय में राज्य एवं समाज पद का प्रयोग सामान अर्थों में किया है। कालांतर में राज्य एवं समाज की अलग–अलग रेखाओं की अभिव्यक्ति दोनों विषयों के विद्वानों द्वारा की जाने लगी। समाज को व्यक्ति के लिए एक स्वाभिमान संगठित इकाई माना गया है, जबकि राज्य राजनीतिक व्यवस्था का संबंध सत्ता शक्ति, औचित्यपूर्णता, प्रभाव–दबाव आदि से है।

1.7 मुख्य शब्दावली

- **संकल्पना** – अवधारणा
- **परिप्रेक्ष्य** – संदर्भ / पहलू
- **अंतर्द्वंद्व** – उचित–अनुचित संबंधी अनिर्णय की स्थिति
- **सीनेट** – संसद
- **द्विसदनात्मक** – दो सदनों से युक्त
- **अवांछनीय** – अनपेक्षित / अनावश्यक
- **प्रयोजन** – लक्ष्य / उद्देश्य

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक समाजशास्त्र की अर्थवत्ता से संबंधित टॉम बोटामोर का मत क्या है?
2. राजनीतिक समाजशास्त्र के दो विशिष्ट लक्षण क्या हैं?
3. कार्यपालिका से क्या तात्पर्य है?

टिप्पणी

4. राजनीति विज्ञान की प्राचीन संकल्पना क्या है?
5. आपकी दृष्टि में किस देश की राजनीतिक प्रणाली अच्छी है और क्यों?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक समाजशास्त्र की अवधारणा स्पष्ट करते हुए इसकी परिभाषाओं का उल्लेख कीजिए।
2. राजनीतिक समाजशास्त्र के प्रमुख आधारों की विवेचना कीजिए।
3. राजनीतिक समाजशास्त्र के विशिष्ट दृष्टिकोण पर प्रकाश डालिए।
4. राजनीतिक प्रणाली से क्या आशय है? भारतीय राजनीतिक प्रणाली का रेखांकन कीजिए।
5. राजनीतिक प्रणाली एवं समाज का अंतर्संबंध स्पष्ट कीजिए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

- Damodaran, K. 1967. Indian Thought: A Critical Survey. New York: Asia Publication House.
- Desai, A. R. 2005. Social Background of Indian Nationalism. Mumbai: Popular Prakashan Pvt. Ltd.
- Varma, Vishwanath Prasad. 1971. Modern Indian Political Thought. Agra: Lakshmi Narain Agarwal Publishers.
- Hans J. Morgenthau, Politics among Nations : The Struggle for Power and Peace (New York : Alfred A. Knopf, 1948).
- Hans J. Morgenthau (2nd ed.), Politics among Nations : The Struggle for Power and Peace (New York : Alfred A. Knopf, 1954).
- Kenneth N. Waltz, Theory of International Politics (Boston: Addison-Wesley Pub. Co., 1979).
- John J. Mearsheimer, The Tragedy of Great Power Politics (New York : Norton, 2001).

इकाई 2 लोकतांत्रिक एवं सर्वसत्तात्मक व्यवस्थाएं

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 लोकतांत्रिक एवं सर्वसत्तात्मक व्यवस्था का सामाजिक– आर्थिक पक्ष
  2.2.1 लोकतंत्र : अर्थ, महत्व एवं अभिकरण
  2.2.2 सर्वाधिकारवादी (सर्वसत्तात्मक) व्यवस्था
2.3 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.4 सारांश
2.5 मुख्य शब्दावली
2.6 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.7 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

प्रजातंत्र को पहले गणतंत्र कहा जाता था। प्राचीन काल में भारत में मूलतः राजनीतिक शासन पद्धति प्रचलित थी। उसके बाद अनेक प्रकार की शासन प्रणालियां प्रचलित होती रही। वर्तमान में भारत में प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली का स्वरूप ही देखा जाता है। प्राचीन यूनानी इतिहासकार हेरोडोट्स के अनुसार, "प्रजातंत्र उस शासन प्रणाली का नाम है, जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता संपूर्ण जनता में निवास करती है।" अतः वर्तमान में प्रजातंत्र शासन पद्धति का नाम ही नहीं है, एक पूर्ण जीवन दर्शन है। जब समाज के प्रत्येक क्षेत्र में स्वतंत्रता और समानता हो; जब व्यक्तियों को प्रगति के समान अवसर मिले और समाज में आर्थिक असमानता कम से कम हो तब ऐसी आदर्श संयुक्त व्यवस्था ही प्रजातांत्रिक व्यवस्था कही जाती है।

विश्व के अधिकांश देश अपने आप को प्रजातांत्रिक कहने में गौरव का अनुभव करते हैं, चाहे वह पूंजीवादी हों या साम्यवादी। प्रथम महायुद्ध के बाद से ही प्रजातंत्र विश्व के राज्यों में अधिकाधिक स्थान लेता गया है और आज शासन का तथा समाज का यह स्वरूप सर्वव्यापी बन चुका है। सामाजिक आदर्श के रूप में लोकतंत्र समस्त व्यक्तियों को समान अधिकार प्रदान करता है। प्रजातांत्रिक समाज में नस्ल, रंग, धर्म, वंश, जाति, लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता। जिस समाज में भेदभाव, छुआछूत तथा स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा निम्न समझा जाता है, ऐसे समाज को लोकतंत्रात्मक नहीं कहा जा सकता है। एक जनतंत्रात्मक समाज में यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक समानता का उपभोग करे। दार्शनिक काण्ट का कथन है कि, "इस प्रकार काम करो कि मानवता के साथ प्रत्येक मामले में चाहे वह तुम्हारे व्यक्तित्व की बात हो, अथवा दूसरों की, व्यक्ति का व्यक्तित्व सदैव एक साध्य रहे, साधन नहीं।"

इस इकाई में हम लोकतांत्रिक एवं सर्वसत्तात्मक दोनों व्यवस्थाओं का स्तरीय अध्ययन करेंगे।

टिप्पणी

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- लोकतांत्रिक व्यवस्था का स्वरूप समझ पाएंगे,
- सर्वाधिकारवादी व्यवस्था से अवगत हो पाएंगे।

2.2 लोकतांत्रिक एवं सर्वसत्तात्मक व्यवस्था का सामाजिक–आर्थिक पक्ष

लोकतंत्र एवं प्रजातंत्र समानार्थी शब्द हैं, जिनका अर्थ है– जनता की सरकार। प्रत्येक सामाजिक प्राणी को जीवन में सुखी रहने की ललक होती है। व्यक्ति के अधिकार और कर्तव्य के लिए, उसकी सुरक्षा तथा उसके कल्याण के लिए समाज में संस्थागत व्यवस्था प्रचलित रही है। सामाजिक अथवा राजनीतिक संस्थाएं चाहे जिस रूप में हों, वह नागरिकों को सामाजिक आर्थिक न्याय प्रदान करती हैं। परिणामस्वरूप नागरिकों का जीवन सुखी व सुरक्षित रहता है। प्रजातांत्रिक एवं सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाएं राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र दोनों विषयों के महत्वपूर्ण संस्थाओं व संकल्पनाओं में से प्रमुख हैं। यह दोनों अवस्थाएं परस्पर विरोधी हैं। यद्यपि दोनों अवधारणाएं विश्व के राजनीतिक पटल पर देखी जाती रही हैं। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में नागरिकों की आस्था तथा सरकार का विश्वास आज के परिवेश में अधिक लोकप्रिय है। पूर्ववर्ती समय में कुछ देशों में सर्वाधिकारवादी व्यवस्था विद्यमान रही।

2.2.1 लोकतंत्र : अर्थ, महत्व एवं अभिकरण

प्रजातांत्रिक व्यवस्था से तात्पर्य है कि राजनीति व सरकार में सभी जाति धर्म, भाषा व लिंग के लोगों को समान रूप से भाग लेने की स्वतंत्रता के साथ उन्हें सामान्य रूप से सामाजिक न्याय का अवसर मिले। इस प्रकार के मूल्यों व नियमों के संदर्भ में जो व्यवस्था परिलक्षित होती है उसे हम लोकतांत्रिक व्यवस्था कह सकते हैं।

वर्तमान में प्रजातंत्र एक महत्वपूर्ण राजनीतिक सामाजिक आदर्श व मूल्य के रूप में जाना जाता है। इसलिए इसे आज लोकतंत्र को सबसे अच्छी शासन प्रणाली के रूप में स्वीकार किया जाता है। लोकतंत्र इतना व्यापक हो चुका है कि इनके आदर्शों को सराहना हर व्यक्ति करता है। प्रजातंत्र ने शासन सत्ताओं का स्वरूप बदला है और बड़े–बड़े साम्राज्यो को ध्वस्त किया है। प्रजातंत्र का इतिहास बहुत पुराना है। प्रजातंत्र को आज संपूर्ण मानवता ने आत्मसात किया है।

प्रजातंत्र को अंग्रेजी में 'डेमोक्रेसी' कहते हैं, जो यूनानी शब्दों 'डिमोस' तथा 'क्रेटीया' का योग है। 'डिमोस' का अर्थ जनता या प्रजा तथा 'क्रेटीया' का अर्थ शासन होता है। इस प्रकार शब्दों के योग के आधार पर प्रजातंत्र का अर्थ जनता का शासन है। हिंदी में प्रजातंत्र का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है जैसे– लोकतंत्र, जनतंत्र आदि।

टिप्पणी

प्रजातंत्र की सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन कार्य है क्योंकि इस प्रणाली में अनेक व्यक्तियों का दबदबा होता है। विद्वानों ने इसे मात्र शासन प्रणाली के रूप में ही स्वीकार नहीं किया है वरन् प्रजातंत्र को जीवन की एक पद्धति के रूप में माना है। यद्यपि प्रारंभ में प्रजातंत्र को राजनीतिक पक्ष से ही संबंधित अवधारणा माना जाता रहा किंतु वर्तमान में इसे राजनीतिक पहलू तक ही सीमित नहीं माना जाता है। यह विषय सामाजिक तथा आर्थिक पक्ष से भी उतना ही महत्व रखता है जितना कि राजनैतिक पक्ष से। प्रजातंत्र का सामाजिक पक्ष व्यक्तियों को सामाजिक समानता पर बल देता है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्तियों में रंग, भाषा, जाति, नस्ल, धर्म आदि किसी भी आधार पर भेद–भाव नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार का आर्थिक पक्ष व्यक्तियों को आर्थिक सुरक्षा का वचन देता है।

इस संदर्भ में हम कह सकते हैं कि प्रजातंत्र सरकार का एक प्रकार ही नहीं बल्कि राज्य का एक रूप तथा समाज की व्यवस्था का एक–दूसरा नाम भी है। साधारण शब्दों में, प्रजातंत्र या लोकतंत्र का आशय उस व्यवस्था को है जहां पर जनता स्वयं अथवा अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा खुद अपना शासन करती है।

प्रजातंत्र की परिभाषाएं

विभिन्न विद्वानों ने प्रजातंत्र को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है–

1. अब्राहम लिंकन : "प्रजातंत्र का अर्थ जनता की, जनता के लिए और जनता द्वारा सरकार है"
2. हिरोडोटस : "प्रजातंत्र शासन का नाम है जिसमें राज्य की सर्वोच्च शक्ति संपूर्ण जनता में निवास करती है।"
3. डायसी : "प्रजातंत्र वह शासन व्यवस्था है जिसमें राष्ट्र का अधिकांश भाग शासक हो।"
4. ब्राइस : "प्रजातंत्र शासन का वह रूप है जिसमें राज–सत्ता किसी विशेष श्रेणी के लोगों को नहीं,अपितु समस्त समाज के व्यक्तियों को प्रदान की जाती है।"
5. लेविस : "प्रजातंत्र मुख्य रूप से वह सरकार है, जिसमें संपूर्ण राष्ट्र की बहुसंख्यक जनता संप्रभु–शक्ति के प्रयोग में भाग लेती है।"
6. गिडिंग्स : "प्रजातंत्र केवल एक शासन का ही नाम नहीं है, वरन् राज्य का भी एक रूप है और समाज के रूप में भी है या फिर तीनों का एक सम्मिश्रण है।"
7. ऑस्टिन : "प्रजातंत्र वह शासन है जिसमें जनता का अपेक्षाकृत बड़ा भाग शासन करता है।"

प्रजातंत्र के प्रकार

मुख्य रूप से प्रजातंत्र के दो रूप है– (i) प्रत्यक्ष प्रजातंत्र, और (ii) अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र।

प्रत्यक्ष प्रजातंत्र उस व्यवस्था को कहते हैं जहां पर लोग स्वयं अपना शासन करते हैं तथा स्वयं अपने लिए नियम– कानून बनाते हैं। अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र वह व्यवस्था

टिप्पणी

है जिसमें लोग स्वयं शासन में भाग न लेकर अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा शासन करते हैं।

अ. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र

प्रजातंत्र के इस रूप का दर्शन हमें प्राचीन समय में भारत, चीन,यूनान तथा रोम में देखने को मिलता था। वर्तमान में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र लगभग समाप्त है। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र वहां संभव होता है जहां जनसंख्या तथा आकार की दृष्टि से छोटे–छोटे राज्य हो। आज स्विजरलैंड के कुछ क्षेत्रों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र के उदाहरण देखने को मिलते हैं। अधिकांश वर्तमान विश्व में विशाल राज्य के अभ्युदय के कारण प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की उम्मीद नहीं की जा सकती है।

प्रत्यक्ष प्रजातंत्र शासन का वह रूप है जहां संपूर्ण जनता स्वयं शासन का संचालन करती है। इसमें उस क्षेत्र के संपूर्ण जनता एक सभा में एकत्र होकर अपने कानून व उसमें परिवर्तन आदि की चर्चा करती है। जनता के इस निर्णय को सरकार को मानना पड़ता है। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के रूप निम्नलिखित हैं–

1. **लोकसभाएं** – यह पद्धति स्विजरलैंड में प्रचलित है। इसके अनुसार वहां की जनता प्रत्येक वर्ष आम सभा करती है और उसी सभा में शासन– कार्यों पर विचार कर विधि का निर्माण करती है। यही आम सभा विधि को लागू करने के लिए कार्यपालिका का चुनाव करती है। न्याय के स्थापना के हेतु न्यायपालिका का निर्वाचन भी वह स्वयं ही करती है। या आम सभा अपने वार्षिक बजट को भी पास करती है।

2. **जनमत संग्रह** – प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की दूसरी विधि जनमत संग्रह है। स्विट्जरलैंड में इस विधि को देखा जाता है। जनमत संग्रह का अर्थ है, जनता की राय प्राप्त करना। विधानमंडल जब कोई कानून बनाना चाहता है यह संविधान में संशोधन लाना चाहता है तब उस विषय को जनता के समक्ष रखकर जनमत लेने के बाद ही वह ऐसा कर सकता है इस प्रकार जनमत संग्रह के आधार पर जनता प्रत्यक्ष रूप से विधि निर्माण में भाग लेती है। जनता का बहुमत प्राप्त होने पर ही विधानमंडल के प्रस्ताव कानून के रूप में ग्रहण करते हैं। केंद्रीय कानूनों पर जनमत संग्रह ऐच्छिक होता है। कुछ कैंटिनो में कैंटन के कानूनों पर जनमत संग्रह अनिवार्य माना गया है तथा अन्य कैंटन में ऐच्छिक।

3. **आरम्भक** – आरम्भक का अभिप्राय यह है कि शासन संबंधी मामलों में पहल करने का अधिकार नागरिकों को प्राप्त होना। आरम्भक वह तरीका है जिसके अनुसार मतदाताओं की एक निश्चित संख्या आरंभ कर सकती है। यह जनता का अधिकार है जिसके द्वारा एक निश्चित जनसंख्या विधान परिषद को किसी विषय पर कानून बनाने के लिए बाध्य कर सकती है। स्विजरलैंड का केंद्रीय सरकार के लिए आरम्भक की व्यवस्था केवल संशोधन संबंधित प्रस्ताव सीमित है जबकि कैंटनों कानून संबंधी आरंभक की व्यवस्था की गई है।

टिप्पणी

4. **प्रत्यावर्तन** – प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का यह चौथा और सर्वोत्तम रूप है। प्रत्यावर्तन का अर्थ, परिवर्तन से है अर्थात किसी विधायिका के सदस्यों को बदलना 'रिकॉल' कहलाता है। इससे जनता को अपने द्वारा विधानमंडल में भेजे गए प्रतिनिधि को वापस बुलाने या पदच्युत करने का अधिकार होता है। जब कभी भी निर्वाचक किया महसूस करें कि उनके द्वारा व्यवस्थापिका में भेजा गया प्रतिनिधि उनकी इच्छाओं का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं कर पा रहा है तो उन निर्वाचको को अपने प्रतिनिधि को वापस बुलाने के अधिकार को प्रत्यावर्तन कहा जाता है। साम्यवादी देश रूस और चीन में भी प्रत्यावर्तन की व्यवस्था है।

ब. अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र

वर्तमान में प्रायः सभी देशों में अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र की प्रथा प्रचलित है। लोकतंत्र का दूसरा महत्वपूर्ण रूप अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र है। इस शासन प्रणाली में जनता सीधे सरकार में सम्मिलित ना होकर अपने द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन कराती है। इसलिए ऐसे लोकतंत्र को प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र कहते हैं। अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र के विभिन्न रूप होते हैं, जो निम्नलिखित हैं :–

1. **संसदीय या मंत्रिमण्डलात्मक** – इस प्रणाली में वास्तविक शासन–सत्ता संसद या मंत्रिमण्डल में निवास करती है, जिसमें जनता के चुने हुए प्रतिनिधि ही रहते हैं। उदाहरणार्थ, भारत की संसद या मंत्रिपरिषद्।
2. **अध्यक्षात्मक** – इस प्रणाली में शासन राष्ट्राध्यक्ष या राष्ट्रपति में निवास करता है जो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। जैसे अमेरिका का राष्ट्रपति।
3. **संघात्मक** – इस प्रणाली शासन शक्ति का विभाजन केन्द्र और विभिन्न राज्यों या इकाइयों के बीच होता है। उदाहरणार्थ, के लिए भारतीय संघ में अनेक राज्य और इकाइयां हैं, जिनके शासनाधिकारों को संघ–सूची, राज्य–सूची और समवर्ती सूची में विभाजित किया गया है।
4. **एकात्मक** – यह ऐसी शासन–प्रणाली है जिसमें शासन–शक्ति केवल केन्द्र में निवास करती है। यहां विभिन्न इकाइयों और राज्यों को अलग से कोई अधिकार नहीं दिया गया है। उदाहरणार्थ, इंग्लैड की शासन–प्रणाली।

2.2.2 सर्वाधिकारवादी (सर्वसत्तात्मक) व्यवस्था

प्रो. सेबाइन ने अपनी पुस्तक "ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी" में सर्वाधिकारवाद के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "सर्वाधिकारवाद के सिद्धांत के अनुसार शासन न केवल सत्ता के प्रयोग में निरंकुश वरन् असीमित भी होता है। कोई भी वस्तु उसके क्षेत्र के बाहर नहीं होती। प्रत्येक हित और वस्तु राष्ट्रीय साधनों के प्रत्येक अंग–आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक पर शासन का नियंत्रण होता है और उसी के द्वारा उसका प्रयोग किया जाता है।"

इस व्यवस्था में जीवन के सभी क्षेत्रों में राज्य को पूर्ण अधिकार देने के कारण ही इसे सर्वाधिकारवादी विचारधारा कहा जाता है। इसे सर्वाधिकारवादी प्रजातंत्र और उदारवादी विचारधारा भी कहा जाता है। सर्वाधिकारवाद प्रजातंत्र और उदारवादी

टिप्पणी

विचारधारा के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया है, जो व्यक्ति को गौण और राज्य को प्रधान सत्ता मानती है।

प्रत्येक देश की व्यवस्था उस देश की शासन प्रणाली के क्षरा निर्धारित होती है। अर्थात् शासन पद्धतियों के अनुरूप सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि व्यवस्थाएं नए सिरे से प्रस्थापित होती है। सर्वाधिकारवादी व्यवस्था शासन की प्रणालियों में से एक है। इस व्यवस्था में समाज के नागरिकों के संपूर्ण दायित्व का निर्वहन राज सत्ता के द्वारा होता है। सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में संपूर्ण सत्ता राज्य के पास केन्द्रित होती है तथा राज्य सारे अधिकार अपने पास सुरक्षित रखता है।

सर्वाधिकारवाद के स्वरूप

विद्वानों ने सर्वाधिकारवादी व्यवस्था को दो स्वरूपों में विभाजित किया हैं – (1) वामपक्षीय सर्वाधिकारवादी राज्य तथा (2) दक्षिण पक्षीय सर्वाधिकवादी राज्य।

वामपक्षीय सर्वाधिकारवादी राज्य वे राज्य है जो साम्यवादी व्यवस्था को पसन्द करते हें साम्यवादी देश ही वामपक्षीय कहे जाते हैं, जिनमें सोवियत रूस, चीन और पूर्वी यूरोप के दूसरे राज्य सम्मिलित हैं। साम्यवादी या वामपक्षीय विचाराधारी पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त कर उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग (श्रमिक के राज्य) के अधिनायकत्व को महत्व प्रदान करता है। इस व्यवस्था में व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार और व्यवस्था का विरोध किया जाता है। इस विरोध के कारण ही इसे 'वामपक्षीय सर्वाधिकारवादी' कहा जाता है।

दक्षिण पक्षीय सर्वाधिकारवादी राज्य के अंतर्गत इली, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल, हंगरी आदि देशों को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार के राज्यों को तथा उस राज्य की विचारधारा को फासिस्ट सर्वाधिकारवाद के नाम से भी जाना जाता है। 'दक्षिण पक्षीय सर्वाधिकारवादी' विचार को मानने वाले देश समाज की पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त नहीं चाहते वरन् यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं। उल्लेखनीय है कि फासीवाद और नाजीवाद दोनों ही व्यवस्थाएं दक्षिण पक्षीय सर्वाधिकारवादी विचाराधाराएं हैं।

उपरोक्त दोनों प्रकार की विचारधाराओं में सर्वाधिकारवाद के दो रूप हैं, किन्तु व्यवहार में सर्वाधिकारवाद का असली रूप फासिस्ट सर्वाधिकारवाद (दक्षिण पक्षीय सर्वाधिकारवाद) ही हैं। इस प्रकार, सर्वाधिकारवाद विभिन्न देशों में विभिन्न रूप धारण करता है। इसने रूस में साम्यवाद, इटली में फासिस्टवाद और जर्मनी में नाजीवाद का रूप धारण किया है। साइबर्ग ने कहा है कि "नाजीवाद के आविर्भाव से जर्मनी में कोई मनुष्य नहीं रह गया है, वहां अब केवल जर्मन हैं। जो कोई जर्मनी में, जर्मनी के साथ और जर्मनी के माध्यम से रहना चाहता है, उसे अपने को राष्ट्र के अधीन करना होगा और उसे अपने को सर्वाधिकारवादी राज्य के अनुकूल बनाना होगा।" इसी प्रकार सर्वाधिकारवाद के संबन्ध में अमेरिका की वैदेशिक नीति परिषद् ने कहा है कि फासिस्टवाद ने आधुनिक लोकतंत्रीय के अर्थ के सम्बन्ध में कहा गया हैं कि सर्वाधिकारवादी राज्य वह राज्य है जिसमें एक ऐसी सम्प्रभुता हो जो देश की समस्त शक्तियों को अपने अधीन रखे तथा राज्य को ईश्वर के समान स्वीकार किया जाता है।

सर्वाधिकारवादी व्यवस्था के लक्षण

टिप्पणी

सर्वाधिकारवादी व्यवस्था के कुछ ऐसे लक्षण हैं जो सभी सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं में सामान्य रूप से विद्यमान होते हैं। इन सामान्य लक्षणों व विशेषताओं की विवेचना निम्नलिखित है–

1. **पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य में विश्वास** – यह व्यवस्था हीगलवादी दर्शन के अनुरूप अपने को मानती है। जिस प्रकार हीगलवादी 'राज्य को पृथ्वी पर साक्षात् आगमन' कहते हैं उसी प्रकार सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में राज्य को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी तथा सर्वगुण सम्पन्न होना स्वीकार किया जाता हैं सर्वाधिकारी मानते है कि राज्य से कोई भी त्रुटि या भूल नहीं हो सकती है। इस व्यवस्था में रेडियो, टेलीविजन सिनेमा, समाचार पत्रों, साहित्यों आदि पर राज्य द्वारा नियंत्रण स्थापित रहता है। कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार के संघ या समिति का निर्माण नहीं कर सकता है। कुल मिलाकर सर्वाधिकारवादी प्रभुत्वशाली राज्य में विश्वास करते हैं।

2. **प्रजातंत्र के विरूद्ध व्यवस्था** – सर्वाधिकारवाद प्रजातंत्र के लिए अभिशाप है। सर्वाधिकारवादी प्रजातंत्र को 'सड़ती हुई लाश' की संज्ञा देते हैं। सर्वाधिकारवादी कहते हैं कि प्रजातंत्रिक प्रणाली मात्र एक दिखावा है तथा यह भी स्वीकार करते हैं कि दुनिया में अभी प्रजातंत्र के लिए आदमी ही तैयार नहीं हो पाए हैं। प्रजातंत्र में जहां मूर्खों, अयोग्य व्यक्तियों तथा निष्क्रिय व्यक्तियों का जमावड़ा होता है जिससे देश को भारी हानि उठानी पड़ती है। खासतौर से युद्ध तथा संकट के समय में तो प्रजातंत्र बिल्कुल निष्क्रिय तंत्र के रूप में ही रह जाता हैं।

3. **बुद्धि और विवेक का तिरस्कार** – सर्वाधिकारवादी राज्य में बुद्धि–विवेक का तिरस्कार किया जाता है तथा व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को महत्व प्रदान किया जाता है। स्वाभाविक प्रवृत्ति और इच्छा को बुद्धि विवेक से अधिक महत्व दिया जाता है। यह व्यवस्था यह मानकर चलती है कि मनुष्य व राज्य के विकास में तर्कशीलता व बुद्धि की अपेक्षा उसकी प्रवृत्तियों और अंतःप्रेरणाओं का अत्यधिक महत्व होता है। इन्ही प्रेरणाओं व स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार राज्य व व्यक्ति को कार्य करना चाहिए। इस व्यवस्था को इसीलिए 'बुद्धि विरोधी दर्शन' भी कहा जाता है।

4. **राष्ट्र को अत्यधिक गौरव प्रदान करना** – सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में राष्ट्र की पूजा करना, राष्ट्र का गुनगान करना तथा राष्ट्र के गौरव को बढ़ाना सर्वाधिकारवादी व्यवस्था की प्रमुख विशेषता रही है। राष्ट्रवाद की भावना ने ही साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को विकसित होने में मदद की है। संकीर्ण राष्ट्रीयता, अंध देशप्रेम, आक्रमणमूलक युद्ध और साम्राज्यवादी विस्तार, फासिस्टवाद और नाजीवाद दोनों कुछ मौलिक विशेषताएं थीं। यह सोवियत रूप, मुसोलनी की इटली, हिटलर की जर्मनी को हम सर्वाधिकारी राष्ट्र कह सकते हैं।

5. **नैतिक सिद्धान्तों और मूल्यों में अनास्था** – सर्वाधिकारी राज्य उदारवाद और मानवतावाद में विश्वास नहीं करता। जर्मनी में जातीय द्वेष और घृणा की

टिप्पणी

भावनाओं को बहुत उभारा गया था। सर्वाधिकारवादियों की दृष्टि से राजनीति में कोई नैतिक सिद्धान्त नहीं होने वाला है। अतः देश की तरक्की के लिए नैतिकता और मूल्यों से हटकर भी कार्य करना अपराध नहीं है।

6. **व्यक्तिगत स्वतंत्रता महत्वहीन** – सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में सोचने–समझने, भाषण देने और लिखने की स्वतंत्रता नहीं होती। समाचार–पत्रों पर, पुस्तकों के प्रकाशन पर, रेडियों, टेलीविजन, सिनेमा, उद्योग, संगीत और कला पर बहुत बड़ा नियंत्रण रखा जाता है। सभा करने या संघ बनाने की स्वतंत्रता नहीं होती। अतः सर्वाधिकारी राज्य वैयक्तिक स्वाधीनता को कुचल देता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता जैसी कोई चीज नहीं होती है।

7. **राज्य धर्म का प्रतिद्वंद्वी** – सर्वाधिकारवादी राज्य सर्वाधिकारवादी धर्म का शत्रु था। ज.ए. स्पेडर ने लिखा था – "रूस ने धर्म को समाप्त करने की कोशिश की है। मुसोलनी ने उसे निष्क्रिय और निष्प्राण बनाने की चेष्टा की पर हिटलर ने इसे अपने अधीन बनाने का यत्न किया।" साम्यवादी पहले से ही धर्म को अपने धर्म को अफीम की गोली कहते रहे हैं, किंतु फासिस्टवाद और नाजीवाद ने तो धर्म को राज्य के उद्देश्य सिद्धि का साधन बना लिया था। यही कारण था कि हिटलर को नया त्राता माना जाता था। उन्हें धरती पर मसीहा और ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था।

8. **राज्य द्वारा अपने को आर्थिक तौर पर स्वावलंबी बनाने का प्रयास** – इटली और जर्मनी दोनों ही कच्चा माल पाने के लिए अपनी बनाई हुई वस्तुओं की बिक्री के लिए उपनिवेश चाहते थे। इन दोनों सर्वाधिकारवादी राष्ट्रों की आर्थिक नीति यह थी कि युद्ध संचालन में काम आने वाले पदार्थों के लिए उन्हें विदेशों पर यथासंभव कम से कम निर्भर रहना पड़े। इसी के कारण जर्मनी ने कृत्रिम ऊन, रबड़ और रूई का अधिक मात्रा में निर्माण किया।

9. **युद्ध को अत्यधिक महत्व** – सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में युद्ध का खुलेआम प्रचार किया जाता है। सर्वाधिकारवादी राज्य सैनिकवादी होते हैं और भूखे रहकर भी शस्त्रीकरण पर अत्यधिक धन व्यय करने के लिए उत्सुक रहते हैं। हिटलर विजयी तलवार की शक्ति में विश्वास करता था। लार्ड बर्कनहेड ने इस संबंध में लिखा है कि "संसार उन्हीं की भूरि–भूरि प्रशंसा करता है और उन्हीं को पुरस्कार देता है जिनकी तलवार की धार तेज होती है।" इटली में जब कोई व्यक्ति फासिस्ट पार्टी में शामिल होता था, तब वह यह शपथ लेता था–

"परमेश्वर और इटली के नाम पर मैं शपथ लेता हूँ कि मैं ड्यूस (मुसोलिनी) के आदेशों का पालन बिना किसी प्रकार के तर्क–वितर्क के किया करूँगा और अपनी समूची शक्ति से तथा आवश्यकता पड़ने पर अपना रक्त देकर भी फासिस्ट क्रांति का लक्ष्य प्राप्त करूँगा।" अतः फासिस्टवादियों के अनुसार युद्ध अनिवार्य था।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. जनता की, जनता के लिए और जनता के द्वारा सरकार : लोकतंत्र की यह परिभाषा किसने दी है?

   (क) ब्राइस (ख) लेविस

   (ग) लिंकन (घ) डायसी

2. सर्वसत्तात्मक व्यवस्था का एक स्वरूप वामपक्षीय है, दूसरा स्वरूप क्या है?

   (क) उत्तरपक्षीय (ख) पूर्वपक्षीय

   (ग) दक्षिणपक्षीय (घ) सर्वपक्षीय

2.3 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ग)

2.4 सारांश

प्रजातांत्रिक एवं सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाएं राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र दोनों विषयों की महत्वपूर्ण संस्थाओं व संकल्पनाओं में से प्रमुख हैं। यह दोनों अवस्थाएं परस्पर विरोधी हैं। यद्यपि दोनों अवधारणाएं विश्व के राजनीतिक पटल पर देखी जाती रही हैं। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में नागरिकों की आस्था तथा सरकार का विश्वास आज के परिवेश में अधिक लोकप्रिय है।

प्रारंभ में प्रजातंत्र को राजनीतिक पक्ष से ही संबंधित अवधारणा माना जाता रहा किंतु वर्तमान में इसे राजनीतिक पहलू तक ही सीमित नहीं माना जाता है। यह सामाजिक तथा आर्थिक पक्ष से भी उतना ही महत्व रखता है जितना कि राजनैतिक पक्ष से। प्रजातंत्र का सामाजिक पक्ष व्यक्तियों को सामाजिक समानता पर बल देता है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्तियों में रंग, भाषा, जाति, नस्ल, धर्म आदि किसी भी आधार पर भेद–भाव नहीं होना चाहिए।

सर्वाधिकारवाद के सिद्धांत के अनुसार शासन न केवल सत्ता के प्रयोग में निरंकुश वरन् असीमित भी होता है। कोई भी वस्तु उसके क्षेत्र के बाहर नहीं होती। प्रत्येक हित और वस्तु राष्ट्रीय साधनों के प्रत्येक अंग–आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक पर शासन का नियंत्रण होता है और उसी के क्षरा उसका प्रयोग किया जाता है।" इस व्यवस्था में जीवन के सभी क्षेत्रों में राज्य को पूर्ण अधिकार देने के कारण ही इसे सर्वाधिकारवादी विचारधारा कहा जाता है। इसे सर्वाधिकारवादी प्रजातंत्र और उदारवादी विचारधारा भी कहा जाता है।

सर्वाधिकारवाद के दो रूप हैं, किन्तु व्यवहार में सर्वाधिकारवाद का असली रूप फासिस्ट सर्वाधिकारवाद (दक्षिण पक्षीय सर्वाधिकारवाद) ही हैं। इस प्रकार, सर्वाधिकारवाद

टिप्पणी

विभिन्न देशों में विभिन्न रूप धारण करता है। इसने रूस में साम्यवाद, इटली में फासिस्टवाद और जर्मनी में नाजीवाद का रूप धारण किया हैं। साइबर्ग ने कहा है कि "नाजीवाद के आविर्भाव से जर्मन में कोई मनुष्य नहीं रह गया है, वहां अब केवल जर्मन हैं जो कोई जर्मनी में, जर्मनी के साथ और जर्मनी के माध्यम से रहना चाहता है, उसे अपने को राष्ट्र के अधीन करना होगा और उसे अपने को सर्वाधिकारवादी राज्य के अनुकूल बनाना होगा।"

2.5 मुख्य शब्दावली

- **प्रजातंत्र** – जनता का तंत्र (प्रबंध)
- **अप्रत्यक्ष** – जो दिखाई न दे।
- **अभ्युदय** – उदय, उत्पन्न होना
- **जनमत** – जनता का मत
- **थ्योरी** – सिद्धांत
- **निर्वहन** – निर्वाह करना
- **यथास्थिति** – पहले जैसी स्थिति (पूर्ववत्)

2.6 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. लोकतंत्र से क्या आशय है?
2. दो प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा प्रदत्त लोकतंत्र की परिभाषा बताइए।
3. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र क्या होता है?
4. सर्वसत्तात्मक व्यवस्था को सर्वाधिकारवादी प्रजातंत्र क्यों कहा जाता है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. लोकतंत्र को परिभाषित करते हुए इसके स्वरूपों का विश्लेषण कीजिए।
2. सर्वसत्तात्मक व्यवस्था की अर्थवत्ता स्पष्ट करते हुए इसके दोनों स्वरूपों का परिचय दीजिए।
3. सर्वसत्तात्मक व्यवस्था के लक्षणों की विवेचना कीजिए।
4. राजनीतिक प्रणाली से क्या आशय है? भारतीय राजनीतिक प्रणाली का रेखांकन कीजिए।
5. राजनीतिक प्रणाली एवं समाज का अंतर्संबंध स्पष्ट कीजिए।

टिप्पणी

2.7 सहायक पाठ्य सामग्री

- Damodaran, K. 1967. Indian Thought: A Critical Survey. New York: Asia Publication House.
- Desai, A. R. 2005. Social Background of Indian Nationalism. Mumbai: Popular Prakashan Pvt. Ltd.
- Varma, Vishwanath Prasad. 1971. Modern Indian Political Thought. Agra: Lakshmi Narain Agarwal Publishers.
- Hans J. Morgenthau, Politics among Nations : The Struggle for Power and Peace (New York : Alfred A. Knopf, 1948).
- Hans J. Morgenthau (2nd ed.), Politics among Nations : The Struggle for Power and Peace (New York : Alfred A. Knopf, 1954).
- Kenneth N. Waltz, Theory of International Politics (Boston: Addison-Wesley Pub. Co., 1979).
- John J. Mearsheimer, The Tragedy of Great Power Politics (New York : Norton, 2001).

इकाई 3 समाज में शक्ति–वितरण के कुलीन सिद्धांत

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 शक्ति–वितरण के सिद्धांत (मोस्का, परेटो, आर. मिशेल, सी.डब्ल्यू. मिल्स आदि)
  3.2.1 मोस्का की अवधारणा
  3.2.2 परेटो की अवधारणा
  3.2.3 रॉबर्ट मिशेल की अवधारणा
  3.2.4 सी.डब्ल्यू. मिल्स की अवधारणा
3.3 बुद्धिजीवी / बुद्धिजीवियों की राजनैतिक भूमिका एवं महत्ता
  3.3.1 राष्ट्र – निर्माण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता
  3.3.2 राजनीतिक संस्कृति निर्माण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता
  3.3.3 राजनीति के स्वरूप निर्माण–निरूपण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता
  3.3.4 राजनीतिक सहभागिता के अभिप्रेरण के रूप में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता
  3.3.5 मतदान व्यवहार के निर्माण–नियमन–निरूपण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता
  3.3.6 सामाजिक आंदोलनों के स्वरूप व लक्ष्य निर्धारण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता
3.4 दबाव समूह एवं हित समूह : प्रकृति, आधार, राजनीतिक महत्व
  3.4.1 दबाव समूह
  3.4.2 हित समूह
3.5 नौकरशाही : अर्थ, विशिष्टताएं एवं स्वरूप; भारत के संदर्भ में राजनीतिक विकास संबंधी महत्ता
  3.5.1 नौकरशाही : अर्थवत्ता, विशिष्टताएं एवं स्वरूप
  3.5.2 नौकरशाही के गुण–दोष
  3.5.3 नौकरशाही की महत्तापरक भूमिका एवं इसके उपागम
3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.7 सारांश
3.8 मुख्य शब्दावली
3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

17वीं शताब्दी में संभ्रांतजन शब्द का प्रयोग विशेष एवं सबसे उत्तम वस्तुओं अथवा इनके गुणों के लिए किया जाता था। इस अर्थ में यह शब्द वज्र क्रैक सैनिक दस्तों अथवा अभिजात वर्ग जैसे उच्च स्तर के व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता था। ऑक्सफोर्ड इंग्लिश शब्दकोश में इस शब्द को प्रथमतः 1823 में सम्मिलित किया गया तथा इसको सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित किया गया। 19वीं शताब्दी अंत तक इस शब्द का प्रयोग सामाजिक एवं राजनीतिक लेखों में व्यापक रूप से नहीं हुआ था। बीसवीं शताब्दी में द्वितीय युद्ध के पश्चात पश्चिमी देशों एवं अमेरिका में संभ्रांतजन का संप्रत्य एवं इसके सिद्धांत काफी लोकप्रिय हुए तथा तभी से यह संप्रत्य व्यापक रूप से सामाजिक विज्ञान में प्रयुक्त किया जाने लगा।

विलफ्रेडो परेटो ने संभ्रांतजन की परिभाषा अत्यंत सरल शब्दों में दी है। इनके अनुसार, प्रत्येक विशिष्ट मानवीय क्रिया (यथा न्यायालय, व्यापार, कला, राजनीति

टिप्पणी

आदि) में अगर हम व्यक्तियों की गतिविधि (धंधे) के क्षेत्र के सूचकों के अंक दें तो जो व्यक्ति सर्वोच्च अंक प्राप्त करते हैं; उन्हें संभ्रांतजन कहा जाता है। अन्य शब्दों में, संभ्रांतजनों में उन सभी सफल व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जो प्रत्येक गतिविधि में और समाज के प्रत्येक स्तर पर सर्वोच्च होते हैं। अर्थात जिन व्यक्तियों को किसी विशिष्ट मानवीय गतिविधि के क्षेत्र में सर्वोच्च अंक मिले, यदि उनका एक वर्ग बनाया जाए तो उस वर्ग को सम्भ्रांत वर्ग का नाम दे सकते हैं।

परेटो की यह भी मान्यता थी कि विभिन्न गतिविधियों एवं सामाजिक स्तरों पर पाए जाने वाले संभ्रांतजन प्रायः समाज के एक ही वर्ग में आते हैं। उदारहाणार्थ जो अमीर हैं वही बुद्धिमान हैं और उन्हीं में गणित शास्त्र को समझने, संगीत में पारंगत होने तथा उच्च नैतिक चरित्र रखने की क्षमता पाई जाती है। इन्होंने संभ्रांतजनों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है :– (1) शासक संभ्रांतजन (जिनका शासन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से महत्वपूर्ण स्थान है), तथा (2) शासकेत्तर या गैर–शासन संभ्रांतजन (जिनका समाज के अन्य क्षेत्रों, यथा सेना, व्यापारिक क्षेत्रों या धार्मिक संगठनों में सर्वोच्च स्थान होता है)। शासक संभ्रांतजन बल प्रयोग एवं चालाकी के आधार पर शासन करता है। इनके अध्ययन का केंद्र शासक संभ्रांतजन ही थे।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि संभ्रांतजन कि कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है तथा सामान्यताः संभ्रांतजनों में उन व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जो सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अन्य व्यक्तियों अर्थात जनसाधारण की अपेक्षा उच्च स्थिति रखते हैं। इस विवेचन से हमें ये भी पता चलता है कि संभ्रांतजन विविध प्रकार के हैं जैसे कि शासक वर्ग, शक्तिशाली संभ्रांतजन, बुद्धिजीवी वर्ग, प्रबंधक, नौकरशाह तथा सैनिक अधिकारी इत्यादि।

इस इकाई में हम समाज में शक्ति वितरण के कुलीन सिद्धांत का विश्लेषण करेंगे।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- समाज में शक्ति वितरण के सिद्धांत संबंधी विविध विचारकों के मत समझ पाएंगे,
- बुद्धिजीवियों की राजनीतिक भूमिका से परिचित हो पाएंगे,
- दबाव समूह एवं हित समूह की विवेचना कर पाएंगे,
- नौकरशाही के विविध पक्षों से अवगत हो पाएंगे।

3.2 शक्ति–वितरण के सिद्धांत (मोस्का, परेटो, आर. मिशेल, सी.डब्ल्यू. मिल्स आदि)

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति केवल कुछ लोगों अथवा अल्पसंख्यक समूह में ही केंद्रित होती है। यह किस प्रकार से होता है? राजनीतिक समाजशास्त्र में इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने के प्रयासों के परिणाम स्वरूप ही संभ्रांतजन (जिसे अभिजन या श्रेष्ठ जन अथवा कुलीन भी कहते हैं) संबंधित सिद्धांतों का विकास हुआ है। कुलीन सिद्धांत इस तथ्य पर आधारित है कि प्रत्येक समाज में मोटे तौर पर दो भिन्न प्रकार

टिप्पणी

के वर्ग पाए जाते हैं– (1) थोड़े से अल्पसंख्यक लोगों का वर्ग जो अपनी क्षमता के आधार पर समाज को सर्वोच्च नेतृत्व प्रदान करता है तथा शासन करता है, तथा (2) जन समूह असंख्य साधारण जनों का वर्ग, जिसके भाग में शासित होना लिखा जाता है। प्रथम वर्ग को संभ्रांतजन या संभ्रांत वर्ग तथा दूसरे जनसमूह कहा जाता है।

संभ्रांतजन के संप्रत्यय को पहले केवल राजनीतिक दृष्टि से ही देखा जाता था तथा केवल शासक वर्ग एवं शक्तिशाली संभ्रांतजनों की ओर ही ध्यान दिया जाता था परंतु आज ऐसा नहीं है। आज संभ्रांतजनों को शक्तिशाली संभ्रांत वर्ग, पूंजीपति वर्ग, सैनिक संभ्रांतजन, शासक वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग, नौकरशाहों तथा प्रबंधकों को भी सम्मिलित किया जाता है। शक्ति के असमान वितरण के अतिरिक्त सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययनों ने भी संभ्रांतजन सिद्धांतों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आज संभ्रांतजन का संप्रत्यय राजनीतिक शास्त्र, समाजशास्त्र एवं राजनीतिक समाजशास्त्र में एक मौलिक संप्रत्यय माना जाता है। यह संप्रत्यय सामाजिक–राजनीतिक यथार्थ को समझने में काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि प्रत्येक समाज में किसी न किसी प्रकार का सामाजिक राजनीतिक आर्थिक संस्तरण पाया जाता है।

टी.बी. बॉटोमोर ने उपर्युक्त विद्वानों के विचारों से इस आधार पर असहमति प्रकट की है कि उन्होंने संभ्रांतजन के सिद्धांत में निहित विचारधारा की ओर से कोई ध्यान नहीं दिया है। इनका विचार है कि संभ्रांतजन संप्रत्यय प्रजातंत्र के महत्व के विरोध में विकसित हुआ है। इनके अनुसार, आज संभ्रांतजन शब्द का प्रयोग आमतौर पर वस्तुतः प्रकार्यात्मक, मुख्यतः व्यावसायिक समूह के लिए किया जाने लगा है जिनको समाज में (किसी भी कारणवश) उच्च स्थान प्राप्त है। इनके विचारों में, अधिक नवीन काल के समाजशास्त्रियों ने संभ्रांतजन शब्द का प्रयोग अधिक छोटे व अधिक संगठित समूह के लिए किया है जो कम अथवा अधिक रूप से पारस्परिक रूप से संपृक्त सामाजिक वर्गों से संबंधित हो सकते हैं। इनके विचार में रेमण्ड एरन ही एकमात्र ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने संभ्रांत वर्ग एवं सामाजिक वर्ग में संबंध का अध्ययन किया है तथा यह बताने की चेष्टा की है कि वर्गों के उन्मूलन (उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व को समाप्त करने के अर्थ में) से सामाजिक स्तरीकरण, संभ्रांतजनों का निर्माण एवं राजनीतिक सत्ता की विषमताओं की समस्या का समाधान नहीं होगा अन्य शब्दों में, संभ्रांतजनों के अस्तित्व प्रत्येक प्रकार के समाज एवं राजनीतिक व्यवस्था में बना रहेगा।

3.2.1 मोस्का की अवधारणा

मोस्का ने परेटो के संभ्रांतजन सिद्धांत (जो मुख्यतया सामाजिक – मनोवैज्ञानिक है) को एक राजनीति शास्त्र की दृष्टि से और अधिक विकसित करने का प्रयास किया है तथा शासक वर्ग को अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है। इन्होंने संभ्रांतजन और जन–समूह में विधिवत भेद करके राजनीति के एक नवीन विज्ञान की रचना करने का भी प्रयास किया है।

मोस्का के अनुसार सभी प्रकार के राजनीतिक संगठनों अथवा शासन में एक तत्व ऐसा है जिसे हम विहंगम दृष्टि डालने पर भी देख सकते हैं। यह तत्व है प्रत्येक समाज का वर्गों में विभाजन – प्रथम शासक वर्ग अर्थात जो शासन करता है तथा, द्वितीय शासित वर्ग अर्थात् जिस पर शासन किया जाता है।

टिप्पणी

मोस्का के अनुसार, संभ्रांतजन (जिसे वे शासक वर्ग कहते हैं) तथा जन–समूह में निम्नांकित तीन प्रमुख भेद पाए जाते हैं–

1. शासक वर्ग के लोगों की संख्या कम होती है अर्थात या अल्पसंख्यक हैं, जबकि शासित वर्ग बहुसंख्यक हैं।
2. सभी राजनीतिक कार्यों का निष्पादन शासक वर्ग द्वारा होता है ना कि शासित वर्ग द्वारा तथा
3. शासक वर्ग के हाथों में सारी सत्ता केंद्रित होता है तथा यही वर्ग सत्ता के लाभों का रस लेता है, जबकि इसके विपरीत शासित–वर्ग शासक वर्ग द्वारा निर्देशित और नियंत्रित होता है।

मोस्का ने भी शासक वर्ग तथा जन–समूह में भेद करने के अतिरिक्त यह बताने का भी प्रयास किया है कि शासक वर्ग के पास शक्ति कहां से आती है अर्थात वर्ग जन–समूह पर शासन कैसे करता है। सार्थक वर्ग की शक्ति प्रमुख स्रोत इसका संगठित होना तथा सामर्थ की दृष्टि से अन्य लोगों से श्रेष्ठ होना है। शासक वर्ग इसलिए संगठित है क्योंकि वह अल्पसंख्यक है और साथ ही श्रेष्ठ भी है। मोस्का के शब्दों मेंए 'अल्पसंख्यक शासक वर्ग के सदस्यों में कोई न कोई गुण ऐसा आवश्यक होता है जो उनके समाज में बहुत प्रतिष्ठित अथवा बहुत प्रभावशाली होता है भले ही वह गुण यथार्थ हो अथवा केवल दिखावा मात्र।'

मोस्का ने भी परेटो के समान संभ्रांतजनों के परिचालन की व्याख्या प्रस्तुत की है। इसका आधार मनोवैज्ञानिक न होकर सामाजिक है। इनके शब्दों में, यदि समाज में संपत्ति का कोई नवीन स्रोत उभर आता है अथवा ज्ञान का व्यवहारिक महत्व बढ़ जाता है किसी पुराने धर्म का विनाश हो जाता है और नए का विकास हो जाता है अथवा यदि समाज में कोई नवीन विचारधारा फैल जाती है तब उसके साथ ही शासक वर्ग में दूरगामी असामंजस्य पैदा हो जाता है। निम्नतर स्तर के अंतर्गत एक निर्देशक अल्पसंख्यक वर्ग विकसित हो जाता है जो शासक वर्ग के साथ वैध शासन की सत्ता संभालने के लिए संघर्ष करता है अतः मोस्का ने भी परेटो के समान संभ्रांतजनों के परिचालन की व्याख्या निम्नतर स्तर से आये संभ्रांतजनों तथा स्वयं संभ्रांतजनों में परस्पर संघर्ष द्वारा की है। मोस्का द्वारा मनोवैज्ञानिक लक्षणों को महत्व न देने का कारण उनकी यही मान्यता थी कि व्यक्तिगत गुणों की उत्पत्ति सामाजिक गुणों के आधार पर होती है।

3.2.2 परेटो की अवधारणा

परेटो प्रथम विद्वान हैं जिन्होंने संभ्रांतजन एवं जन समूह में भेद करने का प्रयास किया है। इनके अनुसार, संभ्रांत उन सभी सफल व्यक्तियों की गणना की जा सकती है जो प्रत्येक मानवीय गतिविधि और समाज के प्रत्येक स्तर पर उत्तम शिखरों तक पहुंच जाते हैं। वकीलों, वैज्ञानिकों तथा यहां तक की चोरों व वेश्याओं के भी अपने–अपने संभ्रांतजन होते हैं। परेटो के अनुसार, प्रत्येक समाज को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :–

1. निम्नतम स्तर, जिसमें असंभ्रांतजन अथवा जन–समूह सम्मिलित है, तथा
2. उच्चतर स्तर, जिसमें संभ्रांत वर्ग को सम्मिलित किया जाता है

टिप्पणी

संभ्रांत वर्ग भी दो प्रकार का है– (अ) शासक संभ्रांतजन, तथा (ब) गैर–शासक संभ्रांतजन। शासक संभ्रांतजन वे व्यक्ति आते हैं जो शासन के भीतर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जबकि गैर–शासक संभ्रांतजनों में वह व्यक्ति सम्मिलित किए जाते हैं जो सेना, व्यापारिक क्षेत्रों, धार्मिक संगठनों अथवा अन्य मानवीय क्रियाएं (सत्ता संरचना के अतिरिक्त) में सर्वोच्च स्थान रखते हैं। परेटो के विचारों को निम्नांकित प्रकार से दर्शाया जा सकता है–

समाज के संभ्रांत वर्ग तथा असंभ्रांत वर्ग की संरचना स्थाई नहीं होती है तथा इनमें परिवर्तन होते रहते हैं। असंभ्रांत वर्ग (शासित वर्ग) के कुछ सदस्य अपनी बुद्धि एवं उच्च गुणों से संपन्न तत्व उभरने के कारण संभ्रांत वर्ग में आ जाते हैं जबकि संभ्रांत वर्ग (शासक वर्ग) के कुछ लोग उत्तम गुणों के अभाव के कारण असंभ्रांत वर्ग में वापस चले जाते हैं अतः जन–समूह एवं संभ्रांत वर्ग के सदस्यों में अनवरत रूप से परिचालन होता रहता है परेटो ने संभ्रांतजनों में परिचालन (परिभ्रमण या परिसंचार) को यहीं तक सीमित न रखकर, इसमें उस प्रक्रिया को भी सम्मानित किया है जिसमें एक संभ्रांत वर्ग का दूसरा संभ्रांत वर्ग ले लेता है अन्य शब्दों में परिचालन की यह प्रक्रिया कभी सम्राट वर्ग और जन समूह में तथा कभी एक संभ्रांत वर्ग से दूसरे संभ्रांत वर्ग में परिवर्तनों–प्रत्यावर्तनों के रूप में देखी जा सकती है।

परेटो के अनुसार, संभ्रांत वर्ग में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। आज जो शासक वर्ग किसी देश में शासन कर रहा है, समयानुसार उसके उच्च गुणों के अभाव और अधोगामी तत्वों की संख्या में वृद्धि हो जाने के कारण उसका स्थान गैर–शासक वर्ग के गुणों से संपन्न व्यक्तियों द्वारा ले लिया जाता है। निम्नतम स्तर से आने वाले व्यक्ति संख्यात्मक दृष्टि से नहीं, अपितु गुणात्मक दृष्टि से पुनः शासक वर्ग की स्थापना कर देते हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि शासक–वर्ग का स्थान अन्य गैर–शासक संभ्रांत वर्ग द्वारा ले लिया जाता है। यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है और इसी को संभ्रांतजनों के परिचालन का संप्रत्यय कहा गया है। इस प्रक्रिया के माध्यम से समाज का प्रत्येक संभ्रांत वर्ग अंततः नष्ट हो जाता है इसी संदर्भ में परेटो ने इतिहास को कुलीन वर्गों का शमशान कहा है।

3.2.3 रॉबर्ट मिशेल की अवधारणा

मिशेल द्वारा विवेचित अभिजन वर्ग विश्लेषण में नेतृत्व को प्रधानता दी गई है और इसके महत्व पर गंभीर रूप से प्रकाश डाला गया है। इनका मानना है कि एक बार सत्तारूढ़ होने के पश्चात अभीजनों को अपदस्थ करना आसान नहीं है। इनके प्रभुत्व नियंत्रण के लिए बनाए गए नियम धीरे–धीरे कमजोर पड़ जाते हैं लेकिन इनके प्रभुत्व का प्रभाव बना होता है। मिशेल यह मानते हैं कि व्यवस्था में उत्पन्न क्रांति की संभावना या परिस्थितियां नेतृत्व परिवर्तन का माध्यम बनती है।

वस्तुतः अधिकतर तो शासकों द्वारा क्रांतियों को दबाने का प्रयास किया जाता है लेकिन यदि कहीं क्रांति सत्ता–परिवर्तन कराने में सफल होती है तो सिर्फ अभिजन वर्ग के सदस्यों की अदला–बदली होती है अभिजन वर्ग का अस्तित्व और इसके प्रभुत्व समाप्त नहीं होता है। क्रांति द्वारा पुराने अभिजनों की जगह नए अभिजन वर्ग का अस्तित्व सत्ता संभालने और जल्द समूह पर शासन करने के लिए उपस्थित हो जाता है। इस प्रसंग में मिशेल का कहना है कि समाज में किसी भी प्रकार के

टिप्पणी

संगठन आंदोलन या अभिजन–विरोधी गतिविधियों के संचालन के लिए नेतृत्व की अति आवश्यकता होती है यहां तक की क्रांति का सफल संचालन भी कुशल नेतृत्व के बिना संभव है। इनका मानना है कि नेतृत्व क्षमता में संगठन आप संगठनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों तत्व की प्रधानता होती है और क्रांति की सफलता का अर्थ है कुशल नेतृत्व के संरक्षण में अभिजन परिसंचरण। इन्होंने लिखा है कि, "इतिहास की लोकतांत्रिक प्रवृत्तियाँ समुद्र में उठने वाली लहरों के समान हैं जो हमेशा छिछले किनारों से टकराकर टूट जाती हैं बिखर जाती हैं।"

मिशेल की अभिव्यक्ति के अनुसार सभी राजनीतिक दलों को अपने नेतृत्व की निरंतरता को कायम रखने के लिए अपने विचारों की शुद्धता से ज्यादा मतदाताओं का रुझान अपनी तरफ कराने एवं ज्यादा से ज्यादा उनका मत प्राप्त करने के उपायों की जुगत में लगे रहना पड़ता है। इनका कहना है कि इन्हीं कारकों की वजह से दल में नौकरशाहों की स्थिति को बल मिलता है। पुणे राम पार्टी सिद्धांत के प्रचार प्रसार से ज्यादा अपनी स्थिति को यथावत बनाए रखने में समय खर्च करते हैं। वस्तुतः यह स्थिति ही पार्टियों में शक्ति शृंखला के संस्थापन की मूल वजह है जिसका स्वरूप राजनीतिक व्यवस्था में स्थापित शृंखला के अनुरूप होता है। यहां मिशेल ने यह कहा है कि यह धारणा गलत है सत्ता परिसंचरण द्वारा राजनीतिक शक्ति पर नियंत्रण सो जाने से जनता का सत्ता पर नियंत्रण बढ़ता है। दरअसल ये नए अल्प तंत्र की जीत है जिसमें नेतृत्व का तत्व स्थायी और अपरित्याग है। क्रांति की सफलता द्वारा तत्कालीन अभिजन वर्ग की जगह सर्वहारा अभिजन सत्तारूढ़ होता है। यहां भी नेतृत्व का बुर्जुआकरण हो जाता है और दलिय शक्ति शृंखला उच्च सामाजिक परिस्थिति एवं आय का साधन बन जाती है। राजनीतिक दलों में संगठनात्मक वह संरचनात्मक तत्वों के माध्यम से गुटतंत्र की स्थापना के प्रयासों को मनोवैज्ञानिक कारकों के सहयोग से मजबूती प्रदान की जाती है।

आलोचकों की दृष्टि में मिशेल द्वारा प्रतिपादित गुटतंत्रीय सिद्धांत दलीय अल्पतंत्र का जितना सजीव विश्लेषण प्रस्तुत करता है, उसमें वैसी यथोचित स्पष्टता का अभाव है। विश्लेषण क्रम में तकनीकी विशेषज्ञता और राजनीतिक नेतृत्व के बीच उनकी स्थिति कार्यप्रणाली और महत्व का स्पष्ट अंतर प्रस्तुत कर पाने में मिशेल पूरी तरह से सफल नहीं रहे हैं। राजनीतिक दलों के आंतरिक और बाह्य दबाओं तथा संगठन के अंदर चलने वाली नेतृत्व की प्रतिस्पर्धाओं के विश्लेषण में मिशेल ने कोई विशेष रूचि नहीं दिखाई है।

जहां समाजवादी विश्लेषकों के चिंतन में राजनीतिक उद्देश्य के प्रति जन सामान्य की अभिरुचि का पुट दर्शाया गया है वहीं मिशेल ने अपने सिद्धांत में जनसाधारण को सार्वजनिक हितों के प्रति उदासीन बताया है। लोकतंत्र की संभावनाओं पर भी इनका निराशावादी विचार बहुत युक्ति पूर्ण नहीं है। इस प्रसंग पर मिशेल ने यह विश्वास व्यक्त किया है कि राजनीतिक दलों के अंदर संगठनात्मक स्तर पर समान सदस्यों और गैर सदस्यों की दलीय राजनीति के प्रति उदासीनता की मूल वजह राजनीतिक मामलों में उनकी तकनीकी अनभिज्ञता है। साथ ही इनकी यह भी धारणा है कि सर्वहारा वर्ग द्वारा चलाए गए तथाकथित क्रांतिकारी आंदोलनों में सर्वहारा वर्ग के हाथों में आंदोलन–सूत्र के नाम पर नेताओं के अल्पसंख्यक समूह द्वारा आंदोलनों

टिप्पणी

का संचालन किया जाता है और इसमें प्रासंगिक समस्त गतिविधियों की योजनाओं का निर्धारण एवं क्रियान्वयन किया जाता है।

वस्तुतः मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि मिशेल ने अभिजन के संबंध में प्रतिपादित अपनी संकल्पना में बहुसंख्यक के शासन को एक कल्पना मात्र माना है और व्यापक मतदान व्यवहार एवं मतदान व्यवस्था को एक मिथक कहा है। लोकतांत्रिक प्रणाली में बहुसंख्यक का शासन किसी व्यवस्था में असंभव है। लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में भी नीतियों का निर्माण निर्णय प्रक्रिया एवं नीतियों का क्रियान्वयन सशक्त अल्पसंख्यक अभिजन समूह द्वारा किया जाता है। सभी राजनीतिक दलों में नेतृत्व अल्पसंख्यक समूह के हाथों में होता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रवृत्ति अल्पतंत्रीय अभिजन वर्ग को मतदान के प्रयोग द्वारा नियंत्रित तो करती है लेकिन इस वर्ग का अस्तित्व पूरी तरह मिटा नहीं सकती है। हालांकि उनके द्वारा यह स्पष्टोक्ति जरूर की गई है कि लोकतंत्रीय व्यवस्था में प्रतिस्पर्धी दलों और संगठनों का अस्तित्व सदा बना रहता है। यह कहकर मिशेल ने राजनीतिक बहुलवाद को एवं उनके विरोधियों द्वारा प्रस्तुत लोकतांत्रिक अभिजनवाद को सैद्धांतिक आधार प्रदान किया है इसलिए अनेक आलोचनाओं के बावजूद मिशेल द्वारा गुटतंत्र के लौह नियम की प्रस्तुति से राजनीतिक दलों, दबाव समूह, हित समूह, अन्य सभी प्रकार के मुख्य संगठनों समुदायों के अनुभवमूलक विश्लेषण को काफी हद तक प्रेरक आधार मिला है। मिशेल के इस प्रतिपादन से लोकतंत्र व्यवस्था की यथार्थता को भी एक नई व्याख्या मिली है।

3.2.4 सी.डब्ल्यू. मिल्स की अवधारणा

मिल्स का यह मानना है कि 'शक्ति अभिजन' सिर्फ इसलिए शक्तिशाली नहीं बनते कि वे समय की मांग को पूरा करते हैं अपितु वे स्वयं ऐसी मांगों को पैदा करके जनसामान्य के जीवन को बदलने का सामर्थ रखते हैं। इनकी दृष्टि में 'शक्ति अभिजन' समाज का ऐसा आत्मा चेतन वर्ग है जो अपने वर्ग के सदस्यों के लिए परस्पर सहयोग सदभावना की मानसिकता रखते हैं और इसी आधार पर एक–दूसरे को मजबूत बनाने में सहयोगी बनते हैं। मिल्स के शब्दों में, "शक्ति अभिजन वर्ग के संरचना उन व्यक्तियों द्वारा होती है जो अपने पदों की वजह से सामान्य पुरुषों एवं स्त्रियों के स्तर से ऊपर उठ जाते हैं तथा वह ऐसे पदों पर आसीन होते हैं जो प्रमुख परिणामों से संबंधित निर्णय ले सकते हैं।" इस प्रसंग में मिल्स का कहना है कि व्यवस्था में इस वर्ग को सदस्य अपनी ऐसी उच्च छवि बनाते हैं कि जनसाधारण की नजर में ये सिर्फ धन–संपदा और पद–प्रतिष्ठा की दृष्टि से ही नहीं, चरित्र और विचार की दृष्टि से भी काफी श्रेष्ठ साबित होते हैं। लेकिन मिल्स की दृष्टि में यह इस वर्ग का सिर्फ दिखावा मात्र है। वास्तव में ना तो इनकी अपनी कोई विचारधारा होती हैं और ना ही इन्हें किसी विचारधारा की जरूरत महसूस होती है। विषय के उचित–अनुचित की प्रासंगिकता इनका कोई सरोकार नहीं होता है। यह सिर्फ जोड़–तोड़ और छल–बल में कुशल होते हैं और इसी महारथ के बल पर सामाजिक संरचना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली अस्तित्व रखते हैं। मिल्स ने अपनी प्रसिद्ध रचना "The Power Elite" के अंतर्गत अमेरिकी शक्ति अभिजन की कार्यप्रणाली पर प्रकाश डालते हुए इस तत्व पर बल दिया है कि यद्धोत्तर अमेरिका में राजनीतिक, सैनिक और व्यापारी वर्ग के गुटतंत्र का शासन है। राष्ट्रीय स्तर के सभी महत्वपूर्ण निर्णय पर इनका अप्रत्यक्ष एकाधिकार

टिप्पणी

है तथा लोकतंत्र की प्रक्रिया के ऊपर इनका गुप्त नियंत्रण हावी रहता है। मिल्स शक्ति को किसी एक वर्ग में समाहित नहीं मानते हैं अपितु इस संस्थाओं में समाहित मानते हैं। इनके विचार से शक्ति अभिजनों में भी लोग शामिल हैं जिनके पास वृहत् स्तरीय के निर्माण की क्षमता एवं कार्यान्वयन में शक्ति होती है।

मिल्स ने शक्ति अभिजन के वर्णन में वास्तविक शक्तियों के प्रयोग–संदर्भ की जगह विशाल शक्तियों के स्वामित्व के संभावना–संदर्भ को आधार बनाया है जिसके मूल में वर्तमान में अमेरिकी शक्ति अभिजन के हाथों में केंद्रित शक्ति संदर्भ है।

मिल्स के शक्ति अभिजन विश्लेषण का दृष्टिकोण सांस्थानिक है। इनके शक्ति अभिजन अवधारणा में अमेरिकी समाज के तीन वर्गों के अभिजनों का उल्लेख किया है– (1) कम्पनी अध्यक्ष, (2) राजनीतिक नेता, (3) सेनापति।

इनकी दृष्टि में शक्ति अभियान अस्तित्व तथा शक्ति वर्धन में समाज के तीन संस्थाएं आम भूमिका निभाती हैं यथा प्रथम–आर्थिक संस्थाएं, द्वितीय–राजनीतिक संस्थाएं, तृतीय सैनिक संस्थाएं। यह तीनों संस्थाएं ही व्यवस्था में शक्ति के आविर्भाव एवं अस्तित्व को तथा घटित होने वाली घटनाओं को परस्पर संबद्ध करती हैं। इन संस्थाओं पर नियंत्रण स्थापित करने का अर्थ है व्यक्ति एवं घटनाओं के संबंध को नियंत्रित करना। यहां मिल्स का कहना है कि जब अभिजन वर्ग इन संस्थाओं पर अधिकार हो जाता है तो वह सामाजिक घटनाओं एवं गतिविधियों के संबंध में आवश्यक निर्णय लेने के लिए अधिकृत हो जाते हैं। इस प्रसंग की व्याख्या करते हुए मिल्स ने कहा है कि शक्ति अभिजन का अभिप्राय उन राजनीतिक आर्थिक सैनिक समूह से है जो राष्ट्रीय महत्व के निर्णय में भागीदार होते हैं। वर्तमान अमेरिकी व्यवस्था में अभिजनों की भूमिका के संदर्भ को देखते हुए मिल्स की ये स्वीकारोक्ति है। इस शक्ति अभिजन वास्तविक स्तर पर निर्णयकर्ता होते हैं या नहीं यह सवाल उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि व्यवस्था गत संस्थाओं के अंतर्गत उच्च एवं आदेशात्मक पदों पर उनका पद स्थापित होना है।

मिल्स की 'शक्ति अभिजन' संकल्पना का आधारतत्व अमेरिकी अभिजनों द्वारा समय–समय पर लिया गया महत्वपूर्ण प्रभावकारी निर्णय है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य में अमेरिका को 'सर्वोच्च शक्ति रूप' में संस्थापित किया है। दृष्टान्तस्वरूप हिरोशिमा एवं नागासाकी पर अणु बम गिराने का निर्णय, पाकिस्तान सैनिक सहायता देने का निर्णय, भूतपूर्व सोवियत संघ के साथ शस्त्रों की होड़ में शामिल होने का निर्णय आदि निर्णय प्रसंग हैं जिन्होंने विश्व स्तर पर अमेरिका की पहचान एक शक्तिशाली देश के रूप में बनाने में मुख्य भूमिका निभायी है और ऐसे महत्वपूर्ण निर्णय संदर्भों में वहां के नौकरशाही के उच्च पदाधिकारियों, उच्च सैनिक पदाधिकारियों एवं प्रशासकीय कार्यपालिका के सदस्यों की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही है। मिल्स की दृष्टि शक्ति अभिजन की सबसे बड़ी विशेषता है तीनों वर्गों के अभिजनों के मध्य पर्याप्त मात्रा में परस्पर तालमेल का होना। क्योंकि, यही तालमेल उनके अस्तित्व को मजबूती प्रदान करता है। लेकिन, साथ ही मिल्स ने इस सच्चाई को भी स्वीकारा है कि 'शक्ति अभिजन' महत्वपूर्ण निर्णय लेने का अधिकार तो रखते हैं, लेकिन उन्हें इतिहास निर्माता की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इनके शब्दों में "शक्ति अभिजन अपने निर्णयों के लिए जनता के समक्ष उत्तरदायी न होने की वजह

से तथा संपत्ति–संग्रहण को मुख्य मूल्य मान लेने की वजह से भ्रष्ट हो जाते हैं। शक्ति अभिजन का सिद्धांत इतिहास–निर्माण का सिद्धांत नहीं है क्योंकि राष्ट्रीय महत्व एवं दूरगामी परिणामों वाले मामलों के संबंध में निर्णय लेने के बावजूद शक्ति अभिजन इतिहास के निर्माता नहीं हैं।" मिल्स का यह मानना है कि कई कारणों से अमेरिका में सही अभिजन वर्ग का उदय नही हो पाया है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. कुलीन वर्ग का अन्य नाम है–

   (क) संभ्रांत वर्ग (ख) पूंजीवादी वर्ग

   (ग) शासक वर्ग (घ) पूर्वोक्त सभी

2. गृहतंत्रीय सिद्धांत का प्रतिपादन किसने किया?

   (क) आर. मिशेल (ख) मोस्का

   (ग) परेटो (घ) मिल्स

3.3 बुद्धिजीवी/बुद्धिजीवियों की राजनैतिक भूमिका एवं महत्ता

राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप उदारवादी हो या विकासशील सभी व्यवस्थाओं के निर्माण, विकास एवं समुन्नति में देश के बुद्धिजीवी वर्ग का उल्लेखनीय योगदान रहा है। पश्चिमी देशों एवं अमेरिका के अधिकांश बुद्धिजीवी दक्षिणपंथी विचारधारा के समर्थक व पोषक रहे हैं।

राजनीतिक समाजशास्त्र के अध्ययन की सूची में जब से अभिजन वर्ग सिद्धांत पर चिंतन विश्लेषण का दौर आरंभ हुआ है तभी से लगभग सभी विद्वज्जनों द्वारा अभिजन वर्ग के अंतर्गत शामिल बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिकाओं को अपने–अपने तरीके से रेखांकित किया गया है। हेराल्ड डी. लासवेल तथा रेमंड एरन द्वारा अभिजन वर्ग तथा समाज के अन्य वर्गों के बीच संबंध स्थापित करने के प्रयासक्रम में बुद्धिजीवी अभिजन वर्ग के सामाजिक प्रभाव की विवेचना प्रस्तुत की गई है, जो राजनीतिक सत्ता का हिस्सा नहीं होते हुए भी इसके निर्माण के लिए आवश्यक वातावरण निर्मित करने में उल्लेखनीय योगदान देते रहे हैं। इनकी दृष्टि में अभिजन वर्ग के विभिन्न प्रकारों में बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका भी काफी महत्वपूर्ण है।

रेमंड एरन ने साम्यवादी देशों में अभिजन वर्ग के अस्तित्व की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए यह कहा है कि वस्तुतः किसी भी समाज के नागरिकों में पूर्ण समानता की स्थिति नहीं पाई जाती है। बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक तथा सत्ताधारी के रूप में कुछ ऐसे वर्गों का अस्तित्व जरूर मौजूद होता है जो अपने अद्वितीय क्षमताओं की वजह से जनसमूहों से आगे निकल आते हैं। गैतानो मोस्का ने भी अपने अभिजन सिद्धांत में नवीन मध्यवर्ग का उल्लेख किया है, जिसमें बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, विद्वानों आदि की भूमिका पर प्रकाश डाला है।

बुद्धिजीवियों की राजनीतिक भूमिका पर चर्चा अग्रांकित है–

3.3.1 राष्ट्र – निर्माण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता

टिप्पणी

राष्ट्र–निर्माण प्रक्रिया का उद्देश्य जनता की अभिवृत्ति में अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं समर्पण की भावना का आविर्भाव एवं विकास करना है। इस प्रक्रिया द्वारा जहां आंतरिक स्तर पर देश की सामाजिक–आर्थिक राजनीतिक व्यवस्था का मजबूतीकरण करके एक शक्तिशाली केंद्र की संस्थापना का प्रयास किया जाता है, वहीं बाह्य स्तर पर अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य तथा अंतर्राष्ट्रीय मानचित्र पर एक गौरवशाली राष्ट्र के रूप में देश को प्रतिष्ठित करने की कोशिश की जाती है। नवोदित राष्ट्रों में राष्ट्र–निर्माण प्रक्रिया के लिए मुख्य रूप से चार कारकों को चिन्हित किया गया है :–

प्रथम – राष्ट्र के प्रति पूर्ण आस्था–निष्ठा एवं समर्पण की भावना का विकास करना।

द्वितीय – राष्ट्रीय पहचान की भावना को विकसित करना।

तृतीय – जनसाधारण में राजनीतिक चेतना का विकास करना।

चतुर्थ – आधुनिक अर्थव्यवस्था, तकनीकी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास करना।

आंतरिक एवं बाह्य स्तर पर राष्ट्र निर्माण के संबंध में उन चारों कारकों की वृद्धि एवं समुन्नति में देश के बुद्धिजीवी उल्लेखनीय भूमिकाओं को अंजाम देते हैं। भौगोलिक विशालता और सांस्कृतिक विविधता के कई आयामों की मौजूदगी की वजह है तीसरी दुनिया के देशों में केंद्र एवं राज्यों की स्थिति राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्तर पर बहुत सुदृढ़ नहीं बन पाती है। वहां की सरकारें देश की आबादी के बड़े हिस्से को जीवन की बुनियादी जरूरतें मुहैया कराने में सक्षम नहीं होती हैं।

नतीजन व्यवस्था के लोक कल्याणकारी स्वरूप के बावजूद राज्य सामाजिक जीवन में पूरी तरह प्रवेश कर पाने में सफल नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में राज्य समाज पर बहुत विश्वास उत्पादक प्रभाव डालने की स्थिति में नहीं होता है। जीवन यापन के लिए बुनियादी सुविधाओं के अभाव में यह विघटनकारी व अलगाववादी तत्वों की जड़ें धीरे–धीरे मजबूत होती जा रही हैं। वास्तविक स्तर पर यह समस्या राष्ट्र–निर्माण एवं राज्य निर्माण के रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट है। इस संजीदा समस्या से निजात पाने के लिए या इसके उन्मूलन के लिए राष्ट्र में निष्ठा के एक केंद्र को विकसित करने की अनिवार्यता सभी विकासशील समाजों के लिए अपरिहार्य है। राष्ट्रीय निष्ठा जैसे आधार तत्व को विकसित करने के लिए जनता में राजनीतिक चेतना जगाने की जरूरत होती है। देश में जन चेतना पैदा कराने में बुद्धिजीवी अभी प्रेरक माध्यम की भूमिका निभाते हैं।

बुद्धिजीवी वर्ग अपनी कहानियों, कविताओं, निबंधों, विचारगोष्ठियों, अध्ययनगोष्ठियों, बहस–मुबाहिसा आदि द्वारा सामाजिक–राजनीतिक मुद्दों को उठाकर जनजागृति लाने की कोशिश करते हैं। बुद्धिजीवी वर्ग पत्रकार, साहित्यकार, कलाकार, आलेखकार, राजनीतिक विश्लेषक, समाजविश्लेषक, अर्थविश्लेषक आदि की भूमिकाओं में समाज के सदस्यों में राजनीतिक चेतना जगाने तथा उन्हें राष्ट्रीय संप्रभुता अखंडता के मर्म को समझाने का भरपूर प्रयास करता है। कलाकारों द्वारा नुक्कड़ नाटकों एवं रंगमंच पर नाटकों का मंचन करके जनता को राजनीतिक संदेश संप्रेषित किया जाता है।

टिप्पणी

अलख जगाने के क्रम में बुद्धिजीवियों द्वारा नागरिकों में इस राजनीतिक बोध का विकास कराया जाता है कि वह अपनी निष्ठा की भावना को संकीर्ण समूहों के दायरे में सीमित न रखकर उसे संपूर्ण राष्ट्र को समर्पित करें। बुद्धिजीवियों द्वारा उन्हें यह बताने की कोशिश की जाती है कि राज्य निर्माण की दशा में अपना मजबूत कदम बढ़ा कर वे शक्ति के ऐसे केंद्र को विकसित करने में सहभागी बन सकते हैं जो संपूर्ण राज्य में शांति–व्यवस्था बहाल करने में तथा राज्य की सुरक्षात्मक कल्याणकारी सेवाओं को देश के कोने–कोने में पहुंचाने में कारगर भूमिका निभा सकती है।

3.3.2 राजनीतिक संस्कृति निर्माण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता

राजनीतिक संस्कृति का अभिप्राय किसी समाज की संस्कृति के उस आयाम से है जो वहां की राजनीति को प्रभावित करती है। संस्कृति एक विस्तृत संकल्पना है जिसके दायरे में किसी भी समाज में निवास करने वाले विविध समुदायों, संप्रदायों, धर्मों, जातियों, प्रजातियों, समूहों में प्रचलित परंपराओं, मूल्यों व मान्यताओं के अलावा कला विधाएं, प्रतीक चिह्न, पर्व, उत्सव, पूजा–पाठ, रहन–सहन का तरीका आदि सभी को सम्मिलित किया जाता है। राजनीतिक संस्कृति वस्तुतः सामाजिक संस्कृति का न सिर्फ प्रधान हिस्सा है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि सामाजिक संस्कृति से ही राजनीतिक संस्कृति का निर्माण होता है। राजनीतिक संस्कृति में मुख्यतया उन मूल्यों, मान्यताओं एवं मानकों को शामिल किया जाता है जो शासक अभिजन, शासन व्यवस्था और शासन प्रक्रिया को वैधता प्रदान करने में आधार तत्व की भूमिका अदा करते हैं।

विकासशील व्यवस्थाओं में विभिन्न संस्कृतियों की विद्यमानता विघटनकारी शक्तियों का पोषण करती है साथ ही भौगोलिक दूरियों, भौगोलिक गतिशीलता में काफी कमी तथा परिवहन एवं संचार के साधनों की अपर्याप्तता के कारण व्यवस्था में राजनीतिक संस्कृति का विखंडित स्वरूप आकार लेता है जो देश में राजनीतिक अस्थिरता का माहौल बनाता है। ऐसी अनिश्चित राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियों से देशवासियों को मुक्त कराकर स्वरूप व सकारात्मक सोच का निर्माण व विस्तार कराने में बुद्धिजीवी वर्ग काफी सराहनीय भूमिका निभाते हैं। उनके द्वारा विविध समस्याओं पर आलेख, वाद–विवाद, सेमिनार, सिंपोजियम, व्याख्यानमाला, नुक्कड़ नाटक, नाट्य कला, पत्रकारिता, कानून, न्याय सक्रियता आदि के माध्यम से जनता में राजनीतिक चेतना जगाने का प्रयास किया जाता है।

बुद्धिजीवियों द्वारा किए जाने वाले इन सभी कार्यों का उद्देश्य जनसाधारण में राजनीतिक सूझबूझ पैदा कराना, उन्हें राजनीति के प्रति रुझान की मनोवृत्ति का विकास करना तथा एकीकृत राजनीतिक संस्कृति के निर्माण का प्रयास करते हुए स्वस्थ जनमत के निर्माण की परिस्थितियों का वर्गीकरण करना है। इस प्रकार सभी विकासशील अवस्थाओं में स्वच्छ राजनीतिक संस्कृति के निर्माण में बुद्धिजीवियों की भूमिका बहुत अहम होती है और स्वस्थ राजनीतिक संस्कृति ही लोकतांत्रिक सरकारों के निर्माण, स्थिरता और लोकप्रियता की नींव है। व्यवस्था संचालन में बुनियादी तत्व की भूमिका निभाने वाली राजनीतिक संस्कृति को यथोचित स्वरूप प्रदान करने में बुद्धि जीवियों की अहम भूमिका को स्वतंत्रता संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है।

टिप्पणी

वास्तव में किसी भी सरकार को सत्ता में बने रहने के लिए या किसी भी राजनीतिक दल को सत्तारूढ़ होने के लिए वैधता प्राप्ति की अति आवश्यकता होती है और राजनीतिक सत्ता का वैधताकरण समाज के सदस्यों द्वारा होता है। इस परिप्रेक्ष्य में बुद्धिजीवी वर्ग समाज के सदस्यों को उनके राजनीतिक अधिकारों, कर्तव्यों तथा दायित्व का बोध करा कर एकीकृत राजनीतिक संस्कृति के निर्माण का प्रयास करते हैं ताकि राजनीतिक सत्ता को वैधता प्राप्त करने में कोई परेशानी न हो।

3.3.3 राजनीति के स्वरूप निर्माण–निरूपण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता

राजनीति एक सर्वव्यापी विषय है इसलिए इसकी कोई हदबंदी नहीं है। परिभाषित शब्दावली में राजनीति उस प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा मानव समाज अपनी समस्याएं सुलझाता है तथा प्रतिरोधी हितों के बीच सामंजस्य स्थापित कराता है। वहीं दूसरी ओर राजनीति को उन मानवीय संबंधों का अभिसूचक माना गया है जिसमें बल शक्ति का प्रयोग किया जाता है या करने का भय दिखाया जाता है। वस्तुतः राजनीति संघर्ष, शक्ति प्रभाव, नेतृत्व निर्णय लेना आदि प्रक्रियाओं को अपने स्वभाव में समावेशित करती है इसलिए छल–कपट, दांव–पेच, जोड़–तोड़ आदि राजनीति के मूल स्वभाव में शामिल हैं।

आज राजनीति का मूल अभिप्राय है राजनीतिज्ञों एवं राजनीतिक दलों द्वारा अवसर का इस्तेमाल करना इसलिए राजनीति में अपराधीकरण, भ्रष्टाचार, भाई–भतीजावाद, परिवारवाद जैसे तत्व काफी प्रभावशाली भूमिका निभा रहे हैं और सभी राजनीतिक दल एवं राजनीतिक नेतृत्व इस अवसरवादिता का भरपूर लाभ उठा रहे हैं। राजनीति में अवसरवादी तथा अन्य मौजूद गंभीर बीमारियों पर बुद्धिजीवी वर्ग में विशेष रूप से राजनीतिक टीकाकार, समाज विश्लेषक, पत्रकार, आलेखकार व नाटककार आदि खुले मंच से राजनीति की आलोचना समालोचना करते रहते हैं। बुद्धिजीवियों की यह कार्यशैली राजनीतिज्ञों एवं राजनीतिक दलों की समाज विरोधी, जन विरोधी गतिविधियों पर अंकुश लगाने का काम करती है। इस परिप्रेक्ष्य में बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा राजनीति की गलत गतिविधियों एवं उच्चश्रृंखल प्रकृति को अपनी कटु आलोचनाओं तथा व्यंग्य काव्यों, कार्टूनों व्यंग्य, लेखन व्यंग्य, चित्रकारी आदि के माध्यम से बहुत हद तक नियंत्रित करने में सराहनीय भूमिका निभाई जाती है।

राजनीतिक नेता एवं राजनीतिक दल बुद्धिजीवी वर्ग की आलोचनाओं, व्यंग्यबाणों, व्यंग्य आलेखों से बचने के लिए राजनीति के स्वभाव में पलने वाली बीमारियों को खुलेआम अपनाने से परहेज करते हैं ताकि जनता में उनकी छवि साफ–सुथरी बनी रहे और अपने ईमानदार तथा छल कपट रहित चरित्र के माध्यम से वह जनमत को अपनी ओर मुखातिब करने में सफल हो सके। इस प्रकार बुद्धिजीवियों द्वारा निष्पादित बौद्धिक राजनीतिक भूमिकाओं की वजह से व्यवस्थागत राजनीति को जन सरोकारगत, जन कल्याणकारी मानवीय चेहरा प्राप्त होता है और राजनीतिक दलों तथा राजनीतिज्ञों के लिए समाज सापेक्ष व विकास प्रमुख दृष्टिकोण अपनाने की राजनीति बाध्यता बन जाती है।

टिप्पणी

3.3.4 राजनीतिक सहभागिता के अभिप्रेरण के रूप में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता

लोकतांत्रिक प्रणाली के स्थायित्व, सातत्य एवं मजबूतीकरण का आधार तत्व है राजनीतिक सहभागिता। लोकतंत्र को मजबूती प्रदान करने में परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक सहभागिता नागरिकों द्वारा निष्पादित व राजनीतिक क्रिया जिसके प्रयोग द्वारा जनतांत्रिक व्यवस्थाओं के नागरिक राजनीतिक नीतियों व निर्णय के निर्माण निरूपण तथा कार्यान्वयन प्रक्रिया में सहभागी बनते हैं।

राजनीतिक सहभागिता राजनीतिक अभिजनों तथा जनसाधारण के बीच सीधा संपर्क सूत्र स्थापित करने वाली प्रक्रिया है। इस अर्थ में राजनीतिक सहभागिता नागरिकों द्वारा निष्पादित की जाने वाली महत्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका है, जिसकी वजह से लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रियाओं को ओजस्विता मिलती है। इसका अभिप्राय जनसमर्थन से जुड़ा होता है जो राजनीतिक शक्ति के आधार माध्यम हैं। विकासशील व्यवस्थाओं के सदस्यों की प्रवृत्ति में राजनीति के प्रति रुझान पैदा कराने, राजनीतिक जागरूकता का आविर्भाव कराने तथा राजनीतिक दृष्टिकोण का निर्माण कराने में व्यवस्था के बुद्धिजीवी उत्प्रेरक एवं उत्थापक की भूमिका निभाते हैं।

बुद्धिजीवी वर्ग में नागरिकों में राजनीतिक अधिकारों, कर्तव्यों व दायित्वों का संज्ञान लेने की क्षमता विकसित कराने में आधारी माध्यम का कार्य करते हैं। समय–समय पर आयोजित संगोष्ठियों, व्याख्यानमाला, अध्ययनगोष्ठी, वाद–विवाद, खुली बहस तथा जनचेतना जगाने वाले आलेखों का प्रकाशन करके या कला क्षेत्र से जुड़ी विभिन्न विधाओं का इस्तेमाल करके बुद्धिजीवी वर्ग एवं सामाजिक व्यक्ति को राजनीतिक स्तर पर जागरूक बनाकर उसे राजनीतिक सहभागिता के लिए अभी प्रेरित करते हैं यानी कि बुद्धिजीवी वर्ग अपनी बौद्धिक क्षमता के बल पर लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में जनसंचारणा प्रक्रिया को नई गति प्रदान करते हैं और जन सामान्य को राजनीतिक सहभागिता के लिए उर्जित करते रहते हैं।

3.3.5 मतदान व्यवहार के निर्माण–नियमन–निरूपण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता

मतदान व्यवहार चुनावी राजनीति और निर्वाचन प्रक्रिया का आधारित तत्व है। लोकतांत्रिक सरकारों के अस्तित्व निर्माण और पतन का पूरा दारोमदार मतदान व्यवहार पर है। सभी राजनीतिक विद्वज्जनों यह मानना है कि किसी भी जनतांत्रिक व्यवस्था में मतदाताओं के मतदान व्यवहार का तथ्यपरक अध्ययन विश्लेषण करना काफी कठिन प्रयास है क्योंकि एक व्यापक राजनीतिक क्रिया है जो कई आंतरिक एवं बाह्य कारकों द्वारा प्रभावी तथा अभिविन्यासित होती रहती है।

मतदान व्यवहार पर व्यवस्था में मौजूद आंतरिक तत्व ज्यादा गंभीर प्रभाव डालते हैं यानी कि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक पर्यावरण का इस राजनीतिक क्रिया पर विशेष प्रभाव पड़ता है। पर्यावरण में मौजूद परिस्थितियों को बुद्धिजीवी वर्ग कलमबद्ध करते हैं तथा अपने आलेखों, कहानियों, कविता, व्यंग लेखनों एवं अन्य सभी बौद्धिक विधाओं का प्रयोग करके सभी प्रकार की सामाजिक समस्याओं व मुद्दों को उजागर

टिप्पणी

करते हैं। उसे यथोचित रूप में जनता के सामने परोसते हैं एवं मतदाताओं को उनकी बुनियादी समस्याओं और चुनावी मुद्दों के प्रति जागरूक बनाते हैं।

पूरे चुनाव प्रचार के दौरान सभी दलों द्वारा संचालित चुनाव अभियानों व गतिविधियों पर उनकी पैनी नजर होती है। राजनीतिक विश्लेषक, समाज विश्लेषक, व्यंग्यकार, पत्रकार, कहानीकार, नाटककार, न्यूज़ चैनलों के संपादक, राजनीतिक टीकाकार, साहित्यकार आदि की भूमिका में बुद्धिजीवी वर्ग सामाजिक राजनीतिक यथार्थ को तत्वतः जनता के सामने परोसते हैं और अपनी बौद्धिक योग्यता के बल पर मतदाताओं को राजनीति में मौजूद सही गलत तत्वों का बोध कराते हैं। किसी भी राजनीतिक दल या दलीय नेता के पक्ष में जनमत निर्माण कराने या किसी भी राजनीतिक दल या उम्मीदवार के पक्ष में मतदान व्यवहार का निरूपण कराने के लिए प्रेरित करते रहने में बुद्धिजीवियों की राजनीतिक भूमिका अहम होती है।

सत्ताधारी और विपक्षी किसी भी दल के विरोध में यदि बुद्धिजीवी वर्ग अपनी कलम उठा ले तो उनके द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले आलेखों में इतनी ताकत होती है कि सत्ताधारी दल को पुनः सत्तारूढ़ होने की संभावना बिल्कुल क्षीण हो जाती है। उदाहरणार्थ, राजीव गांधी के प्रधानमंत्रीत्व काल में बोफोर्स मुद्दे को बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा बड़े व्यापक स्तर पर उछाला गया और इस पूरे प्रकरण का जनमानस पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि श्री गांधी के पुनः सत्तारूढ़ होने की संभावना पूरी तरह समाप्त हो गई। तभी तो, 1989 के लोकसभा चुनाव में भ्रष्टाचार के मुद्दे पर जनमत का निर्माण श्री गांधी पक्ष में नहीं हो पाया इसलिए श्री गांधी की जगह वी.पी सिंह सत्तारूढ़ हुए। इस प्रकार किसी भी राजनीतिक दल या नेता के पक्ष में जन्नत निर्माण मतदान व्यवहार के नियमन एवं निरूपण में बुद्धिजीवियों की भूमिका द्वारा प्रासंगिक होती है।

3.3.6 सामाजिक आंदोलनों के स्वरूप व लक्ष्य निर्धारण में बुद्धिजीवियों की भूमिका एवं महत्ता

सामाजिक आंदोलनों का अस्तित्व उदारवादी लोकतंत्र की छत्रछाया में ही पनपता है। सामाजिक आंदोलनों में जन आंदोलनों का दमन करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। सामाजिक आंदोलन कई मायनों में सत्ताधारी शासकों के लिए चुनौतीपूर्ण साबित होते हैं। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक आंदोलन एक ऐसी प्रक्रिया का नाम है जिसमें समाज के बहुत सारे सदस्यों द्वारा सक्रिय सहभागिता किसी बड़े सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्य की जाती है। समाज के सदस्य एकजुट होकर किसी भी सामाजिक परंपरा, कुरीति या रूढ़िवादिता से प्रासंगिक विषयों को रोकने के लिए या उनमें बदलाव लाने के लिए अपनी सक्रिय गतिविधियों को सामाजिक आंदोलन का स्वरूप प्रदान कर सकते हैं।

सदस्यों द्वारा किसी भी निर्धारित सामाजिक लक्ष्य सिद्धि के लिए परस्पर मिलकर अपनी मांग को जनांदोलन का रूप दिया जा सकता है। सामाजिक आंदोलनों में बड़ी शक्ति होती है। जब इसकी प्रकृति अति तीव्र होती है तो आंदोलन को गति प्रदान करने के लिए व्यवहार के नए प्रतिमान स्थापित किए जाते हैं और उसकी व्यवहार्यता के लिए कुछ नए तर्कसंगत आधार जोड़े जाते हैं जिस को आधार बनाकर आंदोलनों को लोकप्रिय बनाया जाता है। सामाजिक आंदोलनों की पृष्ठभूमि तैयार करने सामाजिक

टिप्पणी

उद्देश्य लक्ष्यों के प्रति लोगों को सजग बनाने तथा सामाजिक रूढ़ियों बेड़ियों से समाज को मुक्ति दिलाने में बुद्धिजीवी वर्ग समाज के निर्माता और सजग प्रहरी की भूमिका अदा करते हैं। समाज सुधारक की भूमिका में बुद्धिजीवी जनसाधारण को सामाजिक समस्याओं एवं मुद्दों से परिचित कराते हैं तथा उन्हें चेतनीय बनाकर समस्याओं से मुक्ति हेतु आंदोलन कराने के लिए अभी प्रेरित करते हैं। तीसरी दुनिया के नवोदित राष्ट्रों का सामाजिक जीवन कई प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त है। अशिक्षा, अल्प शिक्षा, गरीबी, बेरोजगारी, बीमारी, जनसंख्या विस्फोट तथा जीवन की बुनियादी जरूरतों के अभाव की वजह से यहां का सामाजिक जीवन आज भी समस्या ग्रस्त है और 20वीं सदी में भी नाना प्रकार की कुरीतियों व रूढ़ियो में जकड़ा हुआ है।

उपनिवेशवादी सत्ता के दौर से लेकर आज तक बुद्धिजीवियों द्वारा इन देशों में रूढ़िवादी मान्यताओं, बुराइयों से समाज को मुक्त कराने में महती योगदान दिया गया है। उदाहरणार्थ भारत में छुआछूत, सती प्रथा, बाल विवाह जैसी कुरीतियों से समाज को मुक्त कराने में बुद्धिजीवियों का सराहनीय योगदान रहा है। इसी प्रकार दहेज उन्मूलन विधवा विवाह आदि परंपराओं की संस्थापना बुद्धिजीवियों द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई गई है। यह वर्ग अपने बौद्धिक ज्ञान व सामर्थ को आलेखों, कहानियों, कविताओं में व्यंग्य लेखों आदि के माध्यम से जन–जन तक पहुंचाने की कोशिश करता रहता है तथा समय–समय पर आयोजित संगोष्ठियों, अध्ययन गोष्ठियों, व्याख्यानमालाओं द्वारा समाज के सदस्यों को प्रासंगिक विषयों से संबंधित संदेश देता रहता है। अपने इन्हीं प्रयासों द्वारा बुद्धिजीवी वर्ग सामाजिक व्यक्ति के मानसिक स्तर को विकसित करने की दिशा में सदैव प्रयासरत रहता है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. राष्ट्र निर्माण–विकास प्रक्रिया के कारक हैं–
   (क) राष्ट्रीय पहचान की भावना का विकास
   (ख) जनता में राजनीतिक चेतना का विकास
   (ग) तकनीकी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास
   (घ) पूर्वोक्त सभी
4. लोकतांत्रिक प्रणाली के सातत्य एवं मजबूतीकरण का आधार क्या है?
   (क) राजनीतिक सहभागिता (ख) जनांदोलन
   (ग) विशेषाधिकार तक संघर्ष (घ) दमनकारी सत्ता

3.4 दबाव समूह एवं हित समूह : प्रकृति, आधार, राजनीतिक महत्व

वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों का अपना ही विशेष स्थान है जिन्हें प्रायः विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। जैसे हित समूह, अनौपचारिक संगठन आदि। दबाव समूहों के संदर्भ में कहा जा सकता है कि जब कोई संगठन अपने सदस्यों के

टिप्पणी

हितों की पूर्ति के लिए राजनीतिक सत्ता को प्रभावित करता है और उनकी पूर्ति के लिए दबाव डालता है तो हम उस संगठन को दबाव समूह कहते हैं।

हित समूहों का अस्तित्व अति प्राचीन काल से रहा है। तब वर्णों एवं व्यवसाय पर आधारित व्यक्तियों के समूह हुआ करते थे जो अपने विशिष्ट हितों की रक्षा के लिए संगठित होते थे और उसके लिए प्रयास करते थे। आधुनिक समय में राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन होने से विभिन्न हित उभर कर आये। हित समूहों के अस्तित्व एवं गतिविधियों का संबंध सामाजिक चेतना एवं जागरूकता से भी है।

वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों का अपना ही विशेष स्थान है जिन्हें प्रायः विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। जैसे हित समूह, अनौपचारिक संगठन आदि। दबाव समूहों के संदर्भ में कहा जा सकता है कि जब कोई संगठन अपने सदस्यों के हितों की पूर्ति के लिए राजनीतिक सत्ता को प्रभावित करता है और उनकी पूर्ति के लिए दबाव डालता है तो हम उस संगठन को दबाव समूह कहते हैं।

हित समूहों का अस्तित्व अति प्राचीन काल से रहा है। तब वर्णों एवं व्यवसाय पर आधारित व्यक्तियों के समूह हुआ करते थे जो अपने विशिष्ट हितों की रक्षा के लिए संगठित होते थे और उसके लिए प्रयास करते थे। आधुनिक समय में राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन होने से विभिन्न हित उभर कर आये। हित समूहों के अस्तित्व एवं गतिविधियों का संबंध सामाजिक चेतना एवं जागरूकता से भी है।

हित समूह और दबाव समूह वास्तव में एक ही संगठन है। जब कोई व्यक्ति समूह अपने हित के लिए संगठित होता है तो उसे 'हित समूह' कहते हैं। और जब यह अपने हितों की रक्षा के लिए सरकार या शासन पर दबाव डालता है तो उसे 'दबाव समूह' कहते हैं। दोनों का प्रयोग पर्याय के रूप में किया जाता है। अतः मूलतः एक ही संगठन के दो नाम हैं।

शासन और व्यक्ति के मध्य संपर्क सूत्र के रूप में कार्य करने वाले व्यक्तियों तथा संगठनों की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। प्रजातंत्र के विकास के साथ राजनीतिक दलों ने यह कार्य करना प्रारंभ कर दिया लेकिन आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक आदि हितों की रक्षा के लिए और शासन के सम्मुख उनके पक्ष को ठीक प्रकार से रखने के लिए अनेक संस्थानों और संगठनों का उदय हुआ जिन्हें दबाव समूहों का नाम दिया गया है।

3.4.1 दबाव समूह

विभिन्न लेखकों ने दबाव समूहों की पृथक–पृथक परिभाषाएं दी हैं। एच. जेगलर के शब्दों में–''दबाव समूह ऐसा संगठित संगठन है जो अपने सदस्यों को सरकार में सम्मिलित किए बिना सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने की इच्छा रखते हैं।"

मायरन वीनर के अनुसार, ''दबाव या हित समूह का तात्पर्य ऐसे स्वैच्छिक संगठनों से है जो शासकीय संगठन से बाहर रहते हुए भी सरकारी अधिकारियों की नियुक्ति, विधि निर्माण और सार्वजनिक नीति के निर्माण और क्रियान्वयन को प्रभावित करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं।''

टिप्पणी

कुछ अन्य लेखकों के अनुसार ''जब समाज के कुछ वर्ग अपने हितों के संबंध में इतने चैतन्य हो जाते हैं कि वह एक निश्चित संगठन का निर्माण कर लेते हैं और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्वाचित तथा नियुक्ति सरकारी अधिकारियों को सक्रिय रूप से प्रभावित करने लगते हैं तब उन्हें एक दबाव गुट का स्तर प्राप्त हो जाता है।"

सीधे सादे शब्दों में दबाव समूह को सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के उद्देश्य से निर्मित गैर सरकारी समूह कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए–औद्योगिक व्यवसायी, वाणिज्यिक, श्रमिक और अन्य वर्गों के समूह विधि निर्माण और प्रशासनिक कार्यों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं, जिनसे कि वे अपने हितो में कानून बनवा सके। इस प्रकार दबाव समूह अपने सदस्यों के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक, विशेषतया उनके आर्थिक एवं व्यावसायिक हितों की रक्षा तथा वृद्धि में संचालित रहते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दबाव समूह से तात्पर्य–

(अ) व्यक्तियों के एक ऐसे संगठन से है जो सामान्य हितों अथवा उद्देश्यों के लिए कार्य करता है।

(ब) यह संगठन सरकार पर अधिकार की आकांक्षा नहीं रखता है।

(स) यह सरकार से बाहर रहकर सरकार और प्रशासन की नीतियों तथा निर्णयों को अपने पक्ष में प्रभावित करने का प्रयत्न करता है।

(द) अपने पक्ष में दबाव बनाने के लिए यह संगठन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि समूह सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करता है।

दबाव समूह के लक्षण– दबाव समूह के संबंध में उपर्युक्त विचारों के आधार पर दबाव समूह के निम्नलिखित लक्षण हैं–

1. प्रत्येक दबाव समूह के कुछ निश्चित लक्ष्य होते हैं और ये अपनी गतिविधियों को सामान्यतः इसी विशेष लक्ष्य तक सीमित रखते हैं।
2. दबाव समूह औपचारिक और अनौपचारिक रूप से संगठित हो सकते हैं जैसे– राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ औपचारिक रूप से संगठित दबाव समूह हैं और जाति एक बहुत अधिक शक्तिशाली अनौपचारिक दबाव समूह है।
3. दबाव समूह की सदस्यता परस्पर व्यापी होती है अर्थात एक व्यक्ति एक समय में अनेक दबाव समूहों का सदस्य हो सकता है।
4. दबाव समूह अपने हितों की पूर्ति के लिए उचित एवं अनुचित, संवैधानिक एवं असंवैधानिक सभी साधनों का प्रयोग करते हैं।
5. दबाव समूह सर्वव्यापी होते हैं अर्थात ये सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं में पाए जाते हैं। सर्वाधिकारी और स्वेच्छाचारी व्यवस्थाओं में भी ये क्रियाशील होते हैं।
6. दबाव समूह प्रशासन या राजनीति (सत्ता के खेल) में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेते अर्थात चुनाव नहीं लड़ते लेकिन वे परदे के पीछे रहकर राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करते हैं। प्रो. जौहरी के अनुसार ये समूह राजनीति के साथ लुका

टिप्पणी

छुपी का खेल खेलते हैं। वे राजनीति में हैं भी और नहीं भी हैं। व्यवहार में दबाव समूह राजनीति क्रिया अभिमुखी भी होते हैं।

7. दबाव समूह का कार्यकाल अनिश्चित होता है और ये अपने हितों के अनुकूल बनते–बिगड़ते रहते हैं।

दबाव समूहों के दोष– दबाव समूहों की अनेक दृष्टियों से आलोचना की गयी है, विशेषकर सरकार तथा प्रशासन में उनकी भूमिका के संदर्भ में पिछले समय में प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत दबाव समूहों को भ्रष्टाचार का प्रतीक माना जाता है और आज भी अनेक लोग इन्हें इसी रूप में देखते हैं। कार्ल फ्रेडरिक के अनुसार, कूड़ा ढोने वाले और राजनीतिशास्त्र के गंभीर विद्यार्थी, दोनों ही इन्हें (दबाव समूह को) हेय दृष्टि से देखते थे। इन्हें ऐसी भ्रष्ट शक्ति माना जाता है जो आधुनिक प्रजातंत्र तथा प्रतिनिधि शासन की जोड़ी को धीरे–धीरे कुतरकर नष्ट करने पर तुले हैं।

दबाव समूहों की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं–

1. **स्वेच्छाचारी एवं अप्रजातांत्रिक**– दबाव समूह राजनीति में परोक्ष भूमिका निभाते हैं। वे राजनीति प्रभाव एवं शक्ति का प्रयोग तो करते हैं लेकिन किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। इसलिए इनकी गतिविधियों को स्वेच्छाचारी एवं अप्रजातांत्रिक कहा जाता है।
2. **संकीर्णता के प्रतीक**– विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने के कारण दबाव समूह संकीर्ण दृष्टिकोण को जन्म एवं बढ़ावा देते हैं जो कि राष्ट्र एवं समाज के लिए उचित नहीं है।
3. **सार्वजनिक हितों की उपेक्षा**– दबाव गुटों के कारण विभिन्न समूहों के बीच हितों का संघर्ष चलता रहता है और कभी–कभी उसके वर्गीय हितों से सामान्य हितों की हानि का खतरा बना रहता है। इससे सार्वजनिक हितों की उपेक्षा होती है और हितों के दुराग्राही वातावरण में सार्वजनिक हित कमजोर पड़ जाते हैं।
4. **भ्रष्ट आचरण**– आलोचकों के अनुसार दबाव समूह भ्रष्ट आचरण के केंद्र होते हैं। दबाव समूह द्वारा विधायकों को घूस देने तथा अन्य अनुचित आचरण के कार्य किए जाते हैं, जिनका सार्वजनिक जीवन पर बहुत अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है।
5. **अंतर्राष्ट्रीय हितों में बाधक**– अनेक बार दबाव समूह अंतर्राष्ट्रीय हितों को हानि पहुंचाते हैं। पश्चिमी देशो और अमेरिका में ऐसे दबाव समूह हैं जो शास्त्रों के निर्माण एवं क्रय विक्रय को बढ़ावा देकर तृतीय विश्व युद्ध की स्थिति उत्पन्न करते हैं।

वर्तमान समय में दबाव समूहों के संबंध में यह धारणाएं बदल गयी हैं। आजकल प्रशासन में दबाव समूहों की भूमिका को सराहा जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि दबाव समूह अब अत्यंत संगठित रूप से और उत्तम प्रशासनिक ढांचें की सहायता करते हैं। एक ओर दबाव समूह जनतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के साधन बन गए हैं तो दूसरी ओर यह शासन के लिए सूचनाएं एकत्रित करने के माध्यम के रूप में भी कार्य करते हैं। अपनी शक्ति तथा प्रभाव के कारण यह सरकार की निरंकुशता

टिप्पणी

तथा अनुत्तरदायित्वता पर नियंत्रण लगाने का कार्य भी करते हैं। आज दबाव समूह प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था का एक आवश्यक अंग बन गए हैं। और एक लेखक के अनुसार,'' दबाव समूह अच्छे हैं या बुरे इस संबंध में सूचना एकत्र करना वैसा ही है जैसा इस संबंध में विचार करना कि हवाएं और ज्वार भाटे अच्छे होते हैं या बुरे?'' वर्तमान जनतांत्रिक व्यवस्था के यह आवश्यक अंग बन गए हैं और इसी रूप में इन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए।

राजनीतिक दल एवं दबाब समूह में तुलना– राजनीतिक दल प्रतिनिध्यात्मक प्रजाजंत्र का आवश्यक अंग होते हैं। प्रजातंत्रीय व्यवस्था को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का कार्य राजनीतिक दल ही करते हैं। निर्वाचनों में इनकी अहम भूमिका रहती है। दबाव समूह का निर्माण संविधान के आधार पर नहीं अपितु हितों की रक्षा के लिए किया जाता है। अभिसमयों के आधार पर दबाव समूहों को मान्यता प्राप्त होती है। उनका स्वरूप राजनीतिक नहीं होता यद्यपि राजनीति में उनकी रुचि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनी रहती है। यह पेशेवर ढंग से कार्य करते हैं और किसी भी दल की सरकार हो, इनकी रुचि केवल अपने हितों की पूर्ति में होती है।

राजनीतिक आधार पर राजनीतिक दल और दबाव समूह दोनों का ही उद्देश्य सरकार के माध्यम से अपने–अपने हितों की पूर्ति करना है। फिर भी, इन दोनों में अनेक असमानताएं भी विद्यमान हैं।

(i) राजनीतिक दलों का मुख्य उद्देश्य सत्ता पर अधिकार करना होता है। इसके लिए वे बहुमत प्राप्त होने की दशा में राजनीतिक दल सरकार का गठन करते हैं। जबकि दबाव समूह कुछ निश्चित हितों की पूर्ति के लिए प्रशासन और सरकार पर दबाव डालते हैं। इस प्रकार दबाव समूह, राजनीतिक दलों के विपरीत, सत्ता से बाहर रहकर अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करते हैं।

(ii) राजनीतिक दलों का कार्यक्षेत्र व्यापक और कार्यक्रम अत्यंत विस्तृत होता है क्योंकि उन्हें संपूर्ण राष्ट्र के सभी वर्गों के हित में कार्य करना पड़ता है। दूसरी ओर दबाव समूह किसी विशिष्ट वर्ग से ही संबंधित होते हैं और उसके हितों की पूर्ति के लिए ही कार्य करते हैं। इस प्रकार उनका कार्यक्षेत्र और कार्यक्रम दोनों ही सीमित होते हैं।

(iii) राजनीतिक दलों का संगठन भी दबाव समूहों की तुलना में बहुत बड़ा होता है। राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक स्तर पर कार्य करना होता है इसलिए उनका आकार बड़ा होता है। दबाव समूह एक सीमित क्षेत्र में सीमित उद्देश्यों के लिए कार्य करते हैं, इसलिए उनका आकार छोटा एवं सदस्य संख्या भी कम होती है।

(iv) सदस्यता के स्वरूप की दृष्टि से भी राजनीतिक दलों तथा दबाव समूहों में अंतर होता है। राजनीतिक दलों में व्यक्ति केवल एक ही दल का सदस्य हो सकता है। दूसरी ओर व्यक्ति एक ही समय में एक से अधिक दबाव समूहों का सदस्य हो सकता है।

(v) संगठन की दृष्टि से भी राजनीतिक दलों तथा दबाव समूहों में अंतर होता है। राजनीतिक दलों का संगठन औपचारिक रूप से किया जाता है। इनका संविधान होता है, नियम होते हैं तथा अनुशासन व्यवस्था होती है। इसके विपरीत दबाव

टिप्पणी

समूहों का संगठन औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही प्रकार का होता है और इनमें इतनी नियमबद्धता और कठोर अनुशासन नहीं होता है।

(vi) राजनीतिक दलों तथा दबाव समूहों की कार्य पद्धति में भी अंतर होता है। राजनीतिक दल संविधान के दायरे में और विभिन्न नियमों के अन्तर्गत कार्य करते हैं। दूसरी ओर दबाव समूह भी कानून की परिधि में कार्य करते हैं परंतु व्यावहारिक स्तर पर इनकी कार्य पद्धति राजनीतिक दलों से अधिक लचीली होती है।

इन अंतरों के बावजूद दोनों के मध्य नजदीकी संबंध होते हैं क्योंकि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोनों को एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। इस दृष्टि से प्रजातांत्रिक व्यवस्था में दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं।

भारत में दबाब गुट

दबाव गुटों की संख्या बहुत अधिक है। इसलिए उनके वर्गीकरण का कोई एक निश्चित आधार नहीं हो सकता। उद्देश्य या हितों की दृष्टि से भारत में दबाव गुटों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

व्यापारिक संघ

जिन देशों में मुक्त एवं मिश्रित अर्थव्यवस्था होती है वहां व्यापारिक समूह बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे अपने हितों की भरपूर रक्षा कर सकते हैं। व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए 1887 में भारतीय वाणिज्य मण्डल का गठन किया। भारत के विभिन्न वाणिज्य मण्डल एक केंद्र संगठन द्वारा आपस में जुड़े हुए हैं जिसे भारतीय वाणिज्य और उद्योग मंडल संघ अर्थात 'फिक्की'– बड़े–बड़े व्यापारिक घरानों–टाटा, बिरला, गोयनका, डी.सी.एम., डालमिया और हिन्दुस्तान लिवर्स आदि का भी प्रतिनिधित्व करती है। यह छोटे निर्माताओं के हितों की भी रक्षा करती है।

वाणिज्य मॉडल

भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली दो दबाव–समूह व्यापारिक व उद्योग समूह एवं श्रम–समूह हैं। फेडरेशन ऑफ इंडियन चेंबर ऑफ कॉमर्श एंड इंडस्ट्री (FlCCI) का निर्माण सन् 1926 में किया गया जो कि भारतीय उद्योगपतियों व व्यापारियों का सबसे शक्तिशाली संगठन है। आज इसके पास 137 सदस्य–निकाय एवं 286 एसोसिएटेड सदस्य (टाटा आयरन व स्टील, हिन्दुस्तान मोटर्स इत्यादि) सम्मिलित हैं। भारत में अन्य महत्वपूर्ण उद्योग/व्यापारिक समूह हैं– Confederation of Indian Industries (CII), the Associated Chambers of Commerce (ACC), a foreign interest and All India Manufacturers Organization (AIMO)। AIMO का निर्माण सन् 1941 में किया गया था: यह छोटे उद्योगों के हितों में सहयोग करता है।

मजदूर संघ

मजदूरों और कर्मचारियों को 'मजदूर संघ' या 'श्रमिक संघ' कहते हैं। उनका प्रमुख उद्देश्य मिल मालिकों, सरकार और प्रबंधकों से मजदूरी की दरों, कार्य के शब्दों और अन्य कल्याण कार्यों के बारे में बातचीत व सौदेबाजी करना है। भारत में 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन

टिप्पणी

कांग्रेस 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' मजदूर सभा, भारतीय मजदूर दल, सेंटर ऑफ इण्डियन ट्रेड यूनियन आदि प्रमुख मजदूर संघ हैं। ये दबाव समूह विभिन्न राजनैतिक दलों से जुड़े हैं तथा अपने हितों की पूर्ति के लिए लगातार सरकार पर दबाव डालते रहते हैं।

भारत के विभिन्न नगरों में इस समय बैंक, रेलवे, बीमा निगम, सरकारी कार्यालयों और बिजली व जल आपूर्ति में लगे हुए कर्मचारियों की अपनी यूनियनें है। वे उपरोक्त अखिल भारतीय संगठनों में से किसी एक के साथ संबद्ध हैं। इस समय कई मजदूर संगठन सरकार की नई आर्थिक नीतियों का विरोध कर रहे हैं। वे इस बात के खिलाफ हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग निजी क्षेत्र के लिए खोल दिए गए हैं।

संघों की मान्यता, रद्दीकरण एवं उनके अधिकार

जब सामूहिक सौदेबाजी की प्रणाली प्रचलित नहीं थी व नियोजक तथा मजदूरों के बीच व्यक्तिगत समझौता हुआ करता था, तब संघों की मान्यता का प्रश्न बड़ा ही गौण था। नियोक्ता उसे मान्यता नहीं देते थे। इसके साथ ही किसी को बीच में रख कर श्रमिक प्रतिनिधियों से बात करने में भी संकोच करते थे।

नियोजक श्रमिक संघों की आवश्यकता को औद्योगिक जगत में कुछ महत्व ही नहीं देते हैं। शुरू में मान्यता देना, न देना नियोजकों के विवेक पर निर्भर करता है। बिना अधिकार के श्रमिक संघ मान्यता की मांग भी नहीं कर सकते हैं। इस कारण उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में भी कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि उनके प्रतिनिधि शीधे विचार–विमर्श नहीं करने देते हैं। इस समस्या के निवारण के लिए अधिनियम में संशोधन किया गया और ''दी इण्डियन ट्रेड यूनियन'' एक्ट 1947 के पारित किया गया, लेकिन उसे लागू नहीं किया गया। इसकी धारा 28क व 28झ में मान्यता संबंधी प्रावधान किए गए। दूसरी पंचवर्षीय योजना में अनिवार्य मान्यता के लिए प्रस्ताव तो दिया गया लेकिन उसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका। सरकार का यह मत रहा है कि औद्योगिक समस्याओं का एकमात्र हल संघ को अनिवार्य मान्यता देने की व्यवस्था नहीं है। इन्टक (इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस) का सुझाव था कि मान्यता सदस्यों के आधार पर दी जानी चाहिए, जबकि एटक (आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस) के अनुसार सदस्यों की गुप्त राय को आधार बनाना चाहिए। संसदीय समिति ने सुझाव दिया कि कम से कम एक यूनियन को मान्यता देना प्रबंधकों के लिए अनिवार्य होना चाहिए। आज भी सरकार की शिथिलता के कारण स्थिति पूर्णवत बनी हुई है। संघों को मान्यता देने का कोई निश्चित उपाय नहीं है। ऐसा सभी जगहों पर है लेकिन सौभाग्यवश भारत के चार राज्यों, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश व महाराष्ट्र में मान्यता का वैधानिक प्रावधान बना दिया गया है। महाराष्ट्र सरकार द्वारा ''महाराष्ट्र रिकाग्निशन ऑफ ट्रेड यूनियन एण्ड प्रिवेन्शन ऑफ अनफेयर लेबर एक्ट 1971 में लागू किया गया। अन्य सरकारों को इसके लिए कदम उठाने चाहिए। इग्लैण्ड, भारत व अन्य देशों में यह समस्या बनी हुई है।

इस समस्या के कारण इंग्लैंड ने 1947 में संशोधित पंजीकृत श्रमिक संघ को नियोजक द्वारा मान्यता देना अनिवार्य बना दिया। इस संबंध में भारत में 1947 में ही एक विधेयक पेश कर दिया गया था लेकिन किसी कारणवश यह लागू नहीं हो सका।

हमारे यहां 1966 में दुबारा इस पर विचार करके उसी वर्ष अधिनियम के पूर्व रूप को ध्यान में रखकर एक संशोधन पेश किया। जिसको स्वीकृति भी मिल चुकी थी। सरकार द्वारा घोषणा की गई कि नियोजक पंजीकृत संघों को मान्यता प्रदान करे।

टिप्पणी

सरकार ने मान्यता प्रदान करने का सुझाव दिया और व्यापार संघ को ही प्रबंधकों से सौदेबाजी करने का अधिकार दिया। जहां 100 से ज्यादा मजदूर काम करते हैं, वहां मान्यता जरूर होनी चाहिए। मान्यता से दोनों पक्षों का लाभ होता है। बड़े बड़े कारखानों में जहां हजारों श्रमिक कार्य करते हैं, वहां सभी से व्यक्तिगत मिलना, महत्वपूर्ण मामलों में सबकी सहमति लेना, नियोजकों के लिए कठिन होता है। आधुनिक युग में औद्योगिक समस्या इतनी है कि इनके निवारण के लिए विचार करना साधारण मजदूरों के बूते के बाहर है। इसलिए संघों को मान्यता प्रदान करना अनिवार्य होता है।

त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन संघों की सदस्यता के सत्यापन में एक समझौता कर पाया और उसमें सिफारिश की गई कि किसी एक उद्योग इकाई में सामूहिक सौदेबाजी करने के लिए मजदूर संघ की पहचान के लिए नई प्रणाली लागू होनी चाहिए। इसमें सदस्य संख्या जानने के लिए वेतन रजिस्टर की संख्या से पता लगाया जाएगा। केवल मजदूर संगठन ही सामूहिक सौदेबाजी करने का अधिकार रख सकते हैं जिनका समय कम से कम तीन–चार वर्ष तक रहे जबतक कोई दूसरा संघ सफलतापूर्वक चुनौती देने लायक नहीं होता है। आयोग यह निश्चित करने का कार्य सौंपा जाए कि सामूहिक एजेन्ट बनने के लिए सदस्य संख्या क्या होगी। जहां यह सम्भव हो वहां सामूहिक सौदेबाजी संगठन की स्थापना की जाए जिसमें एक से अधिक यूनियनों पर प्रतिबंध हो। सम्मेलन में यह भी सिफारिश की गई मजदूर संगठनों व मालिकों के लिए अलग नियम व धाराएं बनाई जाएं व उनका यदि पालन नहीं किया जाए तो उसमें दण्ड का प्रावधान भी हो। साथ में औद्योगिक आयोग का गठन किया जाए और उसे यूनियन के सदस्यों की पुष्टि का कार्य सौंपा जाए।

मान्यता प्राप्ति के ढंग को दो भागों में बांटा गया–

1. नियोजन व संघ
2. श्रम न्यायालय द्वारा धारा 28(घ)

पहली श्रेणी में आनेवाली संस्था के अधिकारी नियोजक से प्रार्थना करेंगे और दूसरे उपाय का सहारा नहीं लेंगे। इस बीच यदि नियोजक उनकी बात मान कर समझौता करता है तो ठीक है नहीं तो यह नियोजक को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते रहेंगे। मान्यता के लिए दोनों पक्षों में एक लिखित समझौता हस्ताक्षर युक्त पत्र के साथ तैयार किया जाएगा जिसको रजिस्ट्रार के यहां पंजीकृत करना जरूरी होगा। यदि संघ अपने प्रयास में सफल नहीं होता है तो 3 महीने बाद वह दुबारा स्थानीय न्यायालय में मान्यता दिलवाने के लिए प्रार्थना पत्र दे सकता है। किसी भी प्रश्न को स्पष्ट करने की मांग पर संघ को अपना निर्णय देना होगा अन्यथा मान्यता देना न्यायालय पर निर्भर करेगा। पूर्व एवं समुचित कारणों के बिना मान्यता का प्रार्थना पत्र अस्वीकार किया जा सकता है। यदि न्यायालय मान्यता दे देता है तो उसकी सूचना न्यायालय द्वारा नियोक्ता को दी जाएगी, जिससे संबंधित यह संघ है।

टिप्पणी

मान्यता प्रदान करने की कसौटी

निम्न शर्तों के पूर्ण होने पर ही संघों को मान्यता दी जानी चाहिए :

(1) संघ का संविधान जमा किया गया हो और उसका उद्देश्य वैधानिक हो।

(2) मान्यता की मांग करने वाला संघ पंजीकृत किया गया हो।

(3) संघ आचार संहिता को स्वीकार करता हो।

(4) संघ के सभी सदस्य नियोजक के अधीन कार्य करते हों।

(5) अधिकांश श्रमिक सदस्यता ग्रहण कर चुके हों।

(6) संघ की स्थापना को कम से कम एक वर्ष बीत चुका हो।

(7) इसमें दो वर्ष में कोई परिवर्तन नहीं हुआ हो।

मान्यता वापसी के लिए आवेदन प्रक्रिया

मान्यता वापस लिए जाने के लिए धारा 28(3) के अनुसार रजिस्ट्रार या नियोजक श्रम न्यायालय को लिखित रूप से मान्यता वापस लिए जाने के लिए निम्न में से किसी भी आधार पर आवेदन दे सकता है

(1) संघ सदस्यों का प्रतिनिधित्व करने में सफल नहीं रहता है।

(2) किसी प्रकार का विवरण मांगे जाने पर संघ द्वारा उपलब्ध नहीं कराने पर।

(3) संघ सदस्यों ने आवेदन देने के तीन माह के अन्दर धारा 28 में लिखे नियम के अनुसार कोई अनुचित व्यवहार किया हो।

(4) संघ द्वारा अपना वार्षिक लेखा जोखा रजिस्ट्रार के पास नहीं भेजा गया हो।

(5) संघ की कार्यकारिणी की बैठक 6 महीने के अन्दर नहीं होती। 6 माह के भीतर बैठक करवाना अति आवश्यक है। सामान्यतः एक बार दी गई मान्यता वापसी नहीं की जाती है लेकिन कुछ परिस्थितियां ऐसी बन जाए जिसके तहत मान्यता छीनी व वापिस की जा सकती है। इसके लिए संघ न्यायालय को कारण बताओ नोटिस देना पड़ता है। दोनों पक्षों को उचित अवसर दिया जाता है और न्यायालय दोनों पक्षों की राय जानने के बाद ही मान्यता जारी रखने या वापस लेने (रद्द करने) का निर्णय सुनाता है।

नई मान्यता के लिए आवेदन– धारा 28 (ज) मान्यता वापस होने के बाद 6 माह की न्यूनतम अवधि बीतने पर मान्यता के लिए दुबारा आवेदन पत्र दे सकते हैं। इसकी प्रक्रिया वही होगी जो पहले मान्यता लेते समय की गई थी।

राष्ट्रीय श्रम आयोग के मान्यता विषयक सुझाव–

(1) 100 से ज्यादा मजदूर कार्य करते हों लेकिन जिसमें से 30 प्रतिशत सदस्यों की सहमति होनी चाहिए।

(2) संघों को सौदेबाजी करने, सदस्यता शुल्क प्राप्त करने व अन्य मामलों के लिए अधिकार दिया जाना चाहिए।

(3) अल्पसंख्यक श्रमिक संघ को श्रमिकों को सेवा से हटाने के लिए श्रम न्यायालय में अपना आवेदन प्रस्तुत करने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

(4) संघ का चुनाव या तो सदस्यों के आधार पर या गुप्त आधार पर होना चाहिए।

टिप्पणी

संघों के अधिकार

(1) प्रत्येक पंजीकृत एवं मान्यता प्राप्त संघ को चल व अचल सम्पत्ति खरीदने, रखने व इसका उपयोग करने का अधिकार होना चाहिए।

(2) किसी भी औद्योगिक विवाद के वक्त संघ के सदस्य समूह का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार औद्योगिक विवाद धारा 36 1947 में दी गई थी। लेकिन प्रतिनिधित्व करने का अधिकार उसी संघ को होगा जिस संघ में 15 प्रतिशत मजदूर सदस्य बन चुके हों। त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन में यह सिफारिश की है कि उन्हीं संगठनों को भारतीय श्रम सम्मेलन में प्रतिनिधित्व दिया जाए जो इस सम्मेलन की सिफारिशों का पालन करना स्वीकार करें। संगठन को केंद्रीय संगठन माना जाए। उसकी सदस्य संख्या चार उद्योगों में पांच लाख हो। इंग्लैंड व अमेरिका में भी इसी प्रकार के अधिकार दिए गए। न्यूजपेपर्स लि. इलाहाबाद बनाम स्टेट इंडस्ट्रियल ट्रिव्युनल के मामले में उच्चतम न्यायालय ने माना कि मामले को उठाने को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती, विवाद यदि अपंजीकृत संघ से उठाया गया है।

(3) पत्राचार एवं विचार–विमर्श का अधिकार–निष्कासन, निलम्बन, छटनी, सेवा दशाओं में परिवर्तन, छुट्टी, आर्थिक दण्ड के बाद में श्रमिक संघ अपने नियोजक से पत्र व्यवहार करें, उसकी कार्यवाही के लिए जानकारी की मांग करें। सभी पत्र व्यवहार संघ या इसके अधिकारी के नाम से किए जाने चाहिए।

(4) संघ अपने सदस्यों को अनुशासन भंग करने पर दण्डित करे। अनुशासन के लिए नियम रखना जरूरी होता है। यदि इस प्रकार का अधिकार संघ के पास नहीं होता है तो संघ का कार्य सुचारू रूप से नहीं चल सकता है।

(5) नियोजक द्वारा किए गए किसी भी जोर जुल्म या अवैधानिक कार्य के प्रति सरकार का ध्यान अपनी और आकृष्ट करने का अधिकार है। वह सरकार से मदद भी मांग सकने का अधिकार रखता है।

(6) सदस्यता शुल्क लेने का अधिकार भी संघ के पास होता है।

(7) संघ का अधिकार किसी भी उचित स्थान पर किए जाने वाले कार्य का निरीक्षण करना व किसी भी प्रकार की जानकारी प्राप्त करना होता है।

(8) अपने नाम से वाद प्रस्तुत करना या दूसरों के खिलाफ वाद लाना। संविदा में प्रवेश करते समय अपनी सील (मुहर) के प्रयोग का अधिकार है।

(9) मान्यता प्राप्त संघ अपने सदस्यों को लाभ पहुंचाने किसी भागीदारी से भागीदार होकर लाभार्जन के लिए प्रयत्नशील हो सकता है।

(10) संघ अपने नाम में परिवर्तन करने का अधिकार रखता है लेकिन इसके लिए 2/3 सदस्य इनके पक्ष में होने चाहिए। वह अपने कार्यकाल को भी बढ़ा सकता है लेकिन किसी भी परिवर्तन की सूचना देना अनिवार्य है। धारा 12 के अनुसार 14 दिन के अन्दर किसी प्रकार का परिवर्तन करने पर उसकी सूचना रजिस्ट्रार को देनी होती है।

टिप्पणी

(11) एक संघ दूसरे संघ में मिल सकता है। इस प्रकार के सम्मिलित होने वाले संघों के लिए सभी सदस्यों की एक साधारण सभा में 60 प्रतिशत बहुमत से प्रस्ताव पारित होना आवश्यक है। प्रस्ताव की कॉपी रजिस्ट्रार को भेजनी होती है।

(12) संघ त्रिपक्षीय समिति–उत्पादन, कल्याण, कैन्टीन, आवास आपूर्ति कमेटी के लिए, संयुक्त प्रबंध समिति में नामित रख सकते हैं। आय नीति तय करने के लिए भी उन्हें भेज सकते हैं।

मूल्यांकन

इस अधिनियम को पास करने के बाद श्रमिक नेताओं ने यह माना कि औद्योगिक नियोजको पर ऐसा कोई बंधन नहीं था कि वे व्यवसाय संघों को मान्यता दे सकें। इस अधिनियम के तहत पंजीकरण की व्यवस्था की गई थी लेकिन उसको मान्यता देने की जिम्मेदारी नहीं दी गई थी। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए 1948 में व्यवसाय संघ अधिनियम पारित किया गया।

3.4.2 हित समूह

कई शासकीय व अशासकीय संगठन कृषकों को समूहों में संगठित करने एवं विकास प्रक्रिया में समाकलित करने के प्रयास करते रहे हैं ताकि ये ग्राम्य विकास, कृषि व सम्बन्धित क्षेत्र–विकास, प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन की विभिन्न परियोजनाओं की निगरानी, क्रियान्वयन, नियोजन, उत्पादन व विपणन, प्रौद्योगिकी–हस्तान्तरण इत्यादि में सक्रिय भागीदारी निभाएं। कुछ प्रचलित उदाहरण हैं– Farmers' Interest Groups (FIGs) / Farmers' Organizations (FOs) under National Agricultural Technology Project (NATP), Farmers' federation under UPDASP, Watershed Associations under Participatory, Watershed Management Programs, संयुक्त वन–प्रबन्धन परियोजनाओं के तहत वन संरक्षण समिति, Farmers' Clubs under NABARD scheme, Self-Help Groups of farmers organized by MYRADA and CEAD in Andhra Pradesh and RythuMithra Groups (RMG) in Andhra Pradesh; ये कुछ ऐसी पहलें हैं जिनके द्वारा किसानों को एकजुट किया व आगे बढ़ाया गया है। केरल उद्यानिकी विकास कार्यक्रम (KHDP) द्वारा स्व–सहायता समूहों का निर्माण किया गया ताकि सब्जी व फल उगाने वालों को नवीन प्रौद्योगिकी व सहभागी प्रौद्योगिकी विकास (PTD) कौशलों को बढ़ावा देने में सहायता हो, किसानों को क्रेडिट पाने में सहायता रहे एवं संयुक्त विपणन द्वारा उनका नेगोशिएटिंग पॉवर बढ़े। सब्जी व फल प्रमोशन परिषद भी केरल में कार्यरत है। किसानों के हित की रक्षा के लिये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा सन् 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा नामक एक किसान मोर्चे की स्थापना की गयी। इसके द्वारा INC के अविभाज्य भाग के रूप में कार्य किया जाता था। वैसे Communist Party of India (CPI) के निर्माण से अखिल भारतीय किसान सभा CPI के अधीन ले ली गयी। भारत के समस्त मुख्य राजदलों के अपने–अपने किसान मोर्चे हैं जो अपने–अपने दल के नियन्त्रण में कार्य करते हैं। समय–समय पर ये किसानों से सम्बन्धित प्रसंगों को सामने लाते हैं व उनके हित में निर्णय करने की मांग करते रहते हैं परन्तु इनकी कार्यशीलता उनके राजदलों तक सीमित रहती है। कुछ कृषक आंदोलनों की चर्चा भी यहां की जा रही है।

टिप्पणी

किसान संगठन

भारत में मजदूर आंदोलन के मुकाबले किसान आंदोलन बहुत शिथिल रहा है क्योंकि प्रत्येक प्रांत और क्षेत्र के किसानों की समस्याएं अलग–अलग हैं तथा किसान सुदूर ग्रामीण इलाकों में रहता है। महाराष्ट्र और गुजरात के किसानों की समस्या कपास के समर्थन मूल्य की है। तो पंजाब की समस्या सरकारी खरीद की है। उत्तर प्रदेश के किसानों की समस्या गन्ने की कीमत की है। फिर भी, तीन ऐसी मांगें हैं, जिन पर देश भर का किसान सहमत है– फसल का उचित दाम, उचित खेत मजदूरी और कर्जों से मुक्ति। इन मांगों को लेकर अनेक किसान संगठनों का गठन हुआ जो समय–समय पर आंदोलन करते रहे।

कृषक आंदोलन

अंग्रेजी शासन काल में पूर्वी भारत, मध्य भारत और उत्तरी भारत में जमींदारी प्रथा प्रचलित थी तथा पश्चिमी भारत तथा दक्षिणी प्रांतों में रैयतवाड़ी प्रथा। जमींदारी प्रथा के अंतर्गत किसानों से लगान उगाहने का काम जमींदारों को सौंप दिया गया और सरकार ने उन्हें भूमि का मालिक मान लिया। जमींदारों ने किसानों का खूब शोषण किया। इस तरह यह वर्ग धनाढ्य होता गया। रैयतवाड़ी प्रथा में सरकार का किसानों से सीधा संबंध था अर्थात करो की उगाही सरकार किया करती थी, जमींदार नहीं, पर लगान की राशि इतनी अधिक थी कि अधिकांश किसान उसे चुकाने में असमर्थ थे।

भूमिकर या लगान के अतिरिक्त किसानों को और भी कई तरह के कर देने पड़ते थे। जिससे उनकी आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा। समय–समय पर होने वाली प्राकृतिक विपदाओं–सूखा और अतिवर्षा–से उनकी कंगाली बढ़ी। जिसके कारण कुछ किसानों को भूमि बेचनी पड़ी और वे खेतिहर मजदूरों की स्थिति में पहुंच गए। कृषकों की दशा सुधारने के लिए कई कानून बनाए गए, जैसे कृषि ऋण अधिनियम तथा भूमि–सुधार अधिनियम परंतु कृषक हितों की प्रभारी ढंग से रक्षा नहीं की जा सकी।

भारत में किसान संघर्ष की परंपरा बहुत पुरानी है। आधुनिक काल, विशेषकर 1857 के बाद के किसान आंदोलन का यदि वर्गीकरण किया जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संघर्ष के कुछ मुख्य लक्ष्य रहे हैं : (1) जमींदारों और साहूकारों से बदला लेने की भावना (2) एक विशेष प्रकार की फसल पैदा करने की मजबूरी से उत्पन्न रोष (3) राजनीतिक जागृति से उत्पन्न संघर्ष अर्थात महात्मा गांधी या कांग्रेस के आह्वान पर छेड़ा गया आंदोलन (4) सूखा पड़ने पर और फसल नष्ट हो जाने के कारण आंदोलन तथा (5) स्वतंत्रता के बाद कुछ प्रमुख गैर–राजनीतिक आंदोलन।

कुछ प्रमुख कृषक विद्रोह

1857 के विप्लव में किसानों ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और उसके बाद उन्हें अपने कृत्यों की सजा भी मिली। इस विप्लव से पहले बंगाल की संथाल जनजाति, महाराष्ट्र के कोली लोगों तथा गुजरात के भीलों ने ईस्ट इंडिया कंपनी से लड़ाइयां लड़ी थी। असम, बिहार, आन्ध्र प्रदेश और मध्यप्रदेश की जनजातियों ने भी जमींदारों और अंग्रेजों को खूब छकाया। यहां हम 1857 एवं उसके बाद के कुछ प्रमुख किसान आंदोलनों पर दृष्टिपात कर रहे हैं।

टिप्पणी

(1) **बंगाल का विप्लव**– बंगाल के स्थाई बंदोबस्त से जमींदारों को बड़ा लाभ पहुंचा। वहां की जमीन 'जूट' की पैदावार के लिए विख्यात थी और उन दिनों जूट की मांग भी बहुत थी। जमींदार लोग किसानों से कई तरह के उचित अनुचित कर वसूल किया करते थे। फलस्वरूप, किसान दरिद्र व ऋणग्रस्त होते गए और उनके हाथों से उनकी जमीन और पशु खिसकने लगे। 1870 के दशक में किसानों की मजबूरी ने विद्रोह का रूप ग्रहण कर लिया और हजारों कृषकों ने कर देने से मना कर दिया। बंगाल के कई प्रदेशों और उन्हीं से लगे संथालों के इलाकों में अराजकता फैल गई। सरकार ने किसानों का विद्रोह सख्ती से दबा दिया, पर इससे अंग्रेजों की आंखें खुल गईं। 1885 में 'बंगाल टेनेन्सी ऐक्ट' बना जिसके तहत बहुत से किसानों को उनकी भूमिका का मालिक मान लिया गया।

(2) **मराठा आंदोलन**– 1857 में महाराष्ट्र के किसानों ने बगावत कर दी। इस समय वे बहुत तंगहाल थे, चूंकि कपास की कीमत अचानक नीचे आ गयी थी। उन्होंने महाजनों पर धावा बोल दिया। कुछ दिनों के लिए ऐसा लगा मानों वीर मराठों की भूमि से अंग्रेजी शासन समाप्त हो गया। विप्लव शांत कर दिया गया, लेकिन सरकार ने दक्षिण भारत के किसानों को राहत देने के लिए कृषक राहत अधिनियम पास किया।

(3) **पंजाब का विद्रोह**– 1890 से लेकर 1900 ई. के बीच पंजाब के किसानों ने भी कई आंदोलन किए। पंजाब के किसान लगान की ऊंची दरों से परेशान थे, क्योंकि एक नियम के तहत उनकी उपज का 50 प्रतिशत तक कर के रूप से वसूल किया जा सकता है। किसान महाजनों के शोषण से भी दुखी थे। इसलिए उन्होंने महाजनों पर कातिलाना हमले किए। सरकार को यह मानना पड़ा कि लगान की दरें बहुत ऊंची हैं और लॉर्ड कर्जन के शासन–काल से ज्यादा से ज्यादा उनकी उपज का 1/5 भाग कर के रूप में वसूल किया गया।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में किसानों के प्रमुख संघर्ष

प्रो. एन. जी. रंगा और स्वामी सहजानंद के अनुसार 1919 के असहयोग आंदोलन से पहले कांग्रेस ने किसानों की मांगों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना भारतीय उद्योगपतियों की जरूरत पर। फिर भी बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में किसानों ने निम्नलिखित संघर्ष किए–

(1) **चंपारन का संघर्ष**– चंपारन में नील बगीचों के मालिक अधिकांशतः अंग्रेज थे। जो किसानों से जबर्दस्ती काम लेते थे और उन्हें सताते थे। महात्मा गांधी ने किसानों की स्थिति की जांच के लिए एक समिति गठित की लेकिन सरकार ने समिति को अपना काम करने की अनुमति नहीं दी । चंपारन जिले में महात्मा गांधी के प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया गया। गांधी जी ने निषेधाज्ञा का उल्लंघन किया, जिसके कारण उन्हें बंदी बना लिया गया। बाद में बिहार सरकार को इस समिति की सिफारिशें माननी पड़ीं।

(2) **कैरा सत्याग्रह**– इसके कुछ समय पश्चात गांधी जी ने कैरा और बारदौली के किसानों का मसला उठाया। क्योंकि इन स्थानों पर सूखा पड़ने के कारण फसलें

टिप्पणी

नष्ट हो गई थीं। बंबई सरकार ने किसानों को लगान के मामले में रियायत देने से इनकार कर दिया, जिसके कारण गांधी जी को इन दोनों स्थानों पर सत्याग्रह करना पड़ा। किसानों की विजय हुई, क्योंकि सरकार ने कुछ समय के लिए लगान की वसूली स्थगित कर दी।

असहयोग आंदोलन का किसान संघर्षों पर प्रभाव

1919–20 के आते–आते किसानों में काफी राजनीतिक जागृति आ गई थी। असहयोग आंदोलन के दौरान जगह–जगह किसानों ने लगान न देने की घोषणा की। एक प्रकार से राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने का उनका यह, पहला मौका था। इन दिनों किसानों द्वारा मुख्यतः निम्नलिखित आंदोलन चलाये गए–

(1) अवध के किसानों का विद्रोह– अवध में लगभग तीन लाख किसानों ने जमींदारों और सरकार के विरुद्ध बगावत कर दी। 1921 का अवध रेंट अधिनियम इसी बगावत का परिणाम था। इससे किसानों की कई महत्वपूर्ण मांगें मान ली गईं।

(2) मोपला विद्रोह– इस विद्रोह का स्वरूप सांप्रदायिक और आर्थिक दोनों था। मालाबार के मौपला किसान मुख्यतः मुसलमान थे, जबकि इस इलाके के अधिकांश जमींदार नंबूदरी ब्राह्मण थे। जमींदारों द्वारा किसानों का भारी शोषण किया जा रहा था। फलस्वरूप किसानों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह का नेतृत्व एम.के. कृष्णन नैयर और एम.पी. नरायण मेनन कर रहे थे। पर बाद में आंदोलन ने सांप्रदायिक रूप ग्रहण कर लिया।

(3) आका आंदोलन– 1922–23 के दौरान उत्तर प्रदेश के सीतापुर, रायबरेली और फैजाबाद जिलों में किसानों ने नादरी पारी के नेतृत्व में एक जबर्दस्त आंदोलन चलाया। इस आंदोलन के दौरान भारी रक्तपात हुआ। अंत में विद्रोह शांत कर दिया गया।

कृषक संगठन और बारदोली का संघर्ष

असहयोग आंदोलन के बाद किसानों के कई संगठन बने। इनमें सबसे ज्यादा महत्व बिहार की किसान सभा का है, जो स्वामी सहजानंद के नेतृत्व में बहुत शक्तिशाली बन गई थी। इन्हीं दिनों गुजरात के बारदोली जिले में किसानों के दो और संघर्ष हुए। 1929 के आंदोलन के नेतृत्व सरदार बल्लभ भाई पटेल ने किया। यह आंदोलन लगान वृद्धि के विरोध में किया गया था। उसके बाद 1930 में महात्मा गांधी की ललकार पर बारदोली के किसानों ने सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ दिया। उन्होंने लगान देने और सरकार को सहयोग देने से इनकार कर दिया। इन दोनों मौकों पर सरकार को आंदोलनकारी किसानों की मांगें माननी पड़ीं जिससे किसान आंदोलन को बड़ा बल मिला।

अखिल भारतीय किसान कांग्रेस की स्थापना तथा 1937 के चुनाव

1935 में अखिल भारतीय किसान कांग्रेस की स्थापना हुई। किसान कांग्रेस देश के सभी किसानों को अपने झंडे के नीचे संगठित करने में असफल रही। फिर भी अपने में यह कम महत्व की बात नहीं थी कि देश में पहली बार किसानों का एक अखिल भारतीय संगठन कायम किया गया। इन दिनों किसानों की कुछ मांगें यह थीं–

(i) भूमि का मालिक उन्हें बनाया जाए जो खेतों को जोतते हैं और बोते हैं,

(ii) ग्रामवासियों के लिए यातायात, शिक्षा व मनोविनोद की सुविधाएं जुटाई जाएं,

(iii) देहातों में लघु उद्योगों का विकास किया जाए तथा

(iv) सिंचाई परियोजनाओं का प्रसार हो।

1942 की अगस्त क्रांति में किसानों की भूमिका

एन.जी.रंगा के शब्दों में, 1942 की अगस्त क्रांति के दौरान भारतीय किसान की भूमिका बड़ी साहसपूर्ण, सक्रिय और प्रभावी रही। इस क्रांति में छात्र–छात्राओं और शहरी मध्यम वर्ग का योगदान भी कम नहीं था, पर किसानों ने कमाल कर दिखाया। किसानों ने पुलिस थानों और सरकारी इमारतों को घेर लिया तथा उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र, और तमिलनाडु में कई जगहों पर अंग्रेजों की सत्ता खतरें में पड़ गई। मिदानापुर और सतारा में तो अंग्रेजों को फिर से सत्ता हासिल करने में कई वर्ष लग गए। इस आंदोलन की विशेषता यह थी कि आंदोलनकारियों ने गैर सरकारी संपत्ति को कोई नुकसान नहीं पहुंचाया।

साम्यवादियों और माओ–समर्थकों द्वारा चलाए गए सशस्त्र संघर्ष

साम्यवादियों और माओ–समर्थकों के नेतृत्व में किसानों ने कई बड़े संघर्ष किए जिनमें सबसे महत्वपूर्ण और सफल विद्रोह यह थे–1946–48 का तेलंगाना विद्रोह, 1967 का नक्सलबाड़ी विद्रोह और 1969–71 का आंध्र विद्रोह। तेलंगाना के किसानों की मांग यह थी कि देशमुख और नवाब जो वहां के जागीरदार थे, उनसे अनुचित करों की मांग न करें। बाद में उन्होंने यह मांग की कि उनके ऋण रद्द कर दिये जाएं। तेलंगाना का विद्रोह लगभग ढाई वर्ष चला।

नक्सलबाड़ी पश्चिम बंगाल में स्थित है। वहां एक एक जोतदार या बड़े किसान ने 250 एकड़ भूमि पर अधिकार जमा रखा था। भूमिहीन किसानों की स्थिति बड़ी सोचनीय थी। 1969 में नक्सलबाड़ी नेता कानु सोनायल ने एक नयी कम्युनिस्ट पार्टी (लेनिनवादी मार्क्सवादी पार्टी) की स्थापना की और सशस्त्र कृषि–क्रांति के जरिए समूचे देश में समाजवाद की स्थापना की घोषणा की। नक्सलबाड़ी आंदोलन के कार्यकर्ता चीनी नेता माओत्से–तुंग के भक्त थे। उन्होंने जोतदारों को मारा और उनकी संपत्ति लूट ली। नक्सलबाड़ी विद्रोह शांत कर दिया गया। कई नक्सलबाड़ी नेता बंदी बना लिए गए और बहुत से भूमिगत हो गए।

वर्तमान किसान आंदोलन

पिछले कुछ वर्षों के दौरान महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, उत्तर प्रदेश और अन्य कई प्रदेशों में किसान आंदोलन हुए। महाराष्ट्र में किसान आंदोलन का नेतृत्व शरद जोशी ने किया। यह एक गैर राजनैतिक आंदोलन था। शरद जोशी के अनुसार सभी राजनीतिक दल किसानों को अपने लाभ के लिए इस्तेमाल करते हैं, किसानों को अपनी आर्थिक लड़ाई स्वयं लड़नी होगी।

टिप्पणी

अप्रैल 1987 में गुजरात के किसानों ने एक जबर्दस्त आंदोलन चलाया। उनकी मांग थी कि सरकार किसान से सीधे कपास खरीदे और उन्हें उनके माल का उचित मूल्य मिले।

1987 में उत्तर प्रदेश के किसानों ने शामली (मुजफ्फरनगर) में एक जबर्दस्त रैली की। इसका नेतृत्व महेन्द्र सिंह टिकैत कर रहे थे। इस आंदोलन में ''कोई जाति नहीं थी कोई राजनीति नहीं थी। सभी किसान थे और सभी की मांगें जायज थीं इसीलिए आंदोलन कामयाब रहा। सरकार को बिजली के दामों में कमी करने की घोषणा करनी पड़ी।

2 अक्टूबर 1989 को दिल्ली में बोट–क्लब पर किसानों और जवानों की एक विशाल पंचायत आयोजित की गई जिसमें पंजाब, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात से बहुत बड़ी संख्या में लोग आये। महेन्द्र सिंह टिकैत अभी हाल तक किसान आंदोलन को गैरराजनीतिक बनाए रखने पर बल देते रहे, पर 1996 में अजीत सिंह के साथ मिलकर उन्होंने भारतीय किसान कामगार पार्टी का गठन किया। उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनावों में इस पार्टी ने सिर्फ 8 सीटें जीतीं।

उक्त तथ्यों का रेखांकन किए जाने तक अर्थात वर्तमान में अभिनव किसान आंदोलन अस्तित्व में है। एक वर्ष से चले आ रहे इस आंदोलन का लक्ष्य सरकार द्वारा लाए जा रहे तीन कृषि कानून को निरस्त कराना है।

किसान आंदोलन की रणनीति और उसका राजनीतिक प्रक्रिया पर प्रभाव

प्रमुख किसान आंदोलन द्वारा किसानों ने अपने हितों को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। एक लम्बे अर्से से किसानों की प्रमुख मांगे ये रही हैं– जमीन का उचित बंटवारा, कृषि सुविधा जैसे जल, बीज और खाद की सुलभता तथा ग्रामीण क्षेत्रों में लाभप्रद रोजगारों का सृजन। छोटे और सीमांत किसानों को ऋण सुविधा चाहिए। नई आर्थिक नीति के अंतर्गत एक और बड़ा खतरा पैदा हो गया है। इस समय विश्व के उन्नत राष्ट्रों में बीज और पौध सामग्री में पेटेंट लेने की होड़ चल रही है। जिस कंपनी को पेटेंट मिल जाता है उसे उस पदार्थ को बेचने और विकसित करने का एकस्व अधिकार होता है। हमारे कृषि वैज्ञानिक इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि परंपरा से विकसित हमारा ज्ञान और कौशल हमारे हाथ से न निकल जाए अर्थात खाद्यान्न और अन्य फसलों के बीजों को पूरा संरक्षण मिले।

इसमें कोई संदेह नहीं कि किसान यदि 'स्वतंत्र शक्ति' के रूप में खड़े हो जाएं तो वे राजनीतिक आर्थिक प्रक्रियाओं को व्यापक रूप से प्रभावित कर सकते हैं पर अभी किसान आंदोलन के व्यापक रूप से फैलने के कोई आसार नजर नहीं आते। भारतीय किसान कामगार किसान पार्टी का भी उत्तर प्रदेश के तीन चार पश्चिमी जिलों से बाहर कोई जनाधार नहीं है। वास्तव में, तथाकथित किसान नेता, जिसमें चोटी के नेता भी शामिल हैं, बिना किसी दृष्टि व आंदोलन के किसानों के नेता बन गए हैं। गरीब–छोटे किसानों को उनका बुनियादी हक़ नहीं मिला है।

टिप्पणी

अध्यापक, छात्र और कर्मचारी संगठन

स्कूल, कॉलेज व विश्वविद्यालयों में जो लोग शिक्षण कार्य कर रहे हैं, या इस कार्यालयों व पुस्तकालयों में सेवारत हैं, इनके भी बहुत से संघ व संगठन हैं। ये लोग अपने कार्य की शर्तों, वेतनमान, पदोन्नति और नौकरी की सुरक्षा के बारे में सचेत हैं। भारत में 'ऑल इण्डिया स्टूडेंट फेडरेशन', 'स्टूडेंट फेडरेशन आफ इण्डिया', 'भारतीय राष्ट्रीय छात्र संगठन', 'अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद' आदि छात्र संगठन हैं। इसके अलावा महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षकों और कर्मचारियों के अनेक संगठन हैं। यह संगठन अपने हितों की पूर्ति के लिए सरकार और प्रशासन पर दबाव डालते हैं।

जातीय, सांप्रदायिक, भाषाई और धार्मिक हित समूह

जातीय और सांप्रदायिक समूह वे हैं जिनके सदस्य किसी जाति या कबीले से संबंधित हैं। भारत में अनेक ऐसे समूह हैं जिन्हें हम जातीय अथवा संप्रदायिक गुटों के अन्तर्गत रखेंगे। आंध्र में केंम्मा जाति के लोग, कर्नाटक में लिंगायत, केरल में ईसाई और मुसलमान, बंगाल में गोरखे और बिहार में शोषित जातियों के लोग बराबर यह मांग करते आ रहे हैं कि शिक्षा संस्थाओं और सरकारी नौकरी में उनके लिए कुछ स्थान आरक्षित किए जाए। जातीय और मजहबी हितों की रक्षा के लिए जो दबाव गुट इस समय विद्यमान हैं उनमें प्रमुख हैं : वैश्य महासेवा, पारसी अंजुमन, यंगमैंस क्रिश्चियन एसोसिएशन, सार्वदेशिक और आर्य प्रतिनिधि सभा तथा सनातन धर्म सभा। 'अनुसूचित जाति संघ' अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा करता है।

भाषाई और सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए बहुत से हित समूह विद्यमान हैं जैसे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, तमिल संघ, अंजुमन–ए–तरक्की उर्दू तथा साहित्य अकादमी आदि।

अपनी प्रगति जांचिए

5. दबाव समूह एवं हित समूह मूलतः ..... के दो नाम हैं?
   (क) विविध संगठनों (ख) एक ही संगठन
   (ग) दो संगठनों (घ) इनमें से कोई नहीं
6. इनमें से किसे दबाव समूह गुट के अंतर्गत शामिल नहीं किया जा सकता है–
   (क) व्यापारिक मॉडल (ख) वाणिज्य मॉडल
   (ग) सहकारिता (घ) मजदूर संघ

टिप्पणी

3.5 नौकरशाही : अर्थ, विशिष्टताएं एवं स्वरूप; भारत के संदर्भ में राजनीतिक विकास संबंधी महत्ता

आधुनिक युग में प्रत्येक देश के प्रशासन में लोक सेवा की महत्ता बहुत बढ़ गई है। वास्तव में, प्रशासन की सफलता लोक सेवकों की योग्यता और कार्यकुशलता पर ही निर्भर करती है। ससंदीय शासन –व्यवस्था में प्रायः मंत्रियों को अपने विभाग के कार्यों का कोई अनुभव और ज्ञान नहीं रहता, अतः उन्हें विशेषज्ञ कर्मचारियों के दिशा–निर्देश पर ही कार्य करना पड़ता है। परिणामस्वरूप नौकरशाही का विकास हो रहा है।

3.5.1 नौकरशाही : अर्थवत्ता, विशिष्टताएं एवं स्वरूप

नौकरशाही एक ऐसा शब्द है, जिसे अनादर और घृणा के साथ देखा जाता है। नौकरशाही वह व्यवस्था है, जिसमें सरकारी कार्यों का संचालन एवं निर्देश उन लोगों द्वारा किया जाता है, जो जनहित से दूर, विशेष प्रशिक्षण प्राप्त और कानून का अक्षरशः पालन करने वाले होते हैं। किसी ने ठीक ही लिखा है, ''नौकरशाही राज्य शासन संगठन की वह श्रेणी है, जिसमें अधीनस्थ कर्मचारी हुक्म के गुलाम बनकर वरिष्ठ कर्मचारियों की कृपा पर निर्भर रहते हैं, फाइलों पर नोटिस लिखते रहते हैं और अनुचित रूप से अपने बॉस के स्वर में स्वर और लय में लय मिलाते रहते हैं।'' फाइनर ने इसे 'मेज का शासन' की संज्ञा दी है।

विभिन्न विद्वानों ने नौकरशाही की परिभाषा अलग–अलग ढंग से दी है। शाब्दिक दृष्टि से इसकी परिभाषा करने पर इसका अर्थ 'मेज प्रशासन' अर्थात 'ब्यूरो अथवा कार्यालय द्वारा प्रबंधन' होता है। इस शब्द की उत्पत्ति ही फ्रांसीसी शब्द 'ब्यूरो' से हुई है, जिसका अर्थ है लिखने की मेज। इस प्रकार नौकरशाही का अर्थ उस सरकार से है, जो केवल दफ्तर में बैठकर चलाई जाती है।

विल्सन ने नौकरशाही राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी है, ''अपने व्यापक रूप में यह पदाधिकारियों की ऐसी पद्धति है, जिसमें प्रशासकीय पदाधिकारियों का वर्गीकरण होता है, जिसमें पदसोपान के आधार पर उपभाग, विभाग, संभाग, ब्यूरो आदि का निर्माण होता है। अपने सीमित रूप में यह कर्मचारियों का समूह है, जिसका संगठन पदसोपान के आधार पर किया जाता है और जो प्रभावशाली सार्वजनिक नियंत्रण से बाहर है।''

लास्की के अनुसार, ''नौकरशाही सरकार की वह व्यवस्था है, जिसकी बागडोर उच्च पदाधिकारियों के हाथों में रहती है और वे इतने स्वेच्छाकारी हो जाते हैं कि उन्हें नागरिकों की निंदा करते समय थोड़ी सी भी हिचकिचाहट नहीं होती।''

मैक्स वेबर ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है, ''यह एक प्रकार का प्रशासकीय संगठन है, जिसमें विशेष योग्यता, निष्पक्षता और मानवता का अभाव आदि लक्षण पाए जाते हैं।''

फिफनर के अनुसार, ''एक निश्चित सिद्धांत के आधार पर विधि द्वारा सामूहिक कार्यों के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नौकरशाही एक व्यवस्थित संगठन है।''

टिप्पणी

इन परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि नौकरशाही एक ऐसी प्रशासकीय व्यवस्था है, जिसमें मानवीयता का अभाव होता है, शासन करने तथा आदेश देने की प्रवृत्ति रहती है और जनता के हितों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इसका संबंध लालफीताशाही, सैनिकीकरण, अनाधिकार हस्तक्षेप, भ्रष्टाचार, अकुशलता आदि से है।

नौकरशाही की बदलती हुई धारणा

19वीं शाताब्दी में नौकरशाही का परम्परागत अर्थ लिया जाता रहा। किंतु 20वीं शताब्दी में ऐसी धारणाएं उभरकर सामने आने लगीं जिन्होंने स्वीकार किया कि अधिकारियों के समूहों तथा संगठन की पद्धतियों के बीच शक्ति और आकार के अतिरिक्त अन्य अंतर भी होते हैं। नवीन अवधारणा के अनुसार नौकरशाही अधिकारियों का समूह नहीं वरन् एक संस्था है। 20वीं शताब्दी में नौकरशाही का इस प्रकार का प्रयोग महत्व रखता है, क्योंकि अब 'नौकरशाहियों' अथवा 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग संस्थानों के लिए किया जाने लगा है, न कि उनमें काम करने वाले अधिकारियों के लिए। ये अधिकारी इसलिए नौकरशाह कहलाने लगे कि वे न केवल एक समूह के सदस्य हैं, अपितु वे संस्थानों में कार्य भी करते हैं।

नौकरशाही की बदलती हुई अवधारणा के अनुसार इसका अध्ययन दो दृष्टियों से किया जाता है– संरचनात्मक एवं कार्यात्मक।

संरचनात्मक दृष्टि से नौकरशाही एक प्रशासनिक व्यवस्था है, जिसमें पदसोपान, विश्लेषण, योग्य कार्यकर्ता जैसी विभिन्न विशेषताएं पाई जाती हैं। कार्ल फ्रेडरिक के अनुसार, ''नौकरशाही उन लोगों के पदसोपान, कार्यों के विशेषीकरण तथा उच्चस्तरीय क्षमता से युक्त संगठन है, जिन्हें इन पदों पर कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया है।''

कार्यात्मक दृष्टि से नौकरशाही का अध्ययन सामान्य सामाजिक व्यवस्था के अन्य उपव्यवस्थाओं पर पड़ने वाले नौकरशाही के प्रभाव का अध्ययन है। माइकेल क्रेजियर के अनुसार, ''नौकरशाही में व्यवहार में धीमापन, प्रक्रिया की जटिलता, रुटीन प्रकृति और प्रशासनिक संगठन के सदस्यों अथवा सेवित व्यक्तियों के लिए कुंठाजनक वातावरण आदि बातें होती हैं।''

बाटा के.डे. का नौकरशाही के प्रति दृष्टिकोण तीन आयामों पर आधारित है। उनके अनुसार संरचनात्मक दृष्टि से यह, मूल्यों से परे है – न यह नायक है और न खलनायक, इसे एक ऐसी घटना समझा जा सकता है, जो किसी भी बड़े तथा जटिल संगठन के साथ जुड़ी होती है। व्यवहार की दृष्टि से नौकरशाही को एक ऐसा संगठन समझा जा सकता है जिसके कुछ कार्यात्मक अथवा विकृत वैज्ञानिक चित्र प्रकट होते हैं। लक्ष्य की पूर्ति अथवा उपलब्धियों की दृष्टि से इसे एक ऐसा संगठन समझा जा सकता है, जो प्रशासन में कार्यकुशलता का अधिक से अधिक विस्तार करता है अथवा प्रशासनिक कुशलता के हितों में संगठित सामाजिक व्यवहार का एक संस्थात्मक तरीका है।''

इस प्रकार नौकरशाही शब्द के अनेक अर्थ हैं, इसलिए यह पर्याप्त अस्पष्टता लिए हुए है। एफ. एम. मार्क्स के शब्दों में, ''करोड़ों लोगों ने नौकरशाही शब्द नहीं

टिप्पणी

सुना है, किंतु जिस किसी ने भी सुना है, वह या तो इसके प्रति शंकालु है अथवा यह समझता है कि नौकरशाही शब्द किसी न किसी बुरी बात से संबंधित है। यद्यपि पूछे जाने पर वह इसका सही अर्थ बताने से कतराएगा, किंतु यह अवश्य कह देगा कि इसका मतलब कोई बुरी बात है।''

नौकरशाही की विशेषताएं

नौकरशाही की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1 **निश्चित कार्यक्षेत्र** – इसकी पहली विशेषता यह है कि इसका कार्यक्षेत्र निश्चित होता है। विधानमंडल तथा कार्यपालिका द्वारा बनाए गए नियमों और अध्यादेशों के अनूरूप प्रत्येक पदाधिकारी का कार्यक्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है। वह इसी निश्चित दायरे के अंतर्गत कार्य करता है और कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायी रहता है। उसके सहयोग के लिए अन्य कर्मचारियों की व्यवस्था की जाती है।

2. **पदसोपान पद्धति के आधार पर नियुक्तियां** – नौकरशाही व्यवस्था में पदसोपान पद्धति के आधार पर नियुक्तियां की जाती हैं। इसमें आदेश ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होता है और उत्तरदायित्व का क्रम नीचे से ऊपर की ओर चलता है। अधीनस्थ पदाधिकारियों और कर्मचारियों को उच्चतर पदाधिकारियों के नियंत्रण और निर्देश के अनुरूप ही कार्य करना पड़ता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उच्चतर पदाधिकारी अधीनस्थ कर्मचारियों को अनुचित कार्य करने के लिए बाध्य कर सकते हैं। वास्ताविकता यह है कि दोनों के कार्य कानून द्वारा निर्धारित होते हैं।

3. **पूर्व निर्धारित नियम** – कर्मचारियों के कार्यों का संचालन पूर्व निर्धारित नियमों के अनुसार ही होता है। इस प्रकार, वे जनमत के प्रभाव से अछूते रह जाते हैं।

4. **विशिष्ट संगठन** – नौकरशाही में असैनिक कर्मचारियों का विशिष्ट संगठन होता है, जो जनता के प्रति उत्तरदायी बनने के लिए प्रेरित नहीं करता। इसके विपरीत, उनमें शासन के प्रति लगाव कूट–कूटकर भरा होता है और वे सेवक की बजाय स्वामी बन जाते हैं। प्रशिक्षित कर्मचारी अपने को साधारण जनता से उच्चतर मानते हैं और उन पर मनमाने ढंग से शासन करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान बैठते हैं।

5. **कागजी कार्यवाही** – राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ जाने के कारण सरकारी कर्मचारियों का कार्य और भी बढ़ गया है। यही कारण है कि नौकरशाही में कागजी कार्यवाही का बोलबाला हो गया है। उन्हें सरकार का कार्य पूरी क्षमता के साथ करना पड़ता है, चाहे उन्हें कितनी भी असुविधाओं का सामना करना पड़े। वास्त्व में, नौकरशाही में कर्मचारियों के निजी व्यक्तित्व पर सरकारी व्यक्तित्व पूरी तरह से हावी रहता है।

6. **व्यवस्थित रिकॉर्ड** – नौकरशाही की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें कागजों, अभिलेखों तथा फाइलों पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इन सबको व्यवस्थित रूप से रखा जाता है, क्योंकि इनके बिना सरकार का कार्य

टिप्पणी

सुचारु रूप से नहीं चल सकता है। फाइलों में सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध यदि कोई बात हो, तो उसके विरुद्ध जाने का साहस उनमें नहीं होता।

7. **कुशल एवं मेधावी व्यक्तियों की नियुक्ति** – नौकरशाही में सरकारी सेवा में केवल उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता है, जो सामान्य रूप से सेवा की निर्धारित योग्यताएं रखते हैं। उनका योग्य और कुशल होना आवश्यक होता है। नौकरशाही में शक्ति और कार्यों की व्यवस्था इस तरह से की जाती है कि सारी शक्तियां किसी एक पदाधिकारी के हाथों में केंद्रित न हों।
8. **सिद्धांत तथा व्यवहार में अंतर** – नौकरशाही की अंतिम और महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें सिद्धांत और व्यवहार में बहुत अंतर होता है। सिद्धांत में कर्मचारी यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि वे जनता के सेवक हैं, परंतु व्यवहार में वे धन और शक्ति के भूखे होते हैं।

नौकरशाही के प्रकार (स्वरूप)

1. **दिखावटी नौकरशाही** : इसमें नौकरशाही की यांत्रिक व्यवस्था ज्यों की त्यों रहती है, किंतु कर्मचारियों द्वारा नियमों की अवहेलना की जाती है, जैसे कार्यालय में धूम्रपान मना होने पर भी धूम्रपान किया जाता है।
2. **प्रतिनिधि नौकरशाही** : इस प्रकार की नौकरशाही में दफ्तरशाही का कुछ अधिक बोध होता है। इस व्यवस्था को लाभ के कारण युक्तिसंगत माना जाता है।
3. **दंड केंद्रित नौकरशाही** : नौकरशाही की व्यवस्था में जो कर्मचारी निर्धारित नियमों की अवहेलना करते हैं, उन्हें दंड दिया जाता है।

एफ. एम. मार्क्स ने नौकरशाही के चार प्रकार बताए हैं–

1. **अभिभावक नौकरशाही** – मार्क्स ने इस नौकरशाही की परिभाषा देते हुए कहा है कि ''ये ऐसे विद्वान अधिकारीगण होते हैं, जो शास्त्रोक्त आचरण में दीक्षित होते हैं।'' इस प्रणाली में अधिकारीगण जनता के हितों का विशेष ध्यान रखते हैं तथा जनहित के अनुरूप ही शासन करना चाहते हैं। यूनानी विचारक प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में अभिभावक नौकरशाही की कल्पना की थी।

   मार्क्स ने अभिभावक नौकरशाही के दो उदाहरण दिए हैं–(1) चीनी नौकरशाही (शुंग काल के उदय से सन् 1960 तक), (2) 1640 से 1740 तक प्रशा की नौकरशाही।

   यह लोक सेवा अपने आपको लोकहित का रक्षक मानती थी, किंतु वह लोकमत से स्वतंत्र थी तथा उसके प्रति उत्तरदायी भी होती थी। एक ओर जहां यह न्यायप्रिय, सक्षम, कार्यकुशल, दक्ष तथा उपकारी होती थी, वहीं दूसरी ओर अनुत्तरदायी तथा अधिकारयुक्त भी होती थी।
2. **जातीय नौकरशाही** – इसके अंतर्गत एक वर्ग विशेष सत्ता पर अपना आधित्य स्थापित रखना चाहता है। मार्क्स के शब्दों में ''यह नौकरशाही उन लोगों के वर्गीय संबंधों से पैदा होती है जो नियंत्रण के मुख्य स्थानों पर रहते हैं। ऐसी

नौकरशाही में नई भर्ती उन्हीं लोगों की की जाती है, जिनका नौकरशाही से संबंध होता है – उच्चतर पदों के लिए योग्यताएं इस तरह निर्धारित की जाती हैं कि एक वर्ग विशेष को ही प्राथमिकता मिलती रहे।''

टिप्पणी

3. **संरक्षण नौकरशाही** – संरक्षण नौकरशाही का तात्पर्य उस नौकरशाही से है जिसे राजनीतिक संरक्षण प्राप्त हो। इसमें लोक सेवकों की भर्ती योग्यता के आधार पर नहीं बल्कि नियोक्ता और उम्मीदवारों के आपसी राजनीतिक संबंधों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार की नौकरशाही में चुनाव में विजयी राजनीतिज्ञ अपने समर्थकों को ऊंचे पदों पर नियुक्त करते हैं। प्रतिबद्ध नौकरशाही भी प्रायः इसी प्रकार की विचारधारा में विश्वास रखती है। इसका दूसरा नाम लूट प्रणाली है। इस प्रकार की नौकरशाही में प्रशासन राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ नहीं रह पाता है। प्रशासन में पक्षपात, भ्रष्टाचार, भाई–भतीजावाद, जातिवाद आदि विभिन्न समस्याएं काफी बढ़ जाती हैं।
4. **योग्यता नौकरशाही** – यह सबसे अच्छी नौकरशाही मानी जाती है। इसके अंतर्गत लोकसेवकों की नियुक्ति योग्यता और कुशलता के आधार पर की जाती है। इसमें जाति, वर्ग और राजनीतिक विचार के आधार पर पक्षपात नहीं किया जाता है। नियुक्तियों के लिए जांच–परीक्षा को आधार बनाया जाता है। इस नौकरशाही की प्रमुख विशेषता इसका राजनीतिक विचारधारा या नीतियों के प्रति प्रतिबद्धता न होकर देश के संविधान और अपने कर्तव्यों के प्रति अधिक प्रतिबद्धता होती है। यह पद्धति सर्वाधिक प्रजातांत्रिक मानी जाती है।

नौकरशाही के प्रति मैक्स वेबर के विचार

मैक्स वेबर एक प्रमुख जर्मन समाजशास्त्री थे। उन्होंने नौकरशाही का सूक्ष्म अध्ययन किया। उनके अनुसार सत्ता के तीन रूप हैं – परम्परागत, चमत्कारिक और विधिक विवेकशील।

1. **परम्परागत सत्ता** – यह सत्ता परम्परागत संगठनों का आधार होती है। इसकी वैधता इस बात पर है कि यह सदियों से चली आ रही है।
2. **चमत्कारिक सत्ता** – यह सत्ता इसका प्रयोग करने वाले व्यक्ति की उत्कृष्ट व्यक्तिगत नेतृत्व की विशेषताओं पर आधारित होती है। इसका आधार एक व्यक्ति के आदर्श चरित्र, शौर्य और मूल्यों के प्रति असाधारण निष्ठा होती है।
3. **विधिक विवकेशील सत्ता** – इसका आधार लोक कल्याणकारी औपचारिक नियम होते हैं। साथ ही, सत्तारूढ़ व्यक्तियों का विवेक भी इसका आधार होता है।

मैक्स वेबर विधिक सत्ता से पोषित एवं समर्थित नौकरशाही को वह संगठन का सबसे प्रभावशाली स्वरूप मानते थे। उनके शब्दो में, ''विशुद्ध नौकरशाही के रूप का प्रशासकीय संगठन, प्राविधिक दृष्टि से श्रेष्ठतम क्षमता अर्जित करने की योग्यता रखता है। यह अन्य सभी संगठनों के स्वरूपों से निश्चित, स्थायित्व एवं दृढ़ अनुशासन में विश्वास के लिए विख्यात है। अतः अंत में यह गंभीर दक्षता एवं व्यापक कार्यक्षेत्र दोनों ही दृष्टि से श्रेष्ठ है एवं समस्त प्रशासकीय कार्यों के संपादन की योग्यता रखता है।''

टिप्पणी

मैक्स वेबर ने नौकरशाही की निम्नलिखित विशेषताएं बतायी हैं–

1. पद एवं पदाधिकारी का पृथक्करण।
2. योग्यता के आधार पर चयन।
3. अधिकारियों को निश्चित पारिश्रमिक।
4. कार्यालय के कार्यों का संपादन करते समय अधिकारी का अनुशासन एवं नियम के अधीन होना।
5. पदों का पदसोपान।
6. संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कार्यों का वितरण।
7. इन कार्यों के लिए अपेक्षित सत्ता तथा अधिकारों का वितरण।
8. नियमों का कठोरता से पालन।

मैक्स वेबर के शब्दों में ''विधिक सत्ता के विशुद्धतम प्रयोग का यह वह रूप है, जिसमें नौकरशाही के अनुरूप प्रशासकीय कर्मचारी होते हैं। ऐसे संगठन के प्रमुख सत्ताधारी नियुक्ति, निर्वाचन या योग्यता के साथ–साथ नामांकन के आधार पर पदस्थापित होते हैं। लेकिन उनकी सत्ता भी योग्यता की विधिक परिधि में होती है। अतः सर्वोच्च सत्ता के अधीन सभी प्रशासकीय अधिकारियों में वे अधिकारी भी शामिल होते हैं, जो निम्नलिखित सिद्धांतों के आधार पर नियुक्त किए जाते एवं कार्य करते हैं।''

यहां इस संबंध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख समीचीन है।

1. इस नौकरशाही के कर्मचारी यक्तिगत रूप से तो स्वतंत्र होते हैं, परंतु शासकीय कार्यों एवं दायित्वों के मामले में अपने अधिकारी के अधीन होते हैं और निर्धारित पदसोपान में संगठित होते हैं।
2. विविध अर्थों में प्रत्येक पद का सुपरिभाषित योग्यता क्षेत्र होता है।
3. नियुक्ति अनुबंध के आधार पर की जाती है। इसीलिए इन अधिकारियों को निश्चित धनराशि वेतन के रूप में दी जाती है। इनमें से अधिकांश को पेंशन भी दी जाती है।
4. शासकीय सेवा एक वृत्ति है। इसमें वरिष्ठता और योग्यता दोनों के आधार पर पदोन्नति की व्यवस्था होती है। पदोन्नति उच्च अधिकारियों के निर्णय पर निर्भर करती है।
5. पदाधिकारी प्रशासनिक साधनों के स्वामित्व से पूर्णरूपेण अलग रहकर कार्य करता है और अपने पद पर रहते हुए अपने वेतन के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से धनोपार्जन नहीं कर सकता।
6. अन्य कर्मचारियों की तरह वह भी कठोर एवं व्यवस्थित अनुशासन और नियंत्रण के अधीन होता है।

मैक्स वेबर प्रतिबद्ध नौकरशाही में विश्वास नहीं करते, वरन् वह अपने आदर्श प्रतिमान के लिए निष्पक्ष नौकरशाही की कलपना करते हैं।

समीक्षा : मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही के 'आदर्श रूप' की आलोचना के साथ–साथ उनके अन्य विचारों की आलोचना की भी जाती है। आलोचकों का मत है

टिप्पणी

कि 'नौकरशाही' और 'आदर्श रूप' दोनों ही विरोधाभासी हैं। अतः यह मात्र एक कल्पना हो सकती है, व्यवहार में यह संभव नहीं है। इन आलोचकों का मानना है कि मैक्स वेबर जिस निष्पक्ष नौकरशाही का समर्थन करते हैं, वह आज के समाज में कहीं भी संभव नहीं है। लेकिन आलोचनाओं के बावजूद मैक्स वेबर का सिद्धांत तर्कसम्मत है।

3.5.2 नौकरशाही के गुण–दोष

इस व्यवस्था के कतिपय उत्कृष्ट गुण हैं जिनके कारण इसका अस्तित्व कायम है। कोई भी राष्ट्र स्वयं को इस व्यवस्था से मुक्त नहीं रख सकता। परंतु प्रजातांत्रिक व्यवस्था में, जहां सत्ता जनता के हाथों में होती है, कर्मचारियों के अनुत्तरदायी होने का डर नहीं रहता या कम रहता है। पॉवेल ने कहा है कि कर्मचारी और अधिकारी मंत्रियों की ओट में किसी प्रकार का अन्याय और कोई अनुचित कार्य नहीं कर सकते। ऐसा होने पर संसद के सदस्यों को मंत्रियों से प्रश्न पूछने का अधिकार है। किसी भी विषय पर संसद में बहस हो सकता है। ऐसा होना मंत्रिमंडल के लिए हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है, अतः मंत्री इस बात पर सदा रखते हैं कि लोक सेवकों से ऐसी कोई गलती न हो जिससे उन्हें संकट का सामना करना पड़े। न्यूमैन ने भी यह स्वीकार किया है कि लोकतांत्रिक और उत्तरदायी सरकार में लोक सेवकों द्वारा अधिकार का दुरुपयोग करने पर उन्हें जनता की प्रतिक्रियाओं का सामना करना पड़ेगा।

वास्तव में लोक सेवकों ने प्रशासन के सुधार में पर्याप्त मात्रा में योगदान किया है। वे इतने दूरदर्शी होते हैं कि समाज की गति एवं वातावरण को पहचान कर ही आगे कदम बढ़ाते हैं। मॉरिसन का कहना है कि ''नौकरशाही ससंदीय प्रजातंत्र का मानक है।'' उदाहरण के लिए भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यदि यहां पुराने वातावरण के नौकरशाही कर्मचारियों को नहीं अपनाया गया होता, तो देश पर्याप्त अनुभवप्राप्त पदाधिकारियों की अमूल्य सेवाओं से वंचित रह जाता। वास्तव में, उन अधिकारियों ने बड़ी ही कार्यकुशलता तथा क्षमता के साथ भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था को संबल प्रदान किया। उन्हीं की सहायता से भारत में कई तरह के राष्ट्र स्तर के कार्य संपन्न हुए और प्रशासन में सुधार हुआ।

नौकरशाही सामाजिक परिवर्तन की एक प्रभावशाली संस्था है। वर्तमान में राज्य का स्वरूप लोक कल्याणकारी हो गया है। सरकार का प्रयास समाज के दलितों, गरीबों, पिछड़ों आदि को सामाजिक न्याय दिलाना है। इस दिशा में सरकार की इन नीतियों को जनता तक पहुंचाने का कार्य नौकरशाही करती है। इस क्रम में एक स्वस्थ एवं 'प्रतिबद्ध नौकरशाही' की अवधारणा का जन्म इस भावना के साथ हुआ कि नौकरशाही को सरकार की समाजवादी, लोककल्याणकारी एवं धर्मनिरपेक्ष परम्पराओं तथा संवैधानिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध होकर सामाजिक परिवर्तन के प्रति उत्तरदायित्व को निभाना चाहिए।

नौकरशाही के दोष

समाज में नौकरशाही शब्द के प्रति घृणा व्याप्त है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में इसे कटु आलोचना का सामना करना पड़ा है। रैमजे म्योर, लॉर्ड हेवार्ट और एलन ने इस बात को लेकर दुःख प्रकट किया है कि ब्रिटेन में नौकरशाही और तानाशाही स्थापित हो

गई है। रैमजे म्योर ने कहा है कि ''ब्रिटेन में नौकरशाही मंत्री के उत्तरदायित्व के चोले में पनपती है।''

राष्ट्रपति हूवर ने ठीक ही कहा है, ''नौकरशाही में तीन संतुष्ट न होने वाली प्रवृत्तियां पाई जाती हैं – आत्मस्थिरता, आत्मविस्तार तथा अधिक शक्ति की मांग।''

टिप्पणी

प्रो. रॉब्सन ने नौकरशाही के अवगुणों का वर्णन इन शब्दों में किया है, ''आत्माभिमान की अत्यधिक भावना, नागरिकों के प्रति उदासीनता, विभागीय निर्णयों के प्रति कठोर नीति, नियमों एवं औपचारिक प्रक्रियाओं के लिए पागलपन आदि।''

नौकरशाही के प्रमुख दोषों का वर्णन इस प्रकार है–

1. **लकीर के फकीर** – नौकरशाही का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके अंतर्गत कार्य करने वाले कर्मचारी लकीर के फकीर बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, वे नियमों के अंधभक्त होते हैं, इसलिए परिस्थितियों का पूरी तरह से से मूल्यांकन नहीं कर पाते। नौकरशाही में काम की गंभीरता एवं आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया जाता।
2. **लालफीताशाही** – नौकरशाही का एक अन्य अवगुण लालफीताशाही है। व्यापक रूप से हावी लालफीताशाही के कारण इसके कार्य निष्पादन में विलंब होता है। कर्मचारी के महत्व के प्रति उदासीन रहते हैं। उन्हें जनता कष्ट की चिंता नहीं रहती। वास्तव में, वे नियम और औपचारिकता के चलते कार्य को आगे बढ़ाने में बाधक सिद्ध होते हैं।
3. **घमंड की व्यापक भावना** – नौकरशाही व्यवस्था में कर्मचारियों में घमंड की भावना कूट–कूट कर भरी होती है। वे स्वयं को जनता से ऊपर मानते हैं, इसलिए जनता से संपर्क करने में अपनी मनोहानि समझते हैं। नीति निर्माण में हस्तक्षेप करने में वे नहीं हिचकते।
4. **रूढ़िवादी** – नौकरशाही व्यवस्था में कर्मचारी वे रूढ़िवादी प्रवृत्ति के होते हैं। वे जमीन यथार्थ से अपने को दूर रखने की कोशिश करते हैं। यही कारण है कि लोगों में उनके प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। फिफनर ने ठीक ही लिखा है, ''नित्य एक ही प्रकार का कार्य अपरिवर्तनशीलता उत्पन्न कर देता है, जबकि उत्तरदायित्व कर्मचारियों में देर करने तथा कानून के प्रति कट्टरता की आदत डाल देता है। उनमें बौद्धिक एकाकीपन आ जाता है। जनता का ध्यान रखने की अपेक्षा वे प्रक्रियाओं तथा नियमों का ध्यान अधिक रखते हैं।''
5. **तानाशाही** – ब्रिटेन के बारे में बहुत से विद्वानों का मत है कि वहां नौकरशाही की तानाशाही की स्थापना हो गई है। उसका कार्यपालिका और वैधानिक शक्तियों पर पूर्ण अधिकार हो गया है, जिससे नागरिकों की स्वतंत्रता भी खतरे में पड़ गई है। उसके अधिकारीगण विधानमंडल के सभी अधिकारों को अपने हाथों में ले लेना चाहते हैं। वे अपने को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाकर जनता पर पूर्ण नियंत्रण रखने के लिए बेचैन रहते हैं।
6. **विभागों को अधिक महत्व देना** – नौकरशाही का एक बड़ा दोष यह है कि इसमें सरकार के कार्यों को अलग–अलग विभागों में बांट दिया जाता है। प्रत्येक

टिप्पणी

विभाग अपने को आत्मनिर्भर बनाने की चिंता में रहता है और दूसरे विभागों को सहयोग प्रदान नहीं करता। हर विभाग का अधिकारी अपने विभाग को अपना छोटा साम्राज्य ही समझने लगता है। वह इस बात को भूल जाता है कि वह समूचे प्रशासन का एक अंगमात्र है।

7. **औपचारिकता की अधिकता** – नौकरशाही व्यवस्था में कर्मचारी नियमों और सरकारी प्रक्रियाओं का अक्षरशः पालन करते हैं और इस प्रकार आवश्यकता से अधिक औपचारिक बन जाते हैं। वे परिवर्तन से भी अपने को दूर रखते हैं। पत्रों एवं सरकारी कागजों का प्रारूप तैयार करते समय वे पुरानी भाषा और शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। वे किसी कार्य का दायित्व लेने से यथासंभव बचने की कोशिश करते हैं।

नौकरशाही के दोष–निवारक सुझाव

नौकरशाही के गुण–दोषों की विवेचना करने के बाद कहा जा सकता है कि नौकरशाही स्वयं बुरी चीज नहीं है। उसमें कुछ दोष अवश्य विद्यमान हैं, परंतु वे दोष ऐसे नहीं हैं कि उन्हें दूर न किया जा सके। उसमें दोष तभी आते हैं, जब वह अनियंत्रित हो जाती है। इसलिए उस पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। रैमजे म्योर का कहना ठीक ही है कि ''नौकरशाही अग्नि के समान है, जो एक सेवक के रूप में तो बहुमूल्य सिद्ध हो सकती है, परंतु जब वह स्वामी बन जाती है, तब घातक सिद्ध होती है।'' ऐसे में इस पद्धति को समाप्त कर देना उचित नहीं होगा, बल्कि उसके दोषों को दूर करने के लिए उचित कदम उठाना चाहिए। इन दोषों को दूर करने के कुछ प्रमुख उपाय इस प्रकार हैं–

1. नौकरशाही के दोषों को दूर करने के लिए सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि सत्ता का विकेंद्रीकरण कर दिया जाए। इससे कार्यों के संपादन में गतिशीलता आएगी। यह एक कारगर उपाय सिद्ध हो सकता है।
2. असैनिक कर्मचारियों पर संसद तथा मंत्रिमंडल का नियंत्रण प्रभावशाली होना चाहिए। मंत्रिपद पर योग्य व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जानी चाहिए, ताकि वे स्वयं लोक कर्मचारियों के हाथों की कठपुतली नहीं बनें बल्कि उन पर उचित नियंत्रण रखें।
3. नागरिकों को लोक कर्मचारियों के विरुद्ध अपनी शिकायतें प्रस्तुत करने का मौका मिले। इसके लिए प्रशासकीय न्यायालयों की स्थापना होनी चाहिए, जो नागरिकों के दुःख और कष्टों को दूर कर सकें।
4. लोक कर्मचारियों को जनता के प्रति पूर्ण उत्तरदायी होना चाहिए। उन्हें स्वयं को जनता से ऊपर नहीं समझना चाहिए।
5. प्रशासकीय पदाधिकारियों और जनता के बीच पत्र–व्यवहार अथवा संदेशों के आदान–प्रदान की एक प्रभावशाली और सतत व्यवस्था होनी चाहिए।
6. प्रशासन में आम जनता और गैर–सरकारी व्यक्तियों को भी सक्रियता से भाग लेना चाहिए। इस विषय में रॉब्सन का कहना ठीक ही है कि ''एकीकरण, पत्र

टिप्पणी

व्यवहार अथवा संदेशों का आदान–प्रदान तथा प्रशासन में भाग लेना – ये शब्द उन्हें सदा ध्यान में रखने चाहिए, जो यह चाहते हैं कि प्रजातंत्रीय सरकार की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के साथ लोक प्रशासन के संगठनात्मक संबंध कायम हों।''

7. नौकरशाही को दोषों से मुक्त कराने के लिए आवश्यक है कि कर्मचारियों की भर्ती में किसी तरह का पक्षपात नहीं किया जाए, योग्यता और अनुभव के आधार पर ही भर्ती की जाए।
8. प्रशासन को भ्रष्टाचार से मुक्त करने के लिए धन के दुरुपयोग पर रोक लगाई जानी चाहिए और समय की बचत के लिए सरल तथा शीघ्रगामी प्रक्रियाओं की खोज की जानी चाहिए।

इस प्रकार, निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि नौकरशाही प्रशासन की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था है। यह आधुनिक युग की एक अनिवार्य आवश्यकता है। इसे समाप्त करना न तो संभव है और न ही उचित। आवश्यकता इस बात की है कि इस पर इतना उचित नियंत्रण रखा जाए कि यह सदैव जनता की सेवा में लगी रहे। समय–समय पर इसकी समीक्षा होनी चाहिए।

3.5.3 नौकरशाही की महत्तापरक भूमिका एवं इसके उपागम

आधुनिक युग में नौकरशाही प्रशासन का अनिवार्य और अभिन्न अंग है। शासन किसी भी प्रकार का क्यों न हो, यह सभी सरकारों के लिए आवश्यक है। नौकरशाही के आलोचक भी इसे एक आवश्यक बुराई मानते हैं। प्रो. एस. के. लाल के शब्दों में, ''विधायिनी और न्यायिक कार्यों की प्रकृति अस्थिर होती है लेकिन नौकरशाही सदैव अविरल रूप में कार्यरत रहती है, क्योंकि इसका कार्यकाल स्थायी होता है। इसके अधिकारी लोकनीति के विशिष्ट क्षेत्रों में विशेष तकनीकी योग्यता प्राप्त होते हैं और सरकार से उनका संबंध सदैव बना रहता है। उन्हें वे सारी जानकारियां होती हैं, जो लोकनीति के निर्माण और उसके क्रियान्वयन के लिए अत्यंत आवश्यक हैं।'' एक ओर हर्बर्ट मॉरिसन नौकरशाही को 'संसदीय प्रजातंत्र का मूल्य' कहते हैं तो वहीं दूसरी ओर मैक्स वेबर के अनुसार यह आधुनिक राज्य का एक अनिवार्य तत्व है।

विद्वानों के उक्त मतों के मद्देनजर आधुनिक राज्यों में नौकरशाही की भूमिका का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है–

1. संवैधानिक शासन के विकास में नौकरशाही का योगदान अहम होता है। संवैधानिक सरकार के दायित्वों को नौकरशाही ही पूरा करती है। बदलती हुई परिस्थितियों में संविधान में संशोधन कराने के लिए नौकरशाही आंकड़े और सूचनाएं उपलब्ध कराती है।
2. आज नौकरशाही के माध्यम से ही विकास की नई–नई योजनाओं को कार्यन्वित किया जाता है।
3. नौकरशाही अर्थ उत्पादन के सामान्य और विशिष्ट लक्ष्यों के निर्धारण में सहायता करती है एवं पूंजी के निर्माण तथा आयात और निर्यात का व्यवस्थापन करके आर्थिक विकास को गति प्रदान करती है।

टिप्पणी

4. आधुनिक राज्य में आवश्यकतानुसार समय–समय पर नये–नये कानूनों का निर्माण किया जाता है। राज्य की जनता के कल्याण के लिए प्रशासन द्वारा अनेक निर्णय लिए जाते हैं। आधुनिक नौकरशाही सरकार के तीनों कार्यों – नियम बनाना, नियम लागू करना और नियम अधिनिर्णयन तथा प्रशासकीय अधिनिर्णयन – का न्यूनाधिक मात्रा में संपादन करती है।
5. मैक्स वेबर के शब्दों में, ''अगर हमारी सभ्यता असफल होती है, तो हमें समझ लेना चाहिए कि हमारे प्रशासन का पतन हो गया है।'' नौकरशाही का महत्व बताते हुए पीटर एम. बाल्वो ने कहा है कि यह प्रशासन को अधिक कुशल, विवकेशील, निष्पक्ष तथा संगत बनाती है। नौकरशाही के बिना प्रशासन निष्प्रभावी हो जाएगा।

नौकरशाही उपागम

मैक्स वेबर का नाम नौकरशाही से अभिन्न रूप से जुड़ा है। उन्होंने प्रशासनिक संगठन के इस औपचारिक रूप का गहन अध्ययन किया। यद्यपि 'नौकरशाही' शब्द से निरंकुशता, संकुचित दृष्टिकोण, अनुत्तरदायित्व आदि भाव जुड़े हैं, परंतु किसी भी प्रशासनिक समस्या के समाधान हेतु हम 'संगठन' के इसी स्वरूप पर आश्रित हैं। वेबर नौकरशाही तथा उससे संबंधित अन्य संरचानाओं जैसे सत्ता, औचित्य वैधानिकता का अध्ययन करते हैं। उनके अनुसार समाज के संगठन के मूल में शक्ति या प्रभुत्व है।

वेबर ने प्रभुत्व के कुल तीन प्रकार माने – पारंपरिक प्रभुत्व, श्रद्धा पर आधारित प्रभुत्व, तथा वैधानिक या कानूनी प्रभुत्व। नौकरशाही इनमें से अंतिम श्रेणी में आती है।

वेबर ने इस बात पर बल दिया कि किसी संगठन के उद्देश्यों की उचित रूप से प्राप्ति के लिए नौकरशाही अनिवार्य है। संस्थाओं के उद्देश्य भिन्न हो सकते हैं, यद्यपि उनके नौकरशाही तंत्र की विशेषताएं एक–सी होती हैं। किंतु वेबर ने किसी आनुभविक नौकरशाही का विश्लेषण न करके इसका केवल एक 'आदर्श' के रूप में अध्ययन किया। कानूनी सत्ता का विशुद्ध रूप नौकरशाही के प्रशासनिक कर्मचारी वर्ग को नियुक्त करता है। उस संगठन का सर्वोच्च अध्यक्ष निर्वाचन के आधार पर नियुक्त होता है। उसकी सत्ता का आधार कानूनी सक्षमता होती है।

वेबर ने नौकरशाही की अनेक विशेषताएं बताई हैं, जैसे पद सोपान व्यवस्था, निर्धारित कार्य क्षेत्र, नियम और कानून की सर्वोच्चता, जीवनयापन एवं उन्नति के श्रेष्ठ साधन, तकनीकी विशिष्टता, व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर कुशल एवं योग्य व्यक्तियों का चयन, इनका व्यावसायिक स्वरूप तथा इन सबसे मिलकर बना एक सक्षम, कार्यकारी तथा विशिष्ट प्रशासनिक संगठन।

लक्ष्य प्राप्ति के लिए आधुनिक संगठनों में उनके कार्यों को श्रम–विभाजन के सिद्धांत के अनुसार विभाजित एवं वितरित कर दिया जाता है। इससे उच्च मात्रा में विशेषीकरण संभव हो जाता है। पहले संरचना के रूप में एक सोपानबद्ध सत्ता संगठित करने के कारण उसका आकार एक 'पिरामिड' जैसा हो जाता है। प्रत्येक वरिष्ठ अधिकारी अपने अधीनस्थ के निर्णयों एवं कार्यों के प्रति उत्तरदायी होता है।

टिप्पणी

औपचारिक रूप से बनाए गए नियमों और विनियमों के अंतर्गत उन निर्णयों एवं कार्यों को अधिशासित किया जाता है। इससे उनके तथा सत्ता संरचना के बीच एकरूपता आ जाती है, जिसके फलस्वरूप प्रशासन की विभिन्न गतिविधियों में समन्वय स्थापित हो जाता है। इन नियमों से कार्मिक वर्ग के सदस्यों के स्थानांतरित होते रहने पर भी उनके संचालन में निरंतरता एवं स्थिरता बनी रहती है। एक विशेष प्रशासनिक वर्ग संगठन में संचार–मार्ग को प्रवाही बनाए रखता है। यह वर्ग संगठन की पत्रावलियों तथा लिखित अभिलेखों, जिनमें सरकारी निर्णयों एवं कार्यों का उल्लेख होता है, के प्रति उत्तरदायी होता है।

वेबर के शब्दों में, ''ये सभी विशेषताएं मिलकर संगठन को 'अधिकाधिक कुशलता' प्राप्त करने में सक्षम बना देती हैं। सिद्धांततः यह 'आदर्श प्रकार' विभिन्न क्षेत्रों में सभी प्रकार के संगठनों के लिए लागू होता है – चाहे वह निजी हो या सरकारी। नौकरशाही सत्ता अपने विशुद्ध रूप में वहां लागू होती है, जहां प्रशासन में अधिकाधिक बौद्धिकता को आधार बनाया गया हो। नौकरशाही की बुराई कितनी ही क्यों न की जाए, सरकारी कार्यालयों में बैठे कर्मचारियों के बिना प्रशासनिक कार्यों का संचालन सरलता से एवं प्रभावशाली ढंग से नहीं हो सकता। नौकरशाही प्रशासन का मूलभूत आधार ही ज्ञान पर आश्रित नियंत्रण का प्रयोग है। यही विशेषता उसे बौद्धिक बना देती है। इसी बौद्धिकता के कारण उसे असाधारण शक्ति प्राप्त हो जाती है।''

वेबर के शब्दों में, ''शासन व्यवस्था (संगठन) चाहे पूंजीवादी हो अथवा समाजवादी, यदि तकनीकी कुशलता पर आश्रित बृहद् प्रशासनिक कार्य करने हों, तो विशेषीकृत नौकरशाही को छोड़ कर कोई अन्य विकल्प नहीं है।''

अपनी प्रगति जांचिए

7. नौकरशाही को 'मेज का शासन' किसने कहा

   (क) फाइनर (ख) लास्की

   (ग) फिफनर (घ) मैक्स वेबर

8. सुधार–परिष्कार से पृथक, यथावत रहने वाली नौकरशाही की यांत्रिक व्यवस्था क्या कहलाती है?

   (क) प्रतिनिधि नौकरशाही (ख) दिखावटी नौकरशाही

   (ग) दण्ड केंद्रित नौकरशाही (घ) संरक्षण नौकरशाही

3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (क)
3. (घ)
4. (क)

टिप्पणी

5. (ख)
6. (ग)
7. (क)
8. (ख)

3.7 सारांश

कुलीन सिद्धांत इस तथ्य पर आधारित है कि प्रत्येक समाज में मोटे तौर पर दो भिन्न प्रकार के वर्ग पाए जाते हैं– (1) थोड़े से अल्पसंख्यक लोगों का वर्ग जो अपनी क्षमता के आधार पर समाज को सर्वोच्च नेतृत्व प्रदान करता है तथा शासन करता है, तथा (2) जन समूह असंख्य साधारण जनों का वर्ग, जिसके भाग में शासित होना लिखा जाता है। प्रथम वर्ग को संभ्रांतजन या संभ्रांत वर्ग तथा दूसरे जनसमूह कहा जाता है।

नवोदित राष्ट्रों में राष्ट्र–निर्माण प्रक्रिया के लिए मुख्य रूप से चार कारकों को चिन्हित किया गया है :–

प्रथम – राष्ट्र के प्रति पूर्ण आस्था–निष्ठा एवं समर्पण की भावना का विकास करना।

द्वितीय – राष्ट्रीय पहचान की भावना को विकसित करना।

तृतीय – जनसाधारण में राजनीतिक चेतना का विकास करना।

चतुर्थ – आधुनिक अर्थव्यवस्था तकनीकी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास करना।

भारत में छुआछूत, सती प्रथा, बाल विवाह जैसी कुरीतियों से समाज को मुक्त कराने में बुद्धिजीवियों का सराहनीय योगदान रहा है। इसी प्रकार दहेज उन्मूलन विधवा विवाह आदि परंपराओं की संस्थापना बुद्धिजीवियों द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई गई है। यह वर्ग अपने बौद्धिक ज्ञान व सामर्थ को आलेखों, कहानियों, कविताओं में व्यंग लेखों आदि के माध्यम से जन–जन तक पहुंचाने की कोशिश करता रहता है तथा समय–समय पर आयोजित संगोष्ठियों, अध्ययन गोष्ठियों, व्याख्यानमालाओं द्वारा समाज के सदस्यों को प्रासंगिक विषयों से संबंधित संदेश देता रहता है।

हित समूह और दबाव समूह वास्तव में एक ही संगठन है। जब कोई व्यक्ति समूह अपने हित के लिए संगठित होता है तो उसे 'हित समूह' कहते हैं। जब यह अपने हितों की रक्षा के लिए सरकार या शसन पर दबाव डालता है तो उसे 'दबाव समूह' कहते हैं। दोनों का प्रयोग पर्याय के रूप में किया जाता है। अतः मूलतः एक ही संगठन के दो नाम हैं।

नौकरशाही एक ऐसी प्रशासकीय व्यवस्था है, जिसमें मानवीयता का अभाव होता है, शासन करने तथा आदेश देने की प्रवृत्ति रहती है और जनता के हितों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इसका संबंध लालफीताशाही, सैनिकीकरण, अनधिकार हस्तक्षेप, भ्रष्टाचार, अकुशलता आदि से है।

नौकरशाही शब्द के अनेक अर्थ हैं, इसलिए यह पर्याप्त अस्पष्टता लिए हुए है। एफ. एम. मार्क्स के शब्दों में, ''करोड़ो लोगों ने नौकरशाही शब्द नहीं सुना है, किंतु जिस किसी ने भी सुना है, वह या तो इसके प्रति शंकालु है अथवा यह समझता है

कि नौकरशाही शब्द किसी न किसी बुरी बात से संबंधित है। यद्यपि पूछे जाने पर वह इसका सही अर्थ बताने से कतराएगा, किंतु यह अवश्य कह देगा कि इसका मतलब कोई बुरी बात है।

टिप्पणी

3.8 मुख्य शब्दावली

- **अल्पसंख्यक** – कम संख्या वाला वर्ग
- **संभ्रांत** – कुलीन / अभिजात्य
- **परिचालन** – संचालन
- **अपदस्थ** – बिना किसी पद के
- **वैधत्व** – वैधानिक मान्यता
- **स्वेच्छाचारी** – स्वच्छंद
- **नोटिस** – सूचना
- **त्रिपक्षीय** – तीन पक्षों वाला

3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. कुलीन वर्ग में मूलतः कौन–से दो वर्ग पाए जाते हैं?
2. पेरेटो ने समाज को किन दो वर्गों में विभक्त किया?
3. बुद्धिजीवी वर्ग से क्या तात्पर्य है?
4. हित समूह किसे कहते हैं
5. नौकरशाही का अपेक्षाकृत बेहतर स्वरूप क्या है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. विविध विद्वानों द्वारा प्रदत्त शक्ति वितरण के सिद्धांतों पर प्रकाश डालिए।
2. बुद्धिजीवियों की राजनैतिक भूमिका एवं महत्ता का निरूपण कीजिए।
3. दबाव समूह को परिभाषित करते हुए प्रमुख दबाव समूहों की विवेचना कीजिए।
4. नौकरशाही की अर्थवत्ता, विशिष्टता एवं स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
5. नौकरशाही की महत्तापरक भूमिका एवं इसके उपागम रेखांकित कीजिए।

3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

- Damodaran, K. 1967. Indian Thought: A Critical Survey. New York: Asia Publication House.
- Desai, A. R. 2005. Social Background of Indian Nationalism. Mumbai: Popular Prakashan Pvt. Ltd.

टिप्पणी

- Varma, Vishwanath Prasad. 1971. Modern Indian Political Thought. Agra: Lakshmi Narain Agarwal Publishers.
- Hans J. Morgenthau, Politics among Nations : The Struggle for Power and Peace (New York : Alfred A. Knopf, 1948).
- Hans J. Morgenthau (2nd ed.), Politics among Nations : The Struggle for Power and Peace (New York : Alfred A. Knopf, 1954).
- Kenneth N. Waltz, Theory of International Politics (Boston: Addison-Wesley Pub. Co., 1979).
- John J. Mearsheimer, The Tragedy of Great Power Politics (New York : Norton, 2001).

इकाई 4 राजनीतिक दल

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 राजनीतिक दल : वैशिष्ट्य एवं सामाजिक संरचना
  4.2.1 राजनीतिक दल : अवधारणा व वैशिष्ट्य
  4.2.2 राजनीतिक दलों की सामाजिक संरचना
4.3 भर्ती
  4.3.1 नकारात्मक और सकारात्मक भर्ती
  4.3.2 भर्ती की पद्धतियां एवं गुण–दोष
  4.3.3 अर्हताएं एवं योग्यता निर्धारक विधियां
4.4 सामूहिक भागीदारी
  4.4.1 स्थानीय स्वशासन का संगठन एवं लोक भागीदारी
  4.4.2 न्यून लोक भागीदारी के सूचक
  4.4.3 स्वशासन व्यवस्था में लोक भागीदारी बढ़ाने के उपाय
  4.4.4 जनभागीदारी और स्थानीय स्वशासन
4.5 राजनीतिक उदासीनता : कारण एवं प्रभाव (भारत के विशेष संदर्भ में)
  4.5.1 राजनीतिक उदासीनता के कारण
  4.5.2 राजनीतिक उदासीनता के परिणाम
4.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.7 सारांश
4.8 मुख्य शब्दावली
4.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.10 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

प्रत्येक देश में राजनीतिक दलों का विकास कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में होता है। भारत में राजनीतिक दलों का विकास स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हुआ। इसमें सबसे विशिष्ट राजनीतिक दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एकछत्रनुमा ऐसा दल था, जिसमें सभी क्षेत्रों, समुदायों, वर्गों, जातियों, धर्मों, विचारधाराओं आदि को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। भारत के लगभग सभी दलों का उद्‌भव भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से हुआ। यद्यपि हिंदू महासभा, जनसंघ, साम्यवादी दल, मुस्लिम लीग आदि का पृथक अस्तित्व भी था, परंतु प्रभाव एवं चुनाव में सीटों की प्राप्ति के दृष्टिकोण से अन्य दलों का अस्तित्व लगभग नगण्य था। संभवतः इसी कारण भारत में एक स्वस्थ विपक्षी दल का विकास नहीं हो सका था।

भर्ती एक व्यापक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से लोक प्रशासन में योग्य कर्मचारियों का चयन और संगठन किया जाता है और उन्हें उनके पदों पर नियुक्त कर प्रशासन में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है।

लोकतंत्र का अर्थ, इसी में निहित है कि यह एक ऐसी शासन प्रणाली होती है जिसमें लोक (Public) की भागीदारी महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य है। यदि गांव में सड़क

टिप्पणी

बननी है तो स्थानीय व्यक्तियों को इसके लिए पहल करनी होगी एवं स्थानीय शासन से सड़क बनाने को मांग करनी होगी। स्थानीय शासन मांग की आवश्यकतानुसार, वित्तीय प्रबंध करवाकर सड़क निर्माण का कार्य सम्पन्न करवा सकता है। अर्थात लोकतंत्र में नागरिकों (लोक या पब्लिक या जनता) की भागीदारी प्रत्येक स्तर पर वांछित है।

राजनीतिक उदासीनता (Political Apathy) से अभिप्राय व्यक्ति की राजनीति के प्रति उदासीनता और राजनीतिक सहभागिता में ह्रास से लगाया जाता है। राजनीतिक उदासीनता वास्तव में अधिक व्यापक अवधारणा 'राजनीतिक अलगाव' का एक भाग है। राजनीतिक उदासीनता का अर्थ व्यक्ति में राजनीति के प्रति विकर्षण, शक्तिहीनता और राजनीतिक नेतृत्व पर से विश्वास उठ जाना है।

इस इकाई में हम राजनीतिक दल से संबंधित विशिष्टता एवं सामाजिक संरचना और भर्ती प्रक्रिया को समझाते हुए राजनीतिक उदासीनता के कारणों एवं प्रभाव की विवेचना करेंगे।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राजनीतिक दल संबंधी यथार्थ से परिचित हो पाएंगे,
- भर्ती संबंधी तथ्यों को जान पाएंगे,
- सामूहिक भागीदारी से अवगत हो पाएंगे,
- राजनीतिक उदासीनता के कारण व परिणाम समझ पाएंगे।

4.2 राजनीतिक दल : वैशिष्ट्य एवं सामाजिक संरचना

सामान्यतः भारतीय दलीय व्यवस्था के विषय में यह कहा जाता है कि भारत में राजनीतिक दल हैं परंतु कोई दलीय व्यवस्था नहीं है। इस कथन का आधार ब्रिटेन की दो दलीय प्रणाली है, जहां दलों की सुस्पष्ट विचारधारा और नीतियां एवं कार्यक्रम हैं। भारत में स्वतंत्रता के बाद से लेकर आज तक राजनीतिक दलों के संदर्भ में कुछ भी स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता है।

4.2.1 राजनीतिक दल : अवधारणा व वैशिष्ट्य

राजनीतिक दलों को विद्धानों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है, इस संबंध में कोई मतैक्य नहीं पाया जाता। परम्परागत परिभाषाओं से हटकर कुछ नई परिभाषाएं भी दी गई हैं किंतु उनमें से भी अनेक परिभाषाएं अस्पष्टता से बोझिल हैं।

प्रख्यात राजनीतिक विचारक बर्क (Burke) के अनुसार राजनीतिक दल व्यक्तियों का ''एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य सामान्य सिद्धांतों पर सहमत हों और सामूहिक प्रयत्नों द्वारा राष्ट्रीय हित का परिवर्तन करे के लिए एकता के सूत्र में बंधे हों।'' बर्क की इस परिभाषा में राजनीतिक दल के तीन लक्षण स्पष्ट हैं–(i) सामान्य सिद्धांतों को सदस्यों द्वारा स्वीकृति (ii) राष्ट्रीय हित की प्रत्याशा, एवं (iii) संगठित इकाई के रूप में कार्य करने की उत्कंठा। बर्क की परिभाषा इस बात की ओर कोई संकेत नहीं करती है कि राजनीतिक

दल अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजकीय शक्ति को माध्यम बनाते हैं और उस पर अधिकार जमाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

टिप्पणी

मैक्स वेबर (Max Weber) की दृष्टि में ''राजनीतिक दल स्वेच्छा से बनाया हुआ वह संगठन है जो शासन शक्ति को अपने हाथ में लेना चाहता है और इसको हस्तगत करने के लिए प्रचार तथा आन्दोलन का सहारा लेता है। इस शासन शक्ति को अपने हाथ में लेने के पीछे एक उद्देश्य हो सकता है जो या तो वस्तुनिष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति है या व्यक्तिगत स्वार्थ या दोनों।''

गिलक्राइस्ट (Gilchrist) ने लिखा है कि ''राजनीतिक दल को उन नागरिकों के संगठित समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो राजनीतिक रूप से एक विचार के हों और राजनीतिक इकाई के रूप में सरकार पर नियंत्रण करना चाहते हो।''

मेकाइवर (Maciver) के मत में ''राजनीतिक दल एक समुदाय है जिसका संगठन किसी विशेष सिद्धांत या नीति के समर्थन के लिए हुआ हो जो सांविधानिक उपायों का सहारा लेकर इस सिद्धांत अथवा नीति को सरकार का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।''

गैटिल (Gettell) के शब्दों में, ''राजनीतिक दल प्रायः संगठित नागरिकों का ऐसा समुदाय है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और अपने मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सरकार का नियंत्रण करना तथा अपनी सामान्य नीति की पूर्ति करना चाहते हैं।''

इन परिभाषाओं से यह ध्वनित होता है कि राजनीतिक दलों का निर्माण मानव–स्वभाव की विशेषताओं के मतैक्य और संगठन पर आधारित है। वे व्यक्ति जिनमें एकता की भावना है, जिनमें एक राजनीतिक ध्येय पर मतैक्य है और जो सुसंगठित है, दल कहलाते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दलों में निम्नलिखित मुख्य लक्षण अवश्य पाए जाते हैं–

1. कुछ विशिष्ट सिद्धांतों, जैसे राजनीतिक तथा आर्थिक के आधार पर संगठित व्यक्तियों का समूह।
2. लम्बी अवधि के लिए संगठन,
3. मुख्य सिद्धांत पर सदस्यों में मतैक्य,
4. अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शांतिपूर्ण तथा संविधानिक साधन अपनाने का विचार यद्यपि कुछ राजनीतिक दल बल प्रयोग पर भी विश्वास करते हैं।
5. राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य से निर्वाचन आदि में भाग लेना, एवं
6. राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर अपने सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देना।

प्रो. मसलदान ने हाल ही में प्रकाशित अपनी एक पुस्तक में राजनीतिक दल की परिभाषा इस प्रकार दी है–''राजनीतिक दल उस ऐच्छिक समूह को कहते हैं जो कुछ सामान्य राजनीतिक व सामाजिक सिद्धांतों के आधार पर तथा कुछ सामान्य लक्ष्यों और आदर्शों की पूर्ति के लिए शासन चलाने के लिए प्रयत्न करता है तथा अपने सदस्यों को सत्तारूढ़ करने की चेष्टा करता है और उसके लिए चुनाव तथा अन्य साधनों का भी प्रयोग करता है।''

टिप्पणी

कार्ल जे. फ्रेडरिक (Carl J. Friedrick) ने लिखा है कि एक 'राजनीतिक दल उन व्यक्तियों का समूह है जो अपने नेताओं के लिए शासकीय नियंत्रण प्राप्त करके अथवा बनाए रखने (Securing of maintaining for its Leaders the Control of Govt.) के उद्देश्य हो कि ऐसे नियंत्रण के माध्यम से दल के सदस्यों को आदर्श और भौतिक लाभ प्रदान किए जाएं।'

राजनीतिक दल की मार्क्सवादी–लेनिनवादी परिभाषा (Marxist-Leninist Definiton)

मार्क्सवादियों के अनुसार राजनीतिक संघर्षों का निर्धारण उनके मूल में निहित वर्ग संघर्षों (Class struggles) से होता है। लेनिन और स्टालिन के लिए दल वर्ग का ही एक भाग था (A part of a Class)। लेनिन ने दल की अपनी विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है–दल कुछ विशिष्ट बुद्धिजीवियों और निहित पुरुषों का एक सुसंगठित गुट होता है। यह चुने हुए बुद्धिजीवियों का गुट इस अर्थ में है कि उसकी मार्क्सवाद विषयक विद्वता मार्क्स के सिद्धांत की शुद्धता को कायम रखती है, तथा दल की नीति का पथ–प्रदर्शन करती है और जब दल शक्ति प्राप्त कर लेता है तब राज्य की नीति का पथ–प्रदर्शन करती है। इन चुने हुए नीति पुरुषों का संगठन इस अर्थ में है कि चुनाव और कठोर दलगत प्रशिक्षण के कारण लोग दल तथा क्रांति के प्रति पूरी तरह निष्ठावान हो जाते हैं।

लेनिन के मतानुसार दल सदैव ही मजदूर आंदोलनों के बीच रहता है। वह इन आंदोलनों को नेतृत्व तथा पथ–प्रदर्शन प्रदान करता है। दल क्रांति के विचारों का प्रसारण करता है, क्रांति कला का शिक्षण देता है, और मजदूरों को अपने उद्देश्य की पूतिं में सफल बनाता है। शक्तिशाली दलीय संगठन के कारण मजदूर वर्ग एक अजेय शक्ति बन जाएगा। दल की अनिवार्यता न केवल क्रांति से पूर्व ही है, बल्कि पूंजीवाद राज्य का विनाश करने एवं श्रमजीवी अधिनायकवाद की स्थापना करने के लिए इसका होना आवश्यक है। लेनिन ने कहा था कि यदि दल को वास्तव में अग्रवाहक या सेनाप्रमुख के रूप में कार्य करना हो तो यह सर्वाधिक अपेक्षित है कि उसे क्रांतिकारी सिद्धांत और क्रांति के नियमों का भी पूर्ण ज्ञान हो। दल का प्रयोजन सर्वहारा वर्ग एवं संपूर्ण जनता की भलाई करना है।

जे.एस. कोलमेन और जेम्स जप की परिभाषाएं (Definition of J.S. Coleman and James Jupp)

जे.एस. कोलमेन ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल पार्टीज एण्ड नेशनल इंटिग्रेशन इन ट्रॉपिकल अफ्रीका' में दल की एक उपयोगी परिभाषा दी है। तदनुसार ''राजनैतिक दल के समुदाय हैं जो औपचारिक रूप से इस स्पष्ट उद्देश्य से संगठित होते हैं कि उन्हें एक वास्तविक अथवा संभावित संप्रभु राज्य की सरकार की नीति और और उसके सेवीवर्ग पर वैधानिक नियंत्रण प्राप्त करना और बनाए रखना है, चाहे अकेले अथवा मिलकर अथवा वैसे ही अन्य समुदायों के साथ चुनाव प्रतियोगिता करके।''

प्रो. न्यूमैन के विचार (Sigmund Newman's Views)

प्रो. न्यूमैन ने गहन विश्लेषण के आधार पर अपना जो अभिमत प्रस्तुत किया है वह उल्लेखनीय है। उन्होंने ठीक ही लिखा है कि प्रजातांत्रिक और अधिनायकवादी राज्यों

टिप्पणी

के राजनीतिक दलों में पाई जाने वाली विषमता के कारण उनकी कोई एक परिभाषा नहीं दी जा सकती। फिर भी एक दल बनाने का अभिप्राय है किसी एक समूह से एकरूपता और दूसरे से भिन्नता (Identification with one group and differentiation from another)। सिगमंड न्यूमैन (Sigmund Newman) का मत है कि ''अपने सारभूत रूप में प्रत्येक दल के एक विशेष संगठन में साझेदारी (Partnership in Particular Organisation) और एक विशिष्ट कार्यक्रम द्वारा दूसरों से पृथकता (Separation from others by a Specific Programme) प्रकट करता है।'' स्पष्ट है कि दल की परिभाषा और अस्तित्व में ही प्रजातांत्रिक वातावरण की पूर्व कल्पना निहित है जो अधिनायकवादी शासन व्यवस्था में नहीं पाई जाती। न्यूमैन का तर्क है कि यों तो एक दलीय व्यवस्था अपने आप में विरोधी (A contradiction in itself) है क्योंकि एक राजनीतिक दल को वास्तविक (Real) बनाने के लिए किसी न किसी प्रतियोगी समूह (Conservative Group) का सहअस्तित्व आवश्यक है और यदि हम गहराई से अवलोकन करें तो एक सर्वाधिकारवादी दल (Totalitarian Party) भी कार्यशील विरोध (Functioning Opposition) पर निर्भर करता है। यदि किन्हीं विरोधों का अस्तित्व नहीं है तो भी तानाशाही विरोधों की संभावना से भयग्रस्त रहता है क्योंकि एकाधिकारवादी शासन (Monolithic Rule) से अधिनायकवादी दलों को किसी प्रछन्न अथवा कल्पित प्रतिक्रांति के भय से सचेत रहते हुए अपना अस्तित्व बनाए रखना होता है। प्रो. न्यूमैन ने लिखा है कि ''कार्य–कलापों का सामान्य क्षेत्र (A Common Field of Activity), एक आधारभूत समानता (Basic Homogeneity), एक समान भाषा (A Common Language) आदि एक कार्यशील दलीय–व्यवस्था (Functioning Party System) की पूर्व धारणाएं (Pre-suppositions) हैं।''

राजनीतिक दल और गुट में अंतर

प्रायः दलों के संबंध में एक शब्द का प्रयोग आम बोलचाल की भाषा में है कर दिया जाता है और वह है 'गुट'। परंतु 'दल' और 'गुट' में भिन्नता है–

1. गुट दलों के समान स्थायी नहीं होते और न ही उद्देश्य की समानता तथा वांछित अनुशासन रखते हैं।
2. राजनीतिक दल प्रश्नों का हल मतों द्वारा करते हैं जबकि गुट शक्ति द्वारा।
3. राजनीतिक दल राष्ट्रहित के लिए वैधानिक प्रयत्नों द्वारा राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं जबकि गुट वर्गीय स्वार्थों की प्राप्ति के लिए बल प्रयोग, गुंडागर्दी आदि साधन अपनाते हैं।
4. गुटों से सर्वथा विपरीत, दल ऐसे व्यक्तियों की साझेदारी है जो सामान्य उद्देश्य को पाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहते हैं, अपने आपको निश्चित कार्यक्रम सहित अनुशासनबद्ध कर लेते हैं तथा जनमत को अपने पक्ष में करके शासन का नियंत्रण अपने हाथ में लेना चाहते हैं। दल के सदस्य एक राजनीतिक इकाई के कार्य में कार्यरत रहते हुए अपनी कल्पित नीति अथवा अपने कार्यक्रम को विस्तार देने के लिए शासन–यंत्र को हस्तगत करने को प्रयत्नशील रहते हैं।

टिप्पणी

प्रो. मसलदान ने लिखा है कि ''गुट शब्द का प्रयोग बुरे अर्थों में किया जाता है और जब कभी किसी दल की कटु आलोचना करनी होती है तब उनको गुट कह दिया जाता है। गुट का अर्थ एक ऐसे समूह से है जो अपने व्यक्तिगत संकुचित स्वार्थ की पूर्ति के लिए राजनीतिक कार्यवाही में क्रियाशील रहता है और दलों के संगठन में विभाजन पैदा करके भी अपने स्वार्थ की सिद्धि चाहता है। गुटों का कोई स्थायी अस्तित्व नहीं होता है, और न कोई विशेष संगठन ही। स्वार्थ की सफलता या असफलता ही उनका विलयन का कारण होता है।''

स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक दलों की स्थिति

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में चार बड़े दल थे– कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी, हिंदू महासभा तथा मुस्लिम लीग। जहां तक समाजवादी दल का संबंध है, वह कांग्रेस में रहकर ही अपना कार्य कर रहा था। परंतु 1948 में एक अलग दल की हैसियत से कार्य करने लगा। बाद में समाजवादी दल में विघटन की कुछ ऐसी प्रक्रिया चली कि समय–समय पर वह अनेक रूपों में प्रकट हुआ जैसे; प्रजा समाजवादी दल, संयुक्त समाजवादी दल तथा समाजवादी दल और फिर वह लुप्त हो गया। 1964 में कम्युनिस्ट पार्टी 1969 भी दो दलों में बंट गयी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तथा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी में कांग्रेस में दरार आई जिसके कारण वह दो दलों में विभक्त हो गई– भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा संगठन कांग्रेस। इन दलों के अतिरिक्त तीन और राजनीतिक दलों का उल्लेख किया जाता है– 1952 में स्थापित भारतीय जनसंघ, 1959 में स्थापित स्वतंत्र पार्टी तथा अगस्त, 1974 में स्थापित भारतीय लोकदल जिसका निर्माण कई पार्टियों के मिल जाने से हुआ, जैसे भारतीय क्रांति दल, स्वतंत्र पार्टी व अन्य छोटी पार्टियां ।

26 जून 1975 को देश में आपात स्थिति की घोषणा की गई। आपात स्थिति के दौरान कुछ राजनीतिक दलों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही की गई। मार्च, 1977 में छठी लोक सभा के लिए चुनाव हुए। चुनावों में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रतिपक्ष के बड़े–बड़े नेताओं ने मिलकर जनता पार्टी का गठन किया। चुनावों में केंद्र में जनता पार्टी की सरकार बनी।

1979 में जनता पार्टी के विघटन का सिलसिला शुरू हुआ और 1980 तक यह पार्टी तीन पार्टियों में बंट गई थी– जनता पार्टी, लोकदल और भारतीय जनता पार्टी। 1988 में जनता दल के निर्माण की घोषणा की गई। जनता पार्टी और लोकदल के अधिकांश सदस्य जनता दल में शामिल हो गए। 1989 में संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी परंतु 1991 में फिर आम चुनाव हुए और इसमें पुनः कांग्रेस की सरकार बनी। 1996 के 11 वीं लोकसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी एवं क्षेत्रीय दलों को व्यापक सफलता मिली। परंतु किसी दल को बहुमत न मिल पाने से राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार बनी। सन् 1998 में 12 वीं लोक सभा के चुनाव में भाजपा एवं सहयोगी दलों की सरकार बनी। इस चुनाव में क्षेत्रीय दलों का महत्व बढ़ा। कांग्रेस की स्थिति कमजोर हुई और केंद्र में संविद सरकार की परम्परा आगे बढ़ी।

भारतीय दलीय व्यवस्था की प्रकृति

भारत में स्वतंत्रता के बाद उत्पन्न हुई दलीय व्यवस्था को एक विशिष्ट नाम दिया गया– 'एक दल प्रभावी बहुदलीय व्यवस्था' जिसे कुछ विद्वानों ने भारतीय राष्ट्रीय

कांग्रेस के प्रभावशाली होने के कारण 'कांग्रेस व्यवस्था' का नाम दिया। भारतीय दलीय व्यवस्था की इस विशिष्ट प्रकृति की निम्न विशेषताएं हैं–

टिप्पणी

1. **एक दल प्रभावी बहुदलीय व्यवस्था**– भारतीय दलीय व्यवस्था न तो रूस व चीन की तरह की एक–दलीय प्रणाली है और न ब्रिटेन व अमेरिका की भांति द्वि–दलीय प्रणाली अपितु, बहुदलीय प्रणाली है। दूसरे शब्दों में, भारत में बहुत से राजनीतिक दल हैं। भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति से पूर्व ही भारत में अनेक राजनीतिक दल विकसित हो चुके थे। आज यदि भारतीय राजनीतिक दलों की सूची बनाई जाए तो संभवतः वह 50 से भी अधिक है। कांग्रेस, जनता पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, कांग्रेस आई आदि दलों को, जो कि राष्ट्रीय दल हैं, छोड़कर अकाली दल, द्रविड़ मुनेत्र कडगम जैसे अनेक स्थानीय दल भी राजनीति में क्रियाशील हैं। इस संदर्भ में एक विद्वान ने तो यहां तक कहा है कि, ''राजनीतिक दलों का निर्माण भारत का कुटीर उद्योग धंधा बन गया है।'' तथापि अनेक राजनीतिक दलों का निर्माण होने पर भी मार्च 1977 से दिसम्बर 1979 तक की अवधि को छोड़कर स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर 1967 तक कांग्रेस भारतीय राजनीति के क्षितिज पर इस प्रकार छाई रही कि कुछ लेखकों ने भारत को एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली वाले देश का नाम देना प्रारंभ कर दिया था। परंतु सन् 1989 के चुनाव के बाद परिदृश्य बदल गया। सन् 1989, 1996, 1998 एवं 1999 आदि के लोक सभा चुनावों में त्रिशुंक संसद के कारण केंद्र में संविद सरकार बनी।
2. **विदेशी सत्ता के विरुद्ध**– भारत में राजनीतिक दलों का विकास उस प्रकार नहीं हुआ, जिस प्रकार कि पश्चिमी देशों में राजनीतिक दलों का विकास कुलीन तथी सत्तारूढ़ वर्ग को अपदस्थ करने के लिए हुआ था। इसके विपरीत भारत में राजनैतिक दलों के विकास का मुख्य कारण व आधार विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष संचालित करना था। राष्ट्रीय कांग्रेस ने सर्वप्रथम विदेशी शासन के विरुद्ध आवाज उठाई और स्वराज्य की मांग की। अन्य राजनैतिक दल कांग्रेस के सहयोग से कार्य करते रहे। आइवर जैनिंग्स के अनुसार, ''सभी समुदाय अंततः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे राष्ट्रवादी दल में जाकर मिल जाते थे, जिनमें अति दक्षिण पंथी व अति वामपंथी सभी प्रकार के मतों का प्रतिनिधित्व होता था क्योंकि भारतीय स्वाधीनता के प्रश्न पर सभी सहमत थे।'' रजनी कोठारी के अनुसार, ''ऐतिहासिक दृष्टि से कांग्रेस का विकास न केवल औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध आंदोलन के रूप में हुआ था वरन उसका विरोध परंपरागत समाज के सबसे अधिक निर्मम एवं क्रूर लक्षणों से भी था। उसके कार्यक्रम में जो स्थान राष्ट्रीय स्वाधीनता को प्राप्त था, वही स्थान सामाजिक पुररुत्थान को भी मिला हुआ था।''
3. **संविधान रिक्त**– भारतीय दल प्रथा संविधान की देन नहीं है। विश्व के प्रायः सभी संविधान दल प्रथा के वर्णन से रिक्त हैं। केवल साम्यवादी संविधान ही दल प्रथा का वर्णन करते हैं और देश में साम्यवादी दल की स्थापना करते हैं। गैर साम्यवादी देशों के संविधानों में प्रायः दल प्रथा का कोई वर्णन नहीं किया जाता और इसका विकास देश की परिस्थितियों पर छोड़ दिया जाता है। भारतीय संविधान में राजनैतिक दलों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

टिप्पणी

4. **सांप्रदायिकता एवं जातिवाद पर आधारित**– भारतीय दल व्यवस्था का एक विशेष लक्षण उसका सांप्रदायिक स्वरूप भी है। कई दल अपने नाम से ही सांप्रदायिक दिखते हैं जैसे– हिंदू महासभा, मुस्लिम लीग तथा अकाली दल। पर इस समय जो राष्ट्रीय दल कहलाते हैं, वे भी सांप्रदायिकता से एकदम अछूते नहीं है। चुनावों के समय पार्टी के उम्मीदवारों का चयन वे इसी आधार पर करते हैं कि अमुक चुनाव क्षेत्र में हिन्दुओं मुसलमानों और अनुसूचित जातियों की जनसंख्या का अनुपात क्या है? राष्ट्रीय दलों ने सांप्रदायिक शक्तियों से समझौते किए है और इस प्रकार सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया है। 1988 के एक अधिनियम के अनुसार हर राजनीतिक दल को पंजीकरण कराते समय यह घोषणा करनी पड़ेगी कि वह ''समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के सिद्धांतों में पूरा–पूरा विश्वास रखता है।'' बहुसांस्कृतिक समाज में धर्मनिरपेक्षता 'सामाजिक सद्भाव' की कुंजी है। इसी विचार से राजनीतिक दलों के संविधानों में धर्मनिरपेक्षता की घोषणा आवश्यक समझी गई पर इसमें कोई संदेह नहीं कि चुनावों के दौरान सांप्रदायिक भावनाओं को उभारा जाता है। जहां तक जातिवाद का प्रश्न है, उत्तर प्रदेश में बसपा (बहुजन समाज पार्टी) सपा (समाजवादी पार्टी), बिहार में राजद (राष्ट्रीय जनता दल) आदि जाति पर आधारित राजनीतिक दल हैं। उसके इलावा चुनाव में जाति के आधार पर टिकटों का वितरण किया जाता है।

5. **सुस्पष्ट विचारधारा का अभाव**– भारतीय दलों का संगठन सुस्पष्ट आधारों पर देखने को नहीं मिलता। जहां तक कांग्रेस का प्रश्न है, उसकी नीतियों में काफी लोच रही है। कांग्रेस ऐसी जमात है जिसका भारत की स्वाधीनता संग्राम से गहरा संबंध रहा है और इसीलिए उसमें शुरू से लेकर आज तक हर तरह की विचारधारा के व्यक्ति रहे हैं। स्वतंत्र पार्टी का जन्म 'समाजवाद' के विरोध में हुआ था। वह 'राष्ट्रीयकरण' और 'नियोजित आर्थिक विकास' के विरुद्ध थी, परंतु 1974 में स्वतंत्र पार्टी, संयुक्त समाजवादी पार्टी तथा अन्य कई पार्टियों ने मिलकर भारतीय लोक दल की स्थापना की। 1977 में जनता पार्टी की स्थापना उन दलों के मिलने से हुई जिनकी नीतियां परस्पर विरोधी थी। नीतियों व आपसी विरोध के कारण जनता पार्टी का शीघ्र ही बिखराव शुरू हो गया।

   दिसंबर, 1989 में गठित राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार भारतीय जनता पार्टी और वामपंथी दलों के समर्थन पर टिकी थी। नवंबर, 1990 में उसका पतन हो गया। 1996 में एच.डी. देवगौड़ा के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी। सन् 1999 में 13वीं लोक सभा के चुनाव में भाजपा के सहयोगी दलों ने अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व मे, एन.डी.ए. की सरकार बनायी जबकि 2004 की 14वीं लोकसभा में कांग्रेस ने सहयोगी दलों के सहयोग से मनमोहन सिंह के नेतृत्व ने यू.पी.ए. की सरकार बनायी। इतनी अलग–अलग विचारधाराओं के लोग एक मंच पर इकट्ठे होकर सरकार चलाएंगे तो निश्चित रूप से मतभेद सामने आएंगे ही। वर्तमान समय में तो बिना विचारधारा और नीतियों के आधार पर गठबंधन हो रहे हैं।

6. **व्यक्ति पूजा का महत्व**– स्वस्थ नेतृत्व की परम्परा पर प्रजातंत्र आधारित है, परंतु नेतृत्व को व्यक्ति पूजा में परिवर्तित कर देना प्रजातंत्र के लिए घातक

टिप्पणी

है। पर भारत के राजनैतिक दलों पर नेताओं का व्यक्तिगत प्रभाव आवश्यकता से अधिक रहा है। विभिन्न दलों में कार्यक्रम की अपेक्षा नेतृत्व को प्रमुखता दी जाती रही है। एक लंबे समय तक कांग्रेस नेहरू जी के व्यक्तित्व से प्रभावित रही और बाद में इन्दिरा जी का व्यक्तित्व कांग्रेस पर छाया रहा है। नेता के व्यक्तित्व के आधार पर ही दल बन जाते हैं, कार्यक्रम के आधार पर नहीं। जैसे कांग्रेस (आई.) जनता (जे.पी.) लोक दल आदि। तमिलनाडु में अन्नादुराई के व्यक्तित्व ने द्रविड़ मुनेत्र कडगम को जन्म दिया। पश्चिमी बंगाल और केरल में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ज्योतिबसु तथा नम्बूदिरीपाद के व्यक्तित्व की लोकप्रियता पर आधारित थी। भारतीय जनता पार्टी पर अटल बिहारी बाजपेयी का व्यक्तित्व हावी रहा है।

7. **विभिन्न दलों का उदय एक ही राजनैतिक केंद्र**– स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व कांग्रेस एक राजनीतिक दल ही नहीं बल्कि एक ऐसे आंदोलन के रूप में कार्य करती रही जिसमें सब मतों व वर्गों के सदस्यों को स्थान प्राप्त था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद धीरे–धीरे अनेक राजनैतिक समूह कांग्रेस की छत्र छाया से बाहर निकलते चले गए। जैसे सन् 1948 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। कुछ वर्षों पश्चात आचार्य कृपलानी ने दल छोड़कर किसान मजदूर प्रजा पार्टी बनाई जो बाद में समाजवादी दल में मिल गई और इसके परिणामस्वरूप प्रजा समाजवादी दल बना। संयुक्त समाजवादी दल के संस्थापक डॉ. राम मनोहर लोहिया भी पहले कांग्रेस के सदस्य थे। जनसंघ दल का निर्माण डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने किया, जो कांग्रेस से असंतुष्ट हो गए थे। क्षेत्रीय स्तर पर भी अधिकांश दल कांग्रेस से ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे उत्कल कांग्रेस, बंगला कांग्रेस, केरल कांग्रेस, फारवर्ड ब्लाक, भारतीय क्रान्ति दल, विशाल हरियाणा पार्टी व तेलंगाना प्रजा समिति इत्यादि। कांग्रेस के अंदर भी गुटबाजी चलती रही। सी.एफ.डी. जिसके नेता श्री जगजीवन राम थे, कांग्रेस (ओ.), कांग्रेस (आई.) ये सभी कांग्रेस के बिखराव से ही निर्मित हुए।

8. **संगठित विरोधी दल का अभाव**– प्रजातंत्र की सफलता के लिए राजनैतिक दलों की संख्या कम से कम होनी चाहिए। बहुदलीय प्रणाली अनुत्तरदायी विरोधी दल को जन्म देती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से अब तक भारत में सिवाय जनता पार्टी के शासनकाल के विरोधी दल के रूप में किसी एक संगठन दल का अभाव रहा है, इसके विभिन्न कारण हैं। प्रथम, कांग्रेस का ऐतिहासिक महत्व, दूसरा विरोधी दलों के अंदर पारस्परिक फूट, जैसा कि जनता पार्टी के शासनकाल में स्पष्ट हो गया है, जो दलों को दुर्बल बना देती है। तीसरा, विरोधी दलों के पास निश्चित व स्पष्ट नीतियों का अभाव रहा है जो जनता को प्रभावित करने में असफल रहा है। संगठित विरोधी दल सदा उत्तरदायी दल के रूप में कार्य करता है और ध्वंसात्मक तरीकों का प्रयोग नहीं करता।

9. **अनुशासन का अभाव**– भारतीय राजनीतिक दलों में अनुशासन का अभाव है। विभिन्न राजनीतिक दलों का संगठन बहुत लचीला व ढीला है। के. सत्यानम के अनुसार, ''इन तथाकथित राजनीतिक दलों के मुख्य दोष ये हैं कि ये दल न तो

टिप्पणी

लोकतांत्रिक हैं, न संघीय और न ही निष्ठावान और अनुशासन प्रिय।'' विभिन्न दलों में स्वतंत्रता पर्याप्त रूप से पायी जाती है। ये दल विशुद्ध राजनीतिक अवसरवाद की भावना से कार्य करते हैं। सत्ता के लोभ में इन्हें दल बदलने में कोई संकोच नहीं होता, अतः दलों का विघटन व गुटबंदी दैनिक घटनाएं बन गई हैं। दलों के सदस्यता नियम अत्यंत लचीले हैं, अतः सदस्य सरलता से दल परित्याग कर सकते हैं। इसी कारण दल बदल की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण एवं वैशिष्ट्य

भारतीय राजनीतिक दलों को चार भागों में बांटा जा सकता है– (1) राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल, (2) क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल, (3) स्थानीय, किंतु जातीय साम्प्रदायिक दल और (4) तदर्थ दल।

1. **राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल**–निर्वाचन आयोग ने राजनीतिक दलों के मान्यता संबंधी नियमों में परिवर्तन के लिए 1968 के चुनाव चिह्न (आरक्षण एवं आबंटन) आदेश में संशोधन करते हुए 1 दिसम्बर, 2000 को अधिसूचना जारी की है। नए नियमों के तहत राष्ट्रीय स्तर के दल का दर्जा प्राप्त करने के लिए संबंधित राजनीतिक दल की लोकसभा चुनाव अथवा विधानसभा चुनावों में किन्हीं चार अथवा अधिक राज्यों में कुल डाले गए वैध मतों के 6 प्रतिशत मत प्राप्त करने के साथ ही किसी राज्य अथवा लोकसभा में उसे कम से कम 4 सीट जीतनी होंगी अथवा लोकसभा में उसे कम से कम 2 प्रतिशत सीटें जीतनी होंगी जो कम से कम तीन राज्यों से हासिल की गई हों। प्रमुख राष्ट्रीय दल निम्न हैं–

   - भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस
   - भारतीय जनता पार्टी
   - भारतीय साम्यवादी दल
   - भारतीय साम्यवादी (मार्क्सवादी) दल
   - राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी
   - बहुजन समाज पार्टी
   - राष्ट्रीय जनता दल

   ऐसे दल दो प्रकार के हैं– बिना विचारधारा वाले दलों में कांग्रेस को लिया जा सकता है। विचारधारा से अभिप्राय है, किसी विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक दर्शन में विश्वास और प्रतिबद्धता व्यक्त करना। कांग्रेस एक ऐसा दल है जिसमें अनेक विचारधारा और हितों के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते हैं। इसे दल के बजाय एक सार्वजनिक मंच (प्लेटफार्म) कहा जा सकता है।

   विचारधारा में विश्वास करने वाले राष्ट्रीय दलों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है– दक्षिणपंथी और वामपंथी। दक्षिणपंथी दल जहां यथास्थिति को बनाये रखना चाहते हैं वहीं वामपंथी आर्थिक और सामाजिक ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं। स्वतंत्रता दल, जनसंघ और भारतीय जनता पार्टी को दक्षिणपंथी दल कहा जाता था क्योंकि भारतीय परिप्रेक्ष्य में इनके दृष्टिकोण ब्रिटिश

टिप्पणी

अनुदारवादी दल से मिलते–जुलते हैं। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युस्टि पार्टी, सी.पी.आई. (एम.एल.), फारवर्ड ब्लॉक, इण्डियन पीपुल फ्रंट आदि वामपंथी दल है। वामपंथी दल भी दो प्रकार के हैं– उदार और उग्र। उदार दलों में सभी समाजवादी दलों को लिया जा सकता है तथा उग्र दलों में सभी प्रकार के साम्यवादी दलों को स्थान दिया जा सकता है। उदारवादी दल, गांधीवाद और फेबियनवादी सिद्धांतों में विश्वास करते हैं जबकि साम्यवादी दल क्रांतिकारी साधनों में विश्वास करते हैं। समस्त प्रकार के अखिल भारतीय दलों का दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष है उनकी सदस्यता सभी धर्मों और जातियों के लिए खुली है।

2. **क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल**– ये वे दल हैं जिनका प्रभाव राज्य की सीमा तक ही है। राज्य दल का दर्जा प्राप्त करने के लिए संबंधित दल को लोकसभा अथवा विधानसभा चुनाव में डाले गए कुल वैध मतों का कम से कम 6 प्रतिशत मत प्राप्त करने के साथ ही राज्य विधानसभा में कम से कम दो सीटें जीतना आवश्यक है अथवा विधानसभा की कुल सदस्य संख्या की कम से कम तीन प्रतिशत सीटें अथवा तीन सीटें (इनमें से जो अधिक है) जीतना आवश्यक होगा। इनमें तेलुगूदेशम, शिवसेना, डी.एम.के. अन्ना डी.एम.के., असम गण परिषद, सिक्किम संग्राम परिषद समाजवादी पार्टी, तमिल मनीला कांग्रेस, तृणमूल कांग्रेस आदि हैं। आंध्रप्रदेश, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, असम, सिक्किम, आदि राज्यों में ये दल प्रभावशाली हैं।
3. **स्थानीय किंतु जातीय साम्प्रदायिक दल**– कतिपय दल विशेष जाति या समुदाय तक ही सीमित है। केरल की मुस्लिम लीग, महाराष्ट्र की शिवसेना, पंजाब का अकाली तथा बिहार की झारखण्ड पार्टी ऐसे ही दल हैं।
4. **तदर्थ दल**– भारत में ऐसे भी दल हैं जो बनते और बिगड़ते रहते हैं। इन्हें छोटे–छोटे गुट कहा जा सकता है। ऐसे दलों में कांग्रेस (तिवारी), केरल कांग्रेस, बंगला कांग्रेस, हरियाणा कांग्रेस, जनता पार्टी, रामराज्य, आदि को याद किया जा सकता है। ये विभिन्न दलों से निकले असंतुष्ट नेताओं द्वारा निर्मित गुट हैं।

क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों की विशेषताएं

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय और राज्यस्तरीय दलों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। इन दलों की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. भारतीय राजनीति में राज्य दलों का वर्चस्व सन् 1967 के चतुर्थ आम चुनावों के बाद बढ़ने लगा।
2. भारत के क्षेत्रीय दल आमतौर से राज्य स्तरीय दल ही हैं।
3. इन राज्य स्तरीय दलों की प्रमुख मांग राज्य स्वायत्तता है।
4. इन राज्य स्तरीय दलों की प्रमुख प्रतिस्पर्द्धा कांग्रेस दल से रही है। अब यह भारतीय जनता पार्टी से है।

5. राज्य स्तरीय दलों की संकुचित अपील और आधार होते हैं, जैसे उपसंस्कृति, जातीयता और धर्म के तत्व आदि।
6. क्षेत्रवाद का उदय केंद्र के खिलाफ विद्रोह से होता है।

टिप्पणी

भारतीय दलीय व्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियां

वर्तमान समय में भारतीय दलीय व्यवस्था में निम्न प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर हो रही हैं–

1. एक दलीय प्रधान दलीय व्यवस्था का लगभग अवसान हो चुका है।
2. वर्तमान समय में भारतीय जनमानस किसी के दल को पूर्ण बहुमत देने की मनःस्थिति में नहीं है।
3. मुख्यतः आम चुनाव के बाद त्रिशंकु संसद की स्थिति बन जाती है।
4. शक्ति के केंद्र का स्वरूप भी संविद है, जैसे–
   - कांग्रेस एवं सहयोगी दल
   - भाजपा एवं सहयोगी दल
   - तीसरा मोर्चा, गैर भाजपा एवं गैर कांग्रेसी दल।
5. भाजपा को छोड़कर सभी दलों में विभाजन की प्रक्रिया जारी है। बड़े दलों में अनुशासनहीनता बढ़ी है।
6. नये गुटों का निर्माण प्रमुख नेताओं के इर्द–गिर्द हो रहा है।
7. सभी दलों में विचारधारा के स्तर पर कोई विशेष अंतर नहीं रह गया है।
8. जातीयता, सांप्रदायिकता, क्षेत्रीयता एवं अवसरवाद राजनीतिक दलों पर हावी है।

राजनीतिक दलों की समस्याएं

एक दल प्रभावी बहुदलीय व्यवस्था में बहुदलीय व्यवस्था की ओर अग्रसर दलीय प्रणाली को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता हैः जैसे–

1. भाजपा को छोड़कर वर्तमान समय में सभी दल प्रभावी नेतृत्व के संकट से जूझ रहे हैं। दलीय नेतृत्व युवाओं एवं देश के लिए कोई संदेश नहीं दे पा रहा है।
2. सभी दल विशेषकर छोटे दल व्यक्तिप्रधान हो गए हैं, जिससे राजनीतिक दलों का अंदरूनी लोकतांत्रिक समाप्त हो गया है।
3. सभी राजनीतिक दलों में अनुशासनहीनता की प्रवृत्ति बढ़ी है।
4. दो दलीय व्यवस्था उभर कर नहीं आ पा रही है। इसलिए सत्ता प्राप्ति के लिए अवसरवादी गठबंधनों का निर्माण हो रहा है।
5. चुनावों में भ्रष्टाचार एवं काले धन की भूमिका प्रमुख हो गयी है। चुनावों में अत्यधिक खर्च किया जा रहा है।
6. वर्तमान समय में भारत के सभी दलों को जातिवाद, क्षेत्रवाद, सांप्रदायिकता एवं अवसरवाद से समझौता करना पड़ रहा है।

7. अशिक्षा एवं बेरोजगारी के कारण भारतीय जनमानस निराश है और समझ नहीं पा रहा है कि वह किस दल का समर्थन करे।

4.2.2 राजनीतिक दलों की सामाजिक संरचना

टिप्पणी

राजनीतिक दल संगठिन रूप से हमारे समक्ष पिछली कुछ शताब्दियों से ही आए हैं। उनके पूर्व जैसे कि डवजर लिखते हैं ''बिखरा हुआ जनमत था, क्लब–घर थे, दार्शनिक समाज थे, संसदीय गोष्ठियां थीं, किंतु वास्तविक अर्थों में संगठित राजनीतिक दल नहीं थे। किंतु वर्तमान समय में प्रायः सभी राज्यों में संगठित राजनीतिक दल हैं और जहां नहीं भी हैं वहां उनका विकास हो रहा है।'' वास्तव में राजनीतिक दलों का विकास लोकतांत्रिक विकास से जुड़ा हुआ है।

राजनीतिक दलों का निर्माण क्यों होता है इस विषय पर निम्न आधार प्रस्तुत किए जा सकते हैं–

1. राजनीतिक दलों की उत्पत्ति में मानव स्वभाव की परिवर्तनशीलता का उल्लेखनीय अनुदान रहा है। मानव परिवर्तन का अभिलाषी होता है ओर परितर्वतन परिस्थितियों के अनुरूप अपने से संबंधित विविध संस्थाओं के स्वरूप, कार्यकलापों आदि में परिवर्तन को समय की लहर मानते हुए स्वाभाविक रूप में स्वीकार कर लेते हैं वे प्रगतिशील दल के पोषक होते हैं और जो उपेक्षा करते हैं उनकी गणना रूढ़िवादियों में होती है।
2. एशिया के बहुत से देशों में, जिनमें भारत भी एक है, राजनीतिक दलों का निर्माण धार्मिक एवं सांप्रदायिक आधार पर हुआ है। भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है, किंतु हिंदू महासभा, मुस्लिम लीग, अकाली दल आदि का आधार मुख्यतः धर्म तथा सम्प्रदायवादी ही है। हिटलर से पूर्व जर्मनी में कैथोलिक सैंटर पार्टी ऐसी ही थीं। फ्रांस के दक्षिण पंथी दल, कैथोलिक विचारधाराओं के तथा वामपंथी चर्च विरोधी दल भी धार्मिक दलों के उदाहरण कहे जा सकते हैं। प्रगतिशील देशों में दलों के निर्माण का यह आधार अब लगभग समाप्त होता जा रहा है।

कुछ व्यक्ति अपनी विचारधाराओं के कारण और कुछ पद–प्राप्ति के लिए दलों के सदस्य बनते हैं। कई लोग क्षेत्रीय भावनाओं के कारण भी विभिन्न दलों के सदस्य बनते हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिका में दक्षिण प्रदेश का रहने वाला सामान्यतः डेमोक्रेटिक दल का और वरमौंट का रहने वाला रिपब्लिकन दल का सदस्य पाया जाता है। दल बनाने के कारण जातीय भी हो सकते हैं। उदाहरण स्वरूप भारत के अखिल भारतीय परिगणित जाति संघ को लिया जा सकता है। जर्मनी में नाजी पार्टी का भी यह एक प्रमुख आधार था क्योंकि इस दल का कार्यक्रम यहूदियों को जर्मनी से बाहर निकाल देना था। दक्षिण अफ्रीका में काले और गोरे का भेद इतना अधिक है कि गोरों ने अपने हितों की रक्षा के लिए अलग दल बना रखे हैं।

दल प्रणाली का एक मुख्य आधार यह है कि सभी विचारशील व्यक्ति प्रायः इस बात पर एकमत नहीं होते कि श्रेष्ठ राजनीतिक जीवन क्या है। राजनीतिक उद्देश्यों और साधनों के विषय में पाये जाने वाले मतभेद ही दलों का निर्माण कर लेते हैं। जो दल अपने कार्यक्रम में ऐसे राजनीतिक उद्देश्य और राजनीतिक साधन सम्मिलित करता है कि बहुमत उसके पक्ष में हो जाए, सामान्यतः वही दल देश का शासन संभालता

है। शेष अल्पसंख्यक दल विपक्ष का कार्य करते हैं। एक स्वस्थ प्रजातंत्र में विपक्ष का विरोध रचनात्मक होता है। उसका लक्ष्य सदैव अपने दल को बहुमत दल में परिवर्तित करके शासन सत्ता पर अधिकार करना होता है।

टिप्पणी

राजनीतिक दलों के निर्माण में अन्य तत्त्वों की अपेक्षा आज आर्थिक तत्त्व का महत्त्व सर्वाधिक है। समुचित आर्थिक कार्यक्रम के अभाव में हम किसी राजनीतिक दल के लम्बे समय तक जीवित बने रहने की आशा नहीं करते। राजनीतिक दल राष्ट्रीय स्तर और महत्व सभी प्राप्त कर सकते हैं जब उनके पास अपना कोई ठोस आर्थिक कार्य हो। अर्थ तत्त्व आधुनिक राजनीतिक का केंद्र बिंदु है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भारत में कांग्रेस दल प्रजातांत्रिक समाजवाद की स्थापना को और स्वतंत्र दल निजी संस्थाओं की प्रगति को अपना उद्देश्य मानता है। ब्रिटेन में श्रमिक दल पिछड़े वर्ग के उत्थान का प्रयत्न करता है तो अनुदारवादी दल गैर सरकारी सम्पत्ति की राज्य के हस्तक्षेप से मुक्ति जमींदारों और पूंजीपतियों के हितों की रक्षा आदि के लिए प्रयत्नशील रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में रिपब्लिकन दल के कार्यक्रम में श्रमिकों के लिए बीमा, सामाजिक बीमा, उत्पादकों और श्रमिकों के हित में आय–कर नीति, उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का विरोध आदि सम्मिलित हैं तो डेमोक्रेटिक दल का भी इसी प्रकार आर्थिक कार्यक्रम सुनिश्चित है।

ऑग (Ogg) के अनुसार ''राजनीतिक दलों का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि हर सार्वजनिक पक्ष के दो पहलू होते हैं, वरन् उनका अस्तित्व इसलिए है कि प्रत्येक पक्ष के दो पहलू होते हैं–एक बाहरी तथा दूसरा आन्तरिक।''

राजनीतिक दलों के मूल आधार : एम. डुवर्जर की व्याख्या

एम. डुवर्जर ने अपने प्रख्यात ग्रंथ 'पोलिटिकल पार्टीज' में दलों के मूल आधारों की व्याख्या की है। डुवर्जर ने दलों के चार आधारभूत तत्त्व (Basic Elements) बतलाए हैं–

1. कॉकस
2. शाखा
3. कोष्ठक या सैल
4. नागरिक सेवा या मिलिशिया

डुवर्जर ने लिखा है कि दल एक समुदाय ही नहीं होता है बल्कि समुदायों का एक समूह या संग्रह होता है जो देश भर में बिखरे हुए छोटे समूहों (Branches, Caucuses, Local Associations etc.) का कॉकस, शाखाओं और स्थानीय संस्थाओं का संघ होता है और समन्वयकारी संस्थाओं से जुड़ा रहता है। 'आधारभूत तत्व' शब्दावली दलीय संगठन की इन्हीं अंगभूत इकाइयों के लिए उपयुक्त होता है। प्रत्येक दल के आधारभूत तत्त्वों का अपना विशिष्ट रूप होता है। उदाहरणार्थ फ्रेंच रेडिकल सोशिलिष्ट कॉकस, फ्रेंच सोशलिस्ट पार्टी की ब्रांच, अमेरिकी दलों के कॉकस और चुनाव एजेंट, कम्युनिस्ट दलों के सैल्स–ये सभी संस्थाएं एक–दूसरे से गंभीर रूप से भिन्न हैं।

प्रत्येक दल की अपनी संरचना होती है जो दूसरे अन्य दलों की संरचना से बहुत मिलती–जुलती है। विभिन्नताओं के बावजूद आधारभूत तत्त्वों के चार प्रमुख प्रकारों को खोजा जा सकता है और दल उनमें से किसी भी तत्त्व से संबंधित हो

सकते हैं। डुवर्जर ने इन चारों आधारभूत तत्त्वों का जो वर्णन किया है, उसका सार संक्षेप प्रो. एलन बाल ने निम्नानुसार व्यक्त किया है–

टिप्पणी

कॉकस (The Caucus)–कॉकस की पहचान इसकी न्यून सदस्य–संख्या और अधिक विस्तृत सामूहिक सदस्यता चाहने के प्रति इसके प्रतिरोध से की जा सकती है। सदस्यता के लिए मात्रा या परिमाण पर नहीं बल्कि गुण पर बल दिया जाता है। यह मुख्यतया चुनाव संबंधी सक्रियताओं पर ध्यान केंद्रित करती है। और चुनावों के बीच के समय में निष्क्रय रहती है। इसके प्रत्येक सदस्य स्थानीय ख्याति प्राप्त व्यक्ति होते हैं जिन्हें अपने व्यक्तिगत गुणों तथा स्थानीय प्रभाव के कारण चुना जाता है। प्रत्यक्ष समिति, या ये दल बनाने के लिए सम्मिलित हुए स्थानीय संगठनों के प्रतिनिधि होते हैं। (अप्रत्यक्ष समिति)। इस प्रकार के दलों के दो उदाहरण देते हुए डुवर्जर फ्रांसीसी रैडिकल पार्टी और सन् 1918 से पहले की ब्रिटिश लेबर पार्टी का उल्लेख करते हैं। वे यह तर्क देते हैं कि मताधिकार के विस्तार के साथ समिति प्रकार के दल का ह्रास होता है।

शाखा (The Branch)–शाखा दल पश्चिम यूरोप में मताधिकार के विस्तार का परिणाम है। समिति पद्धति के विपरीत शाखा दल अधिकाधिक सदस्यता के लिए प्रयास करने वाला सार्वजनिक दल है। इसमें अधिकतर केंद्रीकृत दल–संरचना होती है और प्रारम्भिक इकाइयां निर्वाचन इकाइयों की ही भांति भौगोलिक आधार पर संगठित होती है। साथ ही ऐसे दल की राजनीतिक–सक्रियताएं स्थायी होती हैं और केवल चुनाव अवधियों तक ही सीमित नहीं होतीं। मजदूर वर्ग तक मताधिकार का विस्तार होने के बाद यूरोपीय समाजवादी पार्टियों ने शाखा–संरचना का आविष्कार किया था। कैथोलिक अनुदारवादी दलों ने न्यूनाधिक सफलतापूर्वक इसका अनुकरण किया है। जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (एम.डी.पी.) संगठनात्मक संरचना के इस प्रकार का अच्छा उदाहरण है। शाखाओं और क्षेत्रों द्वारा प्रति दो वर्ष के बाद होने वाले पार्टी कांग्रेस के अधिवेशन के लिए प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। यह दल कांग्रेस सिद्धांतरूपेण दल का सर्वोच्च निर्णयकारी निकाय है। पार्टी की कार्यपालिका का चुनाव कांग्रेस ही करती है।

कार्यपालिका जर्मन संसद के बाहर पार्टी संगठन पर नियंत्रण रखती है। यद्यपि 1958 में पार्टी प्रेसीडियम के नाम से एक नया प्रतियोगी संगठन स्थापित किया गया जिस पर सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के संसदीय गुट का अधिक कड़ा नियंत्रण रहता है। वास्तव में इस में सभा का केंद्रीयकरण संसदीय गुट के हाथों में रहता है, जिसमें दल के वे सब सदस्य शामिल होते हैं जो पश्चिम जर्मनी की संसद के निचले सदन के सदस्य हैं। कई अर्थों में सोशल डेमोक्रेटिक दल का संगठन ब्रिटिश मजदूर दल के समान है। यह बात पार्टी के अन्दर सत्ता वितरण पर खास तौर से लागू होती है।

कोष्ठक या सैल (The Cell)–डुवर्जर द्वारा बताया गया संरचना का तीसरा प्रकार, कोष्ठक या सैल, क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टियों का अधिकार है। इसकी संरचनात्मक संरचना शाखा दलों की तरह भौगोलिक क्षेत्रों पर नहीं बल्कि कार्य करने के स्थान पर आधारित है, यद्यपि कुछ क्षेत्रीय सैल भी अस्तित्व में रहते हैं और कुल दलों में इनका काफी महत्त्व होता है। शाखा की अपेक्षा सैल छोटा है और निरंतर राजनैतिक सक्रियता की ओर उन्मुख रहता है। सैल की संरचना अनिवार्य रूप से षड्यंत्रकारी होती है और इसकी निर्माण शैली इस बात की पूर्ण व्यवस्था कर देती है कि एक सैल के नष्ट होने या उसमें घुसपैठ होने से संपूर्ण दल–संरचना संकट में पड़े क्योंकि एक

टिप्पणी

ही स्तर पर अलग–अलग इकाइयों के बीच संपर्क नहीं रहता है। 'लोकतंत्रीय केंद्रवाद' की संकल्पना दल के सब पहलुओं पर केंद्रीकृत नियंत्रण स्थापित कर देती है जिसका नमूना रूस में सन् 1917 से पहले लेनिनवादी दल था। सैल की गुप्त सक्रियता अधिक विस्तृत रूप से राजनीतिक होती हैं और व्यक्ति पर उनके प्रभाव शाखा दलों से अधिक होते हैं। सैल–संरचना वाले दलों में चुनाव जीतने को दूसरे दर्जे के महत्व की बात मानने की प्रवृत्ति होती है। फिर भी, डुवर्जर फ्रांसीसी कम्युनिस्ट दल के सदस्यों में सैल–संरचना के प्रति शत्रु–भाव होने का संकेत देते ही हैं। किंतु यहां वह तर्क दिया जा सकता है कि यूरोप के दूसरे कम्युनिस्ट दलों की तरह फ्रांसीसी कम्युनिस्ट दल क्रांतिकारी है और वह राजनीतिक सक्रियता के संसदीय रूपों से अधिक संबद्ध है। इस प्रकार वह संरचना के शाखा प्रकार के दलों के अधिक समान हो गया है।

मिलिशिया या नागरिक सेना (The Militia)–डुवर्जर का दल–संरचना का चौथा प्रकार मिलिशिया प्रकार का संगठन है जिसके अंतर्गत संरचना सेना के अधिकाधिक लक्षण ग्रहण कर लेती है। कम्युनिस्ट दल की सैल संरचना के ही समान संगठन का मिलिशिया प्रकार क्रांतिकारी दलों द्वारा अपनाया जाता है। इस प्रसंग में दो प्रमुख यूरोपीय उदाहरण हैं–हिटलर के आक्रामी सैनिक और मुसोलिनी की फासिस्ट मिलिशिया पर, डुवर्जर यह संकेत जरूर करते हैं कि ''सिर्फ मिलिशिया के आधार पर कभी भी कोई राजनीतिक दल नहीं बना है।'' वास्तव में वह आगे यह भी कहते हैं कि उनके चार बुनियादी प्रकार विशुद्ध रूप में नहीं बल्कि मिश्रित रूप में पाए जाते हैं।

एलन एवं बाल का मत है कि दल संरचना के किसी भी परीक्षण में निम्नलिखित कारकों पर विचार किया जाना चाहिए–

(1) नेतृत्व की भूमिका और नेतृत्व के चुने जाने का तरीका।

(2) संगठनात्मक केंद्रीयकरण की मात्रा।

(3) दल के सदस्यों तथा दल में निचले पदों पर नियुक्त कार्यकर्त्ताओं के मुकाबले नेतृत्व की शक्ति, अनुशासनात्मक शक्तियों का विस्तार–क्षेत्र व निर्णय लेने तथा नीति–प्रारंभ करने में भागीदारी।

(4) दल की नौकरशाही का नियंत्रण।

(5) संसदीय शाखा का शेष दल से संबंध।

(6) सदस्यता का आधार तथा विस्तार–क्षेत्र।

सामान्यतः भारतीय दलीय व्यवस्था के विषय में यह कहा जाता है कि भारत में राजनीतिक दल हैं परंतु कोई दलीय व्यवस्था नहीं है। इस कथन का आधार (और कुछ सीमा तक अमेरिका की) ब्रिटेन की दो दलीय प्रणाली है, जहां दलों की सुस्पष्ट विचारधारा और नीतियां एवं कार्यक्रम हैं। भारत में स्वतंत्रता के बाद से लेकर आज तक राजनीतिक दलों के संदर्भ में कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है।

प्रत्येक देश में राजनीतिक दलों का विकास एक विशिष्ट परिस्थितियों में होता है। भारत में राजनीतिक दलों का विकास स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हुआ इसमें सबसे विशिष्ट राजनीतिक दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस रहा है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एकछत्रनुमा ऐसा दल था, जिसमें सभी क्षेत्रों, समुदायों, वर्गों, जातियों, धर्मों

विचारधाराओं आदि को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। भारत के लगभग सभी दलों का उद्‌भव भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से हुआ। यद्यपि हिंदू महासभा, जनसंघ, साम्यवादी दल, मुस्लिम लीग आदि का पृथक अस्तित्व भी था। परंतु प्रभाव एवं चुनाव में सीटों की प्राप्ति के दृष्टिकोण से अन्य दलों का अस्तित्व लगभग नगण्य था। संभवतः इसी कारण भारत में एक स्वस्थ विपक्षी दल का विकास नहीं हो सका।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. 'पॉलिटिकल पार्टीज एंड नेशनल इंटिग्रेशन इन ट्रापिकल अफ्रीका' किसकी पुस्तक है?
   (क) प्रो. न्यूमैन (ख) जे.एस. कोलमन
   (ग) जे. फ्रेडरिक (घ) लेनिन
2. विभिन्न दलों से निकले असंतुष्ट नेताओं द्वारा निर्मित, बनते–बिगड़ते रहने वाले गुट सरीखे दल क्या कहलाते हैं?
   (क) राष्ट्रीय दल (ख) राज्यस्तरीय
   (ग) दण्ड केंद्रित नौकरशाही (घ) संरक्षण नौकरशाही

4.3 भर्ती

भर्ती का सीधा सादा अर्थ है विभिन्न सरकारी नौकरियों के लिए योग्य व्यक्तियों को बहाल करना। सामान्यतः 'भर्ती' शब्द का प्रयोग 'नियुक्ति' शब्द के समानार्थी रूप में ही किया जाता है। लोक प्रशासन में भर्ती का तात्पर्य परीक्षा के आधार पर नियुक्ति से है।

प्रो. एल. डी. ह्वाइट ने भर्ती की परिभाषा करते हुए लिखा है, ''प्रतियोगिता परीक्षाओं, रिक्त स्थानों एवं पदों के लिए व्यक्तियों को आकर्षित करना ही भर्ती है।''

डिमॉक के अनुसार, ''विशिष्ट कार्यों के लिए उचित व्यक्तियों को प्राप्त करना और कर्मचारियों के बड़े समूह के विज्ञापन निकालना या विशेष कार्य के लिए किसी उच्च दक्षता प्राप्त व्यक्ति की खोज ही भर्ती है।''

वस्तुतः भर्ती ही शक्तिशाली लोक सेवा की कुंजी है। मि. रॉयल का कथन है,' ''यह लोक–कर्मचारियों के सम्पूर्ण ढांचे की आधारशिला है।''

4.3.1 नकारात्मक और सकारात्मक भर्ती

भर्ती के संबंध में लूट प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए लोक सेवा आयोगों का निर्माण किया गया। लोक सेवा आयोग बनाने का उद्देश्य नकारात्मक था। इसलिए कि मूलतः इसका मुख्य कार्य शासकीय सेवाओं में से 'धूर्तों को बाहर रखने तक सीमित' था। यह धारणा बदलनी थी कि यदि एक बार लोक सेवाओं में नौकरी के लिए योग्य व्यक्ति आने लगेंगे तो क्रम बना रहेगा, किंतु यह केवल भ्रम था। इसके परिणामस्वरूप कई बार बहुत ही साधारण योग्यता रखने वाले व्यक्ति उसमें प्रवेश पा गए। लोक सेवा आयोग बड़े समूह में से उच्च पदक्रम से प्रत्याशियों को छांटने के लिए औसत

टिप्पणी

के नियम को लागू करने पर विश्वास करते थे। जे. डोनाल्ड किंग्सले ने स्थिति के बारे में लिखा है, ''संभवतः धूर्तों को सेवा से बाहर रखा जाता है, किंतु शायद इस क्रम में अनेक योग्य एवं बुद्धिमान व्यक्ति भी बाहर रह जाते हैं।'' अतः आवश्यकता इस बात की है कि योग्य व्यक्तियों को लोक सेवाओं की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया जाए।

भर्ती की सकारात्मक अवधारणा से तात्पर्य यह है कि विभिन्न सरकारी पदों के लिए योग्य व्यक्तियों की खोज के प्रयास किए जाएं। चयन करते समय चयनकर्ता का लक्ष्य केवल कुशल और योग्यतम व्यक्तियों का चयन होना चाहिए। सकारात्मक अवधारणा में इस बात पर ध्यान दिया जता है कि केवल योग्य व्यक्तियों को ही प्रतियोगिता में सम्मिलित होने की अनुमति दी जाए। किंग्सले के अनुसार सकारात्मक भर्ती की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

(क) पद तथा पदोन्नति क्रम पर बल।

(ख) योग्य व्यक्तियों की व्यापक खोज पर बल।

(ग) अयोग्य व्यक्तियों को हटाने के लिए नियुक्ति पूर्व शिक्षा पर बल।

(घ) विभागों के पारस्परिक सहयोग तथा शांतिमय संबंधों पर बल।

भर्ती की समस्याएं

प्रो. बिलोबी ने कर्मचारियों की भर्ती की समस्या के प्रति निम्नलिखित बातों पर विचार करने की सलाह दी है।

1. भर्ती का अधिकार किसे होना चाहिए?
2. सरकारी कर्मचरियों का भर्ती कहां से की जाए – भीतर से या बाहर से?
3. भिन्न–भिन्न पदों पर भर्ती के लिए क्या योग्यताएं हों?
4. उम्मीदवारों की योग्यता का निर्धारण किस प्रकार किया जाना चाहिए – परीक्षाओं के आधार पर या साक्षात्कार के आधार पर?
5. योग्यता का निर्धारण करने के लिए प्रशासकीय व्यवस्था क्या हो ?

भर्ती करने वाली सत्ता का निश्चयन

लोक सेवाओं में भर्ती का अधिकार किस व्यक्ति को दिया जाए, यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है। मोटे रूप से इस समस्या के संबंध में दो मत हैं : प्रथम, यह सत्ता प्रत्यक्षतः जनता में निहित होनी चाहिए, द्वितीय, यह सत्ता सरकार के किसी अंग में निहित की जानी चाहिए। प्रथम मत के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि सच्चा लोकतंत्र तभी संभव है, जब देश के सभी सर्वोच्च अधिकारी प्रत्यक्षतः जनता द्वारा चुने जाएं, अर्थात उनका निर्वाचन हो। द्वितीय मत के पक्ष में तर्क यह है कि केवल विधान मंडल तथा मुख्य कार्यपालिका के सदस्यों को ही लोगों द्वारा चुना जाना चाहिए, और अन्य पदाधिकारियों की भर्ती एक निश्चित प्रणाली द्वारा की जानी चाहिए। उन्हे भर्ती करने की शक्ति सरकार के किसी अंग में निहित कर देनी चाहिए अथवा लोक सेवा आयोग में।

उक्त दोनों मतों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से दूसरा मत उत्तम है।

4.3.2 भर्ती की पद्धतियां एवं गुण–दोष

टिप्पणी

भर्ती की दो पद्धतियां प्रचलित हैं – प्रत्यक्ष या बाहर से भर्ती और अप्रत्यक्ष या भीतर से भर्ती। इसे 'प्रत्यक्ष भर्ती बनाम पदोन्नति भर्ती' भी कहा जाता है। यदि पहला मार्ग अपनाया जाता हैं तो उसे 'प्रत्यक्ष भर्ती' या 'बाहर से भर्ती या सीधी भर्ती' की पद्धति कहा जाता है। दूसरी पद्धति में पहले से सेवारत लोगों को ही निम्न पदों से उच्चतर पदों पर प्रोन्नत कर दिया जाता है। इस पद्धति के लाभदायक होने के कारण इसका उपयोग अधिक किया जाता है।

प्रत्यक्ष भर्ती के गुण

(क) इस पद्धति का सबसे पहला गुण यह है कि इसमें प्रत्येक स्तर पर योग्य लोगों के चयन के विकल्प असीम होते हैं।

(ख) इस पद्धति में सेवा के प्रत्येक स्तर पर नवयुवकों का प्रवेश होता है, जिससे शासन में गतिशीलता बनी रहती है।

(ग) यह पद्धति सेवा के भीतर और सेवा के बाहर के लोगों के बीच भेदभाव नहीं करती और सबके लिए समान अवसर की जनतंत्रात्मक धारणा पर आधारित होती है।

(घ) इस पद्धति में कर्मचारियों में काम करने का अधिक उत्साह रहता है। इसका कारण यह है कि सेवा में नये–नये लोग नियुक्त होते रहते हैं।

प्रत्यक्ष भर्ती के दोष

(क) इसमें सेवा के उच्च पदों पर अनुभवहीन व्यक्ति नियुक्त कर दिए जाते हैं। वे विभाग के जटिल कार्यों को उतनी क्षमता के साथ संपन्न नहीं कर सकते जितनी कि विभाग के अनुभवी कर्मचारी।

(ख) इसमें सरकारी सेवा में पहले से लगे कर्मचारियों को पदोन्नति के पर्याप्त अवसर नहीं मिलते। इसके फलस्वरूप निम्न श्रेणियों के पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों का उत्साह ठंडा पड़ जाता है।

(ग) इस पद्धति के फलस्वरूप कई बार अनुभवहीन नवयुवकों के अधीन कुशल, वृद्ध और अनुभवी व्यक्तियों को कार्य करना पड़ता है जिससे उनके सम्मान और गरिमा को ठेस पहुंचती है।

(घ) इस पद्धति में सेवा के विभिन्न स्तरों के पदों पर बाहर के लोगों को नियुक्त किया जाता है, जो विभागीय तौर–तरीकों से अनभिज्ञ रहते हैं। उन्हें प्रशिक्षित करने के लिए सरकार को अतिरिक्त व्यय का बोझ उठाना पड़ता है।

अप्रत्यक्ष भर्ती के गुण

(क) इस विधि से सरकारी सेवकों का चयन करने में उच्च पदों के लिए ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं, जिन्हें सरकारी सेवाओं का पर्याप्त अनुभव होता है।

(ख) इसमें कर्मचारियों को पदोन्नति के प्रचुर अवसर प्राप्त होते हैं, अतः वे अधिक लगन और उत्सह से काम करते हैं। इससे प्रशासकीय क्षमता में वृद्धि होती है।

टिप्पणी

(ग) इस पद्धति में धन की बचत होती है। उन्नति की अधिक संभावनाओं के कारण कर्मचारी कम वेतन पर काम करने को तैयार रहते हैं। इससे सरकारी प्रशासन का व्यय कम हो जाता है।

(घ) इसमें योग्य व्यक्ति उपलब्ध रहते हैं। यह पद्धति परीक्षा पद्धति से अच्छी है, क्योंकि इसमें उन्हीं कर्मचारियों का ऊंचे पद दिए जाते हैं, जिनके चरित्र और स्वभाव का उच्च अधिकारियों को ज्ञान होता है और जो सरकारी कार्यों के संपदान का पूरा ज्ञान रखते हैं।

अप्रयक्ष भर्ती के दोष

इसके कतिपय दोष भी हैं जिनमें प्रमुख इस प्रकार हैं।

(क) पदोन्नति से भर्ती के कारण सेवाओं से बाहर के लोगों का उच्च पदों पर भर्ती नहीं हो पाता है।

(ख) इस पद्धति में सरकारी सेवाओं में साधारण अथवा मध्यम योग्यता वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है, जिससे शासन की कार्यकुशलता कम होने लगती है।

(ग) इस पद्धति से भर्ती के कारण कर्मचारियों में कर्तव्य पालन में शिथिलता की प्रवृत्ति होती है। वे जानते हैं कि उच्चतर पदों पर उन्हीं की नियुक्ति (पदोन्नति) होगी, इसलिए वे अधिक परिश्रम नहीं करते और अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करते हैं।

भर्ती की उक्त दोनों पद्धतियों की विवेचना करने से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से कोई भी पद्धति अपने आप में पूर्ण नहीं है। यदि लोक कर्मचारियों के चयन के लिए दोनों पद्धतियों को न्यूनाधिक अनुपात में मिलाकर उपयोग में लाया जाए, तो उत्तम परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। सेवा की अधिकतर निचली श्रेणियों में सीधी भर्ती की प्रणाली का प्रयोग किया जाना चाहिए और उच्च पदों के लिए भीतर से अर्थात अप्रत्यक्ष भर्ती या पदोन्नति का नियम अपनाना चाहिए। इनके बीच के अर्थात मध्यम श्रेणी के पदों के लिए उचित तरीका यह होगा कि कुछ स्थानों पर प्रत्यक्ष पद्धति के आधार पर भर्ती की जाए और शेष स्थानों पर अप्रत्यक्ष पद्धति के आधार पर।

व्यवहार में उच्च पदों के लिए लगभग सभी देशों में दोनों ही पद्धतियों का प्रयोग होता है। भारत सरकार में कनिष्ठ लिपिकों के सभी पदों पर प्रत्यक्ष भर्ती की पद्धति के आधार पर नियुक्ति की जाती है और वरिष्ठ लिपिकों के सभी पदों पर अप्रत्यक्ष भर्ती के आधार पर पहले से सेवारत कर्मचारियों की पदोन्नति की जाती है। भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) में सीधी भर्ती संघ लोक सेवा आयोग द्वारा प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से की जाती है, लेकिन 33.1 प्रतिशत स्थानों पर राज्य सरकारों की अनुशंसा के आधार पर राज्य सिविल सेवाओं के कर्मचारियों की पदोन्नति के साथ बहाली की जाती है।

4.3.3 अर्हताएं एवं योग्यता निर्धारक विधियां

टिप्पणी

लोक सेवा में प्रवेश हेतु पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों की अर्हताओं का निर्धारण करना एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। कतिपय विद्वानों का मत है कि 'समानता के सिद्धांत' के आधार पर सभी सार्वजनिक पद सभी व्यक्तियों के लिए खुले रखने चाहिए। शैक्षणिक अथवा अन्य योग्यताएं निर्धारित करने से चयन का क्षेत्र संकुचित हो जाता हे। परंतु आम तौर पर माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति हर एक पद के लिए उपयुक्त अथवा योग्य नहीं होता, इसीलिए विभिन्न सरकारी पदों के लिए कुछ अर्हताएं होनी चाहिए, जो पूर्व निर्धारित हों।

लोक सेवा में प्रवेश के लिए दो प्रकार की अर्हताएं निर्धारित हैं – सामान्य तथा विशेष। सामान्य योग्यता सभी कर्मचारियों के लिए अनिवार्य होती है और विशेष योग्यता विशिष्ट नौकरी के लिए निर्धारित की जाती है।

(क) सामान्य अर्हताएं– सामान्य अर्हताएं इस प्रकार हैं– 1. नागरिकता 2. अधिवास 3. लिंग तथा 4. आयु।

1. **नागरिकता** : लोक सेवा में भर्ती हेतु आवेदन करने वालों के लिए राज्य का नागरिक होना आवश्यक है। यदि कोई विदेशी नियुक्त कर भी लिया जाता है, तो उसका कार्यकाल थोड़े समय के लिए ही होता है।
2. **अधिवास** : शासकीय सेवा के लिए अधिवास की अर्हता भी आवश्यक अर्हता है। इसके अनुसार अभ्यर्थी का अपने क्षेत्र और देश का स्थायी वासी होना जरूरी है। यह इसलिए भी जरूरी है कि अभ्यर्थी को अपने अधिवास की पर्याप्त जानकारी हो।
3. **लिंग** : लोक सेवाओं में लैंगिक आधार पर स्त्रियों को भर्ती से वंचित नहीं रखा जा सकता। उन्हें सेवाओं में प्रवेश के अधिकार का लाभ देने हेतु बहुत सी सेवाओं में उनके लिए स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं, उन्हें प्राथमिकता दी जाती है। आज वे सैनिक तथा पुलिस सेवा तक में प्रवेश कर सकती हैं।
4. **आयु** : सरकारी कर्मचारी की भर्ती के लिए प्रायः सभी देशों में सामान्य योग्यता में आयु को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। विभिन्न सेवाओं में प्रवेश हेतु आयु की न्यूनतम और अधिकतम सीमाएं निर्धारित होती हैं, जैसे कुछ देशों में प्रशासकीय सेवाओं में 20 से 24 वर्ष, कहीं 21 से 25 वर्ष, कहीं 21 से 28 वर्ष। भारत में केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों की सेवाओं में प्रवेश हेतु आयु की सीमा में भिन्नता है।

(ख) विशिष्ट अर्हताएं – इनमें शैक्षिक, आनुभविक, प्राविधक आदि अर्हताएं आती हैं।

1. **शैक्षिक अर्हताएं** : लोक सेवा के अलग–अलग पदों के लिए अलग–अलग और न्यूनतम तथा अधिकतम शैक्षिक योग्यता निर्धारित होती है, जैसे भारत में मुख्य प्रशासकीय सेवाओं में भर्ती हेतु किसी भी विश्वविद्यालय की स्नातक की डिग्री अनिवार्य है।

टिप्पणी

2. **अनुभव** : कुछ सेवाओं में अनुभव का भी बहुत महत्व होता है। तकनीकी सेवाओं में अनुभवी व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जाती है।

3. **प्राविधिक अनुभव** : आजकल सरकार को जटिल एवं विशिष्ट प्रकार के अनेकानेक कार्य करने पड़ते हैं। इन्हें पूरा करने के लिए सरकारी सेवाओं में विभिन्न प्रकार के विशेषज्ञ जैसे वैज्ञानिक, इंजीनियर, अर्थशास्त्री आदि नियुक्त किए जाते हैं।

योग्यता निर्धारित करने की विधियां

लोक कर्मचारियों की भर्ती के उद्देश्य से ली जाने वाली परीक्षाएं दो प्रकार की होती हैं– प्रतियोगिता परीक्षा और प्रतियोगिता रहित परीक्षा। प्रतियोगिता परीक्षाएं उम्मीदवारों की न्यूनतम निर्धारित योग्यता के साथ–साथ उनकी प्रतिभा की जांच के लिए ली जाती हैं। प्रतियोगिता रहित परीक्षाओं का ध्येय केवल यह पता लगाना है कि किन उम्मीदवारों में निम्नतम निर्धारित योग्यता है।

उम्मीदवारों की तुलनात्मक योग्यता और प्रतिभा की जांच करने के लिए निम्नलिखित परीक्षाओं का प्रावधान है–

(1) लिखित परीक्षा

(2) मौखिक परीक्षा अथवा साक्षात्कार

(3) कार्यकुशलता का प्रत्यक्ष प्रदर्शन

(4) शिक्षा एवं अनुभव का मूल्यांकन

(5) बुद्धि परीक्षा अथवा मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन

1. **लिखित परीक्षा** : उम्मीदवारों की योग्यता की जांच करने के लिए प्रायः सभी देशों में सामान्यतः लिखित परीक्षाओं का प्रावधान है। स्टाल के अनुसार, ''लिखित परीक्षा मौखिक परीक्षा अथवा कार्यकुशलता की परीक्षा से तुलनात्मक रूप में अधिक सरल और सस्ती होती है, क्योंकि इसमें एक ही समय में अभ्यर्थियों की एक बड़ी संख्या की परीक्षा ली जा सकती है।''

   लिखित परीक्षा दो प्रधान उद्देश्यों के लिए ली जाती है। पहला उद्देश्य व्यक्ति के सामान्य बौद्धिक गुणों और मानसिक क्षमता का पता लगाना है। दूसरा उद्देश्य व्यक्ति के तकनीकी अथवा व्यावसायिक ज्ञान की जांच करना है। इंग्लैंड और भारत में इन परीक्षाओं का उद्देश्य उम्मीदवारों की सामान्य योग्यता का पता लगाना होता है। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में लिखित परीक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की विशेष व्यावसायिक योग्यता का पता लगाना होता है।

2. **मौखिक परीक्षा अथवा साक्षात्कार** : लिखित परीक्षा उम्मीदवार के व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय नहीं दे सकती। यह संभव है कि एक व्यक्ति लिखित में बहुत योग्य सिद्ध हो, किंतु उसके भीतर एक क्षमतावान और सफल प्रशासक अथवा कर्मचारी के लिए आवश्यक धैर्य, सतर्कता, निर्णय लेने की क्षमता जैसे गुणों का अभाव हो। मौखिक परीक्षा का प्रयोजन उम्मीदवार के व्यक्तित्व की जांच

करना है ताकि उसका सही मूल्यांकन हो सके। इस पद्धति से अभ्यर्थियों की तर्क क्षमता, विचारों को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने की शक्ति, आदि की जांच की जाती है।

टिप्पणी

3. **कार्यकुशलता का प्रत्यक्ष प्रदर्शन** : कार्यकुशलता परीक्षा विधि का उपयोग ऐसे पदों पर चयन के लिए किया जाता है, जिनमें कौशल की आवश्यकता होती है, जैसे टाइपिस्ट, स्टेनोग्राफर आदि। इन परीक्षाओं मे उम्मीदवार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने काम में कुशलता का प्रर्दशन करें।
4. **शिक्षा एवं अनुभव का मूल्यांकन** : इस पद्धति का उपयोग उन पदों के हेतु चयन के लिए, जिनके लिए लिखित परीक्षाएं आवश्यक नहीं होतीं। कानून, चिकित्सा, विज्ञान आदि से संबंधित तथा विशेष योग्यता और अनुभव की आवश्यकता वाले प्रशासकीय पदों के लिए उम्मीदवारों का चयन इस पद्धति के द्वारा किया जाता है। इस पद्धति में एक मंडल योग्यता का मूल्यांकन कर उम्मीदवारों का उनके साक्षात्कार के बाद नियुक्ति के लिए चयन करता है।
5. **बुद्धि परीक्षा अथवा मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन** : बुद्धि परीक्षा का उद्देश्य अभ्यर्थियों की मानसिक परिपक्वता का मूल्यांकन करना होता है। इसके आधार पर उम्मीदवारों के लिए विशेष अंक का प्रावधान होता है। वस्तुतः बुद्धि परीक्षा से उम्मीदवार की आंतरिक बौद्धिक क्षमता की जांच की जाती है।

   आजकल कुछ देशों में 'प्रवृत्ति परीक्षाएं' भी ली जाती हैं। इन मनोवैज्ञानिक परीक्षांओं से इस बात का पता लगाया जाता है कि किस व्यक्ति का मन किस काम या व्यवसाय में अधिक लगता है।

अर्हताएं निश्चित करने वाले प्रशासकीय तंत्र का गठन

प्रशासकीय कर्मचारियों की नियुक्तियां योग्यता के आधार पर हों इसके लिए समस्त लोक सेवाओं में नियुक्तियों का मापदंड एक जैसा होना चाहिए। इसीलिए विश्व के प्रायः प्रत्येक देश में सरकारी कर्मचारियों की योग्यता निर्धारित करने के लिए एक प्रशासकीय तंत्र का गठन किया जाता है जो कर्मचारियों की निष्पक्षता से भर्ती की व्यवस्था करता है। भारतवर्ष में इस प्रशासकीय तंत्र का गठन केंद्र के संघीय लोक सेवा आयोग तथा प्रत्येक राज्य में राज्यों के लोक सेवा आयोग के रूप में किया गया है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. भर्ती को लोक–कर्मचारियों के संपूर्ण ढांचे की आधारशिला किसने कहा?
   (क) मि. रॉयल (ख) डिमॉक
   (ग) प्रो. एल.डी. व्हाइट (घ) प्रो. विलोबी
4. भर्ती संबंधी सामान्य अर्हताओं में इनमें से क्या शामिल नहीं है?
   (क) नागरिकता (ख) अधिवास
   (ग) आर्थिक स्थिति (घ) लिंग एवं आयु

4.4 सामूहिक भागीदारी

टिप्पणी

सामूहिक भागीदारी अर्थात लोक भागीदारी अथवा जन भागीदारी। भारत एक लोकतांत्रिक राष्ट्र है। भारत राष्ट्र का संचालन, भारतीय संविधान में वर्णित कार्य प्रणाली के आधार पर किया जाता है। भारत राष्ट्र में शासन, आम नागरिकों द्वारा चुनी हुई एक निरपेक्ष सरकार के द्वारा किया जाता है। भारत राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपनी वैचारिक स्वतंत्रता का पक्षधर है एवं संविधान प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। लोकतंत्र में शासन जनता के ही द्वारा किया जाता है क्योंकि शासक वर्ग जनता के ही मध्य से चुनकर आता है। यह शासन और नेतृत्व स्थाई नहीं होता वरन् पांच वर्ष की सीमित अवधि के लिए होता है। प्रत्येक पांच वर्ष उपरान्त पुनः चुनाव होते हैं एवं यदि जनता के प्रतिनिधि, जनता की अपेक्षानुसार कार्य कर रहे हों तो जनता पुनः उन्हें अपना प्रतिनिधि चुन सकती है अन्यथा किसी नये प्रतिनिधि को अवसर दे सकती है।

जनता के चुने हुए प्रतिनिधि भी पब्लिक से ही आते हैं एवं इस कारण से ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे जिस क्षेत्र में चुनकर आये हैं वे उस क्षेत्र की समस्याओं के समाधान का समुचित प्रयास करेंगे। क्योंकि उन्हें स्थानीय समस्याओं की प्रकृति और संभावित समाधान के बारे में औरों की अपेक्षा अधिक जानकारी होती है। इस लोक प्रतिनिधि के प्रस्ताव पर ही अन्य स्थानीय लोग विधि एवं संविधान के नियमों के अन्तर्गत स्वयं का एवं, क्षेत्र, नगर, राज्य एवं राष्ट्र का विकास करने में अपना अमूल्य योगदान दे सकते हैं। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि समाज के सर्वांगीण विकास हेतु प्रत्येक स्तर पर लोक भागीदारी आवश्यक होती है।

4.4.1 स्थानीय स्वशासन का संगठन एवं लोक भागीदारी

वर्तमान समय की स्थानीय स्वशासन व्यवस्था में यह प्रावधान किया गया है कि भारत का कोई भी व्यक्ति इनका सदस्य या पदाधिकारी बन सकता है। यदि कोई व्यक्ति चाहता है कि वह अपने क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन व्यवस्था में आकर और भी अधिक बेहतर ढंग से कार्य कर सकता है तो भारतीय संविधान उस व्यक्ति को यह अधिकार प्रदान करता है। जनतंत्र में किसी भी नागरिक को चुनाव में हिस्सा लेने का प्रावधान किया गया है। चुनाव प्रक्रिया में भाग लेकर, व्यक्ति स्वशासन व्यवस्था का अंग बन सकते हैं एवं निश्चित प्लेटफार्म पर अपनी बात रख सकते हैं एवं अपने क्षेत्र एवं स्वयं की समस्याओं को साझा करके संभावित हल तलाश सकते हैं। भारतीय लोक तंत्र में केन्द्र सरकार, राज्य सरकार एवं स्थानीय स्वशासन, तीन प्रकार के शासनों की व्यवस्था है। केन्द्र, राज्य एवं स्थानीय तीनों ही व्यवस्थाओं के सदस्य आम नागरिकों द्वारा, निर्वाचन की प्रणाली द्वारा लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित होते हैं। केन्द्रीय सरकार के सदस्य दो प्रकार के होते हैं–

(i) राज्य सभा सदस्य

(ii) लोकसभा सदस्य

इसी प्रकार से राज्य सरकार के सदस्यों को विधान सभा सदस्य (Member of Legislative Assembly) MLA कहा जाता है।

टिप्पणी

स्थानीय स्वशासन व्यवस्था में जन प्रतिनिधियों का चयन ग्रामीण एवं नगरीय आधार पर किये जाने की व्यवस्था दी गयी है। नगरीय स्थानीय स्वशासन को नगर पालिका या कॉरपोरेशन के अन्तर्गत रखा गया है। इसके जनप्रतिनिधियों को चेयरमैन, मेयर, पार्षद, सभासद या काउंसलर कहा जाता है। ग्रामीण स्वशासन की व्यवस्था, ग्राम पंचायत के अन्तर्गत आती है। ग्राम पंचायत के चुने हुए जन प्रतिनिधियों को ग्राम प्रधान, सरपंच, मुखिया, मेम्बर या ग्राम पंचायत सदस्य कहते हैं।

उपरोक्त सभी चयनित व्यक्ति, जन प्रतिनिधि ही होते हैं एवं स्थानीय क्षेत्र के जनता द्वारा बहुमत के आधार पर इनका चयन होता है। संघीय विषयों की विधायी शक्ति इन सभी चुने हुए जनप्रतिनिधियों के पक्ष में हस्तातंरित हो जाती है। ये जन प्रतिनिधि, सरकार बनाते हैं या शासन व्यवस्था बनाते हैं परन्तु वास्तव में ये जन प्रतिनिधि व्यवस्था ही लोक भागीदारी है।

स्थानीय स्वशासन में लोक भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए केन्द्र एवं राज्य सरकार की ही भांति निर्वाचन प्रणाली अपनाई जाती है। जन प्रतिनिधि चुने जाने पर व्यक्ति में निम्नलिखित योग्यताएं अवश्य होनी चाहिए–

- वे भारत के नागरिक हों।
- उनकी आयु 20 वर्ष हो।
- एक मानक पहचान पत्र धारक हो।
- निर्वाचन नामावली में उनका नाम होना चाहिए।
- सदस्य जिस क्षेत्र से चुनाव लड़ रहा हो वहीं का स्थानीय नागरिक भी हो।
- अर्थात ग्राम पंचायत का चुनाव लड़ने के लिए उम्मीदवार को गांव का ही निवासी होना अनिवार्य है एवं उस गांव की निर्वाचन नामावली रजिस्टर में उसका नाम दर्ज होना चाहिए।
- भारत सरकार का निर्वाचन कार्यालय, प्रत्येक भारतीय नागरिक को एक वोटर पहचान पत्र निर्गत करता है, सदस्य का नाम इस पर होना चाहिए।
- स्थानीय स्वशासन व्यवस्था में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए किसी भी नागरिक को निम्नांकित अयोग्यताओं से वंचित होना चाहिए।
- यदि वह भारत का नागरिक नहीं है और उसके किसी अन्य राष्ट्र की राष्ट्रीयता या नागरिकता ले रखी हो।
- यदि उसे किसी सरकारी पद से भ्रष्टाचार या गलत आचरण के कारण हटाया गया हो।
- व्यक्ति–दिवालिया न हो।
- उम्मीदवार विक्षिप्त या मानसिक बीमार न हो।
- यदि व्यक्ति किसी अपराध करने के कारण दो वर्ष या इससे अधिक की कैद काट चुका हो।
- सजा काटने के पांच वर्ष उपरांत भी वह किसी भी जन प्रतिनिधि के रूप में चुने जाने के योग्य नहीं होता।

- सरकार द्वारा दिये गये किसी कार्य का ठेकेदार हो या ठेकेदार के लाभ में उसका लाभांश हो।
- किसी सरकारी पद पर आसीन हो।
- एक व्यक्ति एक साथ दो पदों पर आसीन नहीं हो सकता है।

टिप्पणी

लोक भागीदारी एवं स्थानीय स्वशासन

यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है कि स्थानीय स्वशासन अपने स्थापित मूलभूत उद्देश्यों को पूर्णतः प्राप्त नहीं कर पाया है एवं इन उद्देश्यों की प्राप्ति का लाभ, भारत की एक सीमित जनसंख्या तक ही पहुंच पाया है। भारत की निर्धनता एवं अशिक्षा से त्रस्त जनता अभी भी उस स्थान की खोज कर रही है जहां पर उन्हें वास्तविक स्वराज प्राप्त होगा। ऐसे ही 'रामराज्य' या स्वराज की कल्पना अनेक बुद्धिजीवियों ने अपने अध्ययन एवं लेखन कार्य में की है।

वास्तविक स्वराज को प्राप्त करने में अनेक रुकावटें आती हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं–

- वित्तीय संसाधनों का अभाव
- अपर्याप्त प्रशासनिक व्यवस्था एवं पारदर्शिता न होना
- केन्द्रीय नियंत्रण
- संगठनात्मक विकास का अभाव
- अशिक्षा एवं निर्धनता
- राजनीतिक सिद्धातों में करनी एवं कथनी में विशाल अन्तर

उपरोक्त समस्यायें मूलभूत हैं तथा इनका निराकरण सामूहिक एवं कर्मठ प्रयासों की सहायता से किया जा सकता है परन्तु इन सभी समस्याओं में से एक बड़ी समस्या 'लोक भागीदारी' की है। स्थानीय स्वशासन व्यवस्था 'आम लोक भागीदारी' की समस्या से ग्रस्त है जिस कारण से स्थानीय स्वशासन में अल्पसंख्यक नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों को ही योजनाओं एवं विकास कार्यक्रमों का लाभ पहुंचाने की एक साधारण प्रवृत्ति भारतीय स्थानीय स्वशासन व्यवस्था में भी पाई जाती है। भारतीय राजनीति इसका एक सजीव उदाहरण है जिसमें कुछ विशेष प्रसंगों को छोड़कर अधिकांश मामलों में स्थापित राजनीतिक घरानों या व्यक्तियों को ही लाभ पहुंचता है। पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने स्वीकार किया था कि यदि केन्द्र से एक रुपया योजना के लिए जारी किया जाता है तो यह व्यवस्था में घटते–घटते वास्तविक कार्य के उद्देश्य पर 5 व 10 पैसे ही पहुंच पाता है इसका अर्थ यह हुआ कि योजना एवं उसके क्रियान्वयन में बहुत बड़ा अंतराल है। लोक भागीदारी का प्रमुख पक्ष एवं स्तम्भ, जनता की व्यवस्था में पूर्व भागीदारी द्वारा ही संभव हो सकता है। भारत लोकतांत्रिक राष्ट्र है अर्थात सैद्धांतिक रूप से भारत में जनता की सरकार है। परन्तु वास्तविक अर्थों में इसमें आम जनता की भागीदारी काफी कम है। इसका आकलन इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि भारत में होने वाले चुनावों में मतदान करने वाले मतदाताओं की संख्या कितनी है। भारत सरकार का निर्वाचन आयोग प्रत्येक चुनाव में प्रयास करता है कि चुनावी प्रक्रिया में मतदाता प्रतिशत बढ़ाया जाय। मतदाता प्रतिशत बढ़ाने का अर्थ

टिप्पणी

यही हुआ कि लोकतंत्र में लोक भागीदारी बढ़ाई जाये। लोग चुनावों की प्रक्रिया में अधिक संख्या में भाग लेंगे तो चुने जाने वाले जनप्रतिनिधियों पर, लोगों का नियंत्रण अधिक हो पायेगा। लोक भागीदारी को बढ़ाये बिना 'स्वराज ' की कल्पना ही व्यर्थ है। केन्द्रीय निर्वाचन आयोग एक स्वतंत्र प्रकार का विभाग है जो कि भारतीय लोकतंत्रीय व्यवस्था में निरपेक्ष एवं पारदर्शी चुनाव सम्पन्न करवाने के लिए उत्तरदायी है। निर्वाचन आयोग के द्वारा प्रत्येक चुनाव के पश्चात चुनावी आंकड़े प्रस्तुत किये जाते हैं, इन आंकड़ों में स्पष्ट किया जाता है कि चुनावों में 'वोट डालने वाले व्यक्तियों की संख्या एवं प्रतिशत कितना रहा। उदाहरण के लिए हाल ही में सम्पन्न हुए लोक सभा के आंकड़ों पर दृष्टि डाले तो हमें पता चलता है कि मतदाता प्रतिशत 50 से 60 प्रतिशत के मध्य ही रहा। इसको समझने का प्रयास किया जाता है एवं आम लोगों की राय ली जाती है कि वे वोट डालने क्यों नहीं जाना चाहते एवं वे कौन से कारक हैं जो उन्हें लोकतंत्र में लोक भागीदारी करने की राह में रुकावट उत्पन्न करते हैं। जबकि निर्वाचन आयोग एक तटस्थ एवं पारदर्शी विभाग है जिस पर केन्द्र व राज्य सरकार का किसी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं होता। चुनावी अधिसूचना जारी हो जाने के पश्चात प्रशासन एवं सारे स्थानीय प्रशासनिक विभाग, भारतीय निर्वाचन आयोग के अधीनस्थ आ जाते हैं एवं किसी राजनीतिक दल का कोई व्यक्ति इस आयोग पर कोई दबाव नहीं बना सकता।

4.4.2 न्यून लोक भागीदारी के सूचक

स्थानीय स्वशासन या लोकतंत्र की व्यवस्था में लोक भागीदारी कम है। भारत सरकार, राज्य सरकार स्थानीय शासन प्रशासन एवं निर्वाचन आयोग निरन्तर इस प्रयास में है कि निर्वाचन एवं स्वशासन दोनों स्तरों पर लोक भागीदारी को किस प्रकार से बढ़ाया जाये। लोक भागीदारी उसी स्थिति में बढ़ाई जा सकती है जबकि शासन को यह तथ्य विस्तारपूर्वक ज्ञात हो कि कम लोक भागीदारी के वास्तविक कारक क्या–क्या हैं? लोक भागीदारी के प्रमुख सूचक निम्नलिखित रूप से समझे जा सकते हैं:–

(i) **कम मतदान प्रतिशत**–भारत के किसी स्तर के जनप्रतिनिधि को चुनने का एकमात्र तरीका 'मतदान' ही है अर्थात् भारतीय नागरिकों को 'वोटर' का दर्जा प्राप्त है और यदि कोई व्यक्ति जनप्रतिनिधि बनना चाहता है तो उसे अपने लिए बहुमत में लोगों की राय को रखना होगा। जनता अमुक व्यक्ति को अपना जनप्रतिनिधि चुनना चाहती है या किसी अन्य व्यक्ति को इस बात का अंदाजा वोटिंग की प्रक्रिया के द्वारा करवाया जाता है। यदि किसी क्षेत्र से दो व्यक्ति जनप्रतिनिधि के रूप में चुने जाना चाहते हैं तो वहां के स्थानीय व्यक्ति (वोटर) अपने मत का उपयोग करेंगे।

स्पष्टतः कुछ व्यक्ति पक्ष एवं कुछ व्यक्ति विपक्ष में वोट डालेंगे या कुछ व्यक्ति दोनों को ही पसंद नहीं करते या वोट डालना ही नहीं चाहते। ये सभी संभावनायें चुनाव में होती हैं। मान लिया कि किसी संसद सदस्य के चुनाव में चार उम्मीदवार चुनाव प्रक्रिया में हिस्सा ले रहे है। इस संसदीय क्षेत्र में 10 लाख वोटर हैं। चारों प्रत्याशी अपने अपने घोषणा पत्र के अनुसार जनता से जाकर सम्पर्क करते हैं एवं अपने पक्ष में वोट डालने का प्रचार जोर–शोर से करते हैं। मतदाताओं को रिझाने के सारे हथकंडे इन उम्मीदवारों द्वारा अपनाये जाते हैं। चुनाव के दिन वोटिंग भी हो जाती है। वोटिंग समाप्त हो जाने के पश्चात निर्वाचन आयोग घोषणा करता है कि अमुक संसदीय सीट पर हुए संसद सदस्य के चुनाव का "चुनाव प्रतिशत" 50 प्रतिशत रहा।

टिप्पणी

आइये हम इस 50 प्रतिशत की लोक भागीदारी सामान्य समीक्षा करते हैं–

कुल मतदान	10 लाख
संसदीय क्षेत्र	1 सीट
कुल उम्मीदवार	4 (A, B, C, एवं D) व अन्य
मतदान प्रतिशत	50 प्रतिशत
कुल वोट पड़े	5 लाख

अर्थात् इस संसदीय क्षेत्र की 50 प्रतिशत जनता ने वोटिंग की प्रक्रिया में हिस्सा ही नहीं लिया। जब 50 प्रतिशत जनता ही वोट डाल रही है तो यह स्पष्ट रूप से कहना कि यह लोक सरकार है थोड़ा सा संदेहास्पद लगता है। पचास प्रतिशत व्यक्तियों के मतानुसार चुना हुआ जनप्रतिनिधि 100 प्रतिशत जनता का प्रतिनिधि नहीं हो सकता क्योंकि बाकी 50 प्रतिशत जनता का पक्ष तो निर्वाचन प्रक्रिया में प्रकट ही नहीं हुआ क्योंकि वह 50 प्रतिशत या 5 लाख लोग यह नहीं बता पाये कि वो किस उम्मीदवार को चयनित करते और उसे अपना जनप्रतिनिधि चुनते। हो सकता है कि वे–

उम्मीदवार A, B, C, या D को चुनते

वे किसी भी उम्मीदवार को न चुनते

किसी भी उम्मीदवार को इस योग्य न समझते कि उसे चुना जाये

संभवतः वे A, B, C या D, किसी उम्मीदवार को नकार देते

उपरोक्त स्थिति के अध्ययन से पता चलता है कि जनता की भागीदारी का कम होने का कारण उनके पसंदीदा जनप्रतिनिधि का न होना है या फिर वे सभी जनप्रतिनिधियों को एक समान समझते हैं और उनका यह भी मानना हो सकता है कि जनप्रतिनिधि, जनता के लिये कार्य क्यों करेंगे या फिर अन्य अनेक कारण हो सकते हैं, परन्तु यथार्थ यही है कि अभी तक मतदान प्रतिशत बढ़ाने के जो भी प्रयास किये गये हैं वे अपर्याप्त ही सिद्ध हुए हैं एवं मतदान प्रतिशत 50 प्रतिशत के आसपास ही रहता है।

उपरोक्त संसद सदस्य के चुनाव परिणामों पर एक दृष्टि डालने पर स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगा कि भारतीय निर्वाचन व्यवस्था में चुने हुए जनप्रतिनिधि किस जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

कुल मत पड़े	5 लाख
उम्मीदवार A को मिले वोट	3 लाख
B	1 लाख
C	70,000
D	23,000
अन्य	7,000

इस आंकड़े का अर्थ यह हुआ कि 10 लाख जनसंख्या वाले संसदीय क्षेत्र में तीन लाख लोगों की राय में उम्मीदवार A जनप्रतिनिधि हुआ। निर्वाचन आयोग के आंकड़ों एवं गणित के अनुसार उम्मीदवार A को विजयी घोषित कर दिया जाता है।

वह उस क्षेत्र का सांसद बन जाता है तथा पूरे भारतीय संसद में उस क्षेत्र विशेष की 10 लाख जनता का प्रतिनिधित्व करता है परन्तु वास्तव में उसे 3 लाख लोगों अर्थात मात्र 30 प्रतिशत लोगों का ही मत प्राप्त है बाकी 7 लाख या 70 प्रतिशत लोग उस प्रतिनिधि के–

टिप्पणी

- विरोध में थे
- उसे चुनना नहीं चाहते थे
- उसके स्थान पर किसी और को चुनना चाहते थे
- विकल्प और होने चाहिए थे

(ii) **निर्धनता एवं अशिक्षा** : भारत की आर्थिक स्थिति अभी भी विश्व के अनेक निर्धन राष्ट्रों के समतुल्य है। इसी प्रकार भारतीय जनता की साक्षरता दर भी कम है। भारत में उस व्यक्ति को साक्षर माना जाता है जो अपना नाम लिख सके व हस्ताक्षर कर सके। परन्तु शिक्षित होने एवं साक्षर होने में तो जमीन आसमान का अन्तर है। यदि शिक्षित व्यक्ति कोई तथ्य रखता है तो वह तार्किक एवं सार्थक हो सकता है वही पर साक्षर व्यक्ति इसी तथ्य को अपने अनुभव व जनित ज्ञान के आधार पर रखेगा। दोनों में अन्तर है। अशिक्षा एवं निर्धनता के कारणवश भारतीय जनता, स्वशासन की व्यवस्था में भागीदारी नहीं कर पाती जिसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं–

- इन लोगों का मत होता है कि हमें क्या मिलेगा?
- हम क्यों वोट डालें
- दबंग नेताओं का भय
- राजनीतिक शत्रुता एवं रंजिश का भय
- धनी नेताओं द्वारा निर्धन वोटरों के वोट खरीद लेना
- व्यक्तिगत स्वार्थ

(iii) **जातिगत एवं धार्मिक ध्रुवीकरण** : भारत 21वीं सदी में प्रवेश कर चुका है परन्तु भारतीय समाज की राजनीति में अभी भी जातिगत एवं धार्मिक आधार पर वोटों का ध्रुवीकरण होता है। ग्राम पंचायत स्तर के चुनावों में जाति एवं धर्म के आधार पर ही मुख्य चुनाव लड़े जाते हैं। जिस गांव में जिस जाति या धर्म का बोलबाला या जनसंख्या अधिक होती है बहुधा उसी जाति का ग्राम प्रधान एवं सदस्य चुने जाते हैं। यह जातिगत ग्राम पंचायत सदस्य अन्य जाति के व्यक्तियों के साथ भेदभाव का व्यवहार करतर है। इस कारण से इस प्रकार के आम जाति के लोग स्थानीय स्वशासन की ग्रामीण व्यवस्था में भाग लेने से वंचित रह जाते हैं।

अनेक गांवों में ऐसा भी होता है कि गांव के प्रभावशाली व्यक्ति, निर्बल एवं कमजोर जाति एवं वर्ग के लोगों को दबाव के द्वारा अपने पक्ष में वोट डालने को बाध्य कर देते हैं। इस प्रकार से ग्रामीण पंचायत व्यवस्था में अभी तक सामान्ती व्यवस्था के अवशेषों पर स्वशासन की व्यवस्था चलती हुई प्रतीत होती है। इसी प्रकार से नगरीय स्थानीय स्वशासन में भी वोटों का जातिगत एवं धार्मिक ध्रुवीकरण बहुतायत में होता है। नगरीय स्थानीय निकाय तो राजनैतिक पार्टीगत आधार पर लड़े जाते हैं जिसमें कि जातिगत एवं धार्मिक ध्रुवीकरण और भी प्रबल प्रवृत्ति का होता है।

टिप्पणी

राजनीतिक दल के प्रत्याशी अपने क्षेत्र के मतदाताओं को विकास के बजाए, सांस्कृतिक, जाति एवं धर्म के नाम पर वोट डालने की वकालत करते हुए चुनाव प्रचार करते हैं। इस प्रकार के चुनाव आचरण के कारण समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग, चुनाव प्रक्रिया को महज खानापूर्ति मानता है एवं चुनावी प्रक्रिया में भाग ही नहीं लेता है।

4.4.3 स्वशासन व्यवस्था में लोक भागीदारी बढ़ाने के उपाय

लोकतंत्र को मजबूत बनाने के लिये, तंत्र या व्यवस्था में लोक (Public) भागीदारी बढ़ाया जाना आवश्यक है जिससे कि स्वशासन के द्वारा समाज का आर्थिक एवं सामाजिक विकास सुनिश्चित हो सके। प्रजातंत्र की दक्षता में वृद्धि के लिये लोग भागीदारी का विस्तार करने के लिए समाज के प्रत्येक महिला एवं पुरुष का अधिकतम सहयोग अपेक्षित होता है। प्रजातंत्रीय व्यवस्था तभी अपने सैद्धांतिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है जबकि इसके नागरिक अधिकतम संख्या में सरकार के गठन एवं संचालन में भागीदार बने। अमेरिका प्रजातंत्र के संदर्भ में यह कहा गया था कि वास्तविक प्रजातंत्र जमीनी स्तर (Grass roots) से ही प्रारम्भ होता है। जमीनी स्तर का तात्पर्य यही है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्थापित मानकों के तहत अपने एवं समाज के समान हितों को पूरा करने के उद्देश्य से सहभागिता के रूप में कार्य करें।

प्रजातंत्रीय व्यवस्था उसी अवस्था में सफल हो सकती है जब राष्ट्र से सभी नागरिक प्रजातंत्रीय व्यवस्था के महत्व को समझें। प्रजातंत्रीय व्यवस्था को समझने के पश्चात ही नागरिकों का विश्वास इस व्यवस्था को सफल बनाने की दिशा में अग्रसर हो सकता है। भारत सरकार भी नागरिकों के द्वारा चुनी हुई सरकार ही होती है एवं अपने सीमित स्रोतों एवं कार्य क्षेत्र के अंतर्गत, प्रजातंत्र में लोक प्रतिभागिता बढ़ाने के निरंतर प्रयास कर भी रही है। सरकार के प्रयासों का ही परिणाम है कि भारतीय संविधान में 73वां एवं 74वां संविधान संशोधन किया गया। इस संविधान संशोधन के प्रावधानों के अंतर्गत समाज के सबसे कमजोर समझे जाने वाले वर्गों के लिए प्रजातंत्र के हर स्तर पर सीटों में आरक्षण कर दिया गया है।

ग्राम पंचायत एवं नगरपालिका के संदर्भ में इस संविधान संशोधन के कारण अनेकानेक सुखद परिणाम सामने आने प्रारम्भ हो चुके हैं एवं ग्राम पंचायत एवं नगरपालिका के क्षेत्रों में चुने जाने वाले ग्राम प्रधान या सभासद आदि बड़ी संख्या में महिलाओं एवं SC/ST के सदस्यों से परिपूर्ण हो रहे हैं। इस आशय का परिणाम सुखद इस कारण भी है कि भारत जैसे पारम्परिक राष्ट्र में सुधारों की प्रक्रिया बहुत धीमी एवं सुस्त है जिसे लम्बे समयांतराल के निरन्तर प्रयासों द्वारा ही वांछित स्तर पर ले जाया जा सकता है। इन प्रावधानों, बढ़ते हुए शिक्षा स्तर एवं वैश्विक प्रभावों के कारण, सामान्य जन की समझ में आ रहा है कि जनतंत्र में भागीदार बनकर ही अपना एवं समाज का कल्याण संभव है।

लोक भागीदारी बढ़ाने में 'सूचना का अधिकार अधिनियम' की भूमिका

भारत सरकार के एक महत्वपूर्ण निर्णय के अन्तर्गत "सूचना का अधिकार" कानून पारित करके लागू कर दिया है। स्थानीय स्वशासन व्यवस्थाओं में लोक भागीदारी बढ़ाने में इस नियम ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज प्रत्येक स्थानीय स्वशासन की संस्थायें इस कानून के तहत आती हैं। भारत का कोई भी नागरिक, किसी भी सार्वजनिक हित की जानकारी मांगने का अधिकार रखता है। जानकारी चाहने वाले व्यक्ति को

एक साधारण कागज पर लिखित में संबंधित अधिकारी को पत्र देना पड़ता है। वह सरकारी अधिकारी, सूचना के कानून के तहत वांछित जानकारी देने को बाध्य होता है।

टिप्पणी

इस अधिनियम में यह प्रावधान भी किया गया है कि प्रत्येक सरकारी विभाग अपने विभाग में एक जनसम्पर्क एवं सूचना अधिकारी की नियुक्ति करेगा। यह अधिकारी नागरिकों द्वारा मांगी जाने वाली सूचनाओं का निस्तारण भी करेगा। यदि सूचना की मांग करने वाला व्यक्ति, सूचना से संतुष्ट नहीं है तो अपीलीय अधिकारी से इस आशय का पत्र लिख सकता है। यदि सूचना अधिकारी या अपीलीय अधिकारी निश्चित समयावधि में वांछित सूचना प्रदान नहीं करते हैं तो इन अधिकारियों पर अर्थदण्ड लगाने का प्रावधान भी किया है।

सूचना का अधिकार कानून अस्तित्व में आ जाने के पश्चात, भारतीय स्वशासन प्रणाली में पारदर्शिता बढ़ी है एवं खुलेआम हो रहे भ्रष्टाचार पर थोड़ा बहुत अंकुश भी लगाने में सफलता मिली है। सूचना के कानून के अंतर्गत आम नागरिकों में जागरूकता आ रही है एवं आम नागरिक इस अधिकार का प्रयोग करके स्वशासी संस्थाओं से वित्तीय हिसाब मांग रहे हैं एवं उनके द्वारा किये जा रहे सार्वजनिक कार्यों का ब्यौरा भी मांग रहे हैं। इस कानून के बन जाने के पश्चात् सभी सरकारी विभागों एवं स्थानीय स्वशासी संस्थाओं के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे सार्वजनिक हित की सूचनाओं को बिना मांगे ही स्वतः ही जनता को सूचित करें। पिछले कुछ वर्षों में यह देखा जा रहा है कि सूचनाएं सार्वजनिक होने लगी हैं एवं इन सरकारी योजनाओं का लाभ आम नागरिकों तक काफी हद तक पहुंचने भी लगा है।

इस कानून का दुरुपयोग भी हुआ है। विपक्षी दल, बिना किसी विशेष कारण के अनावश्यक सूचनाएं मांगने लगे हैं जिनको निकाल कर देना विभागों के लिए अत्यंत जटिल कार्य होता है। यह कार्य अनावश्यक कार्यभार एवं व्यय को भी बढ़ावा देता है। अतः कानून का उपयोग विकास के हितार्थ ही करना चाहिए।

4.4.4 जनभागीदारी और स्थानीय स्वशासन

सत्ता के विकेन्द्रीयकरण, स्वायत्तता और जवाबदेही के आधार पर भारत में पंचायती राज एवं नगरपालिका शासन से संबंधित विधियों में समेकन और संशोधन करने, नगरपालिकाओं के वित्तीय प्रबंधन तथा लेखा–पद्धति, आन्तरिक संसाधन की उत्पादन क्षमता एवं उनके सांगठनिक ढांचा में सुधार लाने, नगरपालिका कर्मियों की वृत्तिक दक्षता को सुनिश्चित करने और उनसे जुड़े या उनके आनुषंगिक विषयों की व्यवस्था करने के लिए अधिनियम पारित किये गये हैं। जिनके परिणामस्वरूप लोक भागीदारी बढ़ती जा रही है। भारत में चुनावों में मतदान का प्रतिशत बढ़ाने का अर्थ ही यह है कि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन–जाति और पिछड़े वर्गों के लोगों ने अपनी ताकत महसूस करनी शुरू कर दी है। ज्यों–ज्यों मतदान का प्रतिशत बढ़ता जा रहा है बड़े राज्यों में जहां राजनैतिक चेतना बढ़ने के कारण अनुसूचित जाति अनुसूचित जन जाति और पिछड़े वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले क्षेत्रीय दलों की राजनैतिक ताकत लगातार बढ़ती जा रही है। क्षेत्रीय दलों की राजनैतिक ताकत ही केवल इस बात पर टिकी है कि निचली जातियों के लोग घरों से बाहर निकल कर मतदान करें। "भारत का चुनाव आयोग" यदि पारदर्शिता को स्थापित नहीं करता तो शायद मतदान का स्तर बढ़ता नहीं। पारदर्शिता नहीं होती तो क्षेत्रीय दल कभी इतने ताकतवर नहीं हो पाते।

टिप्पणी

वास्तव में ये परिस्थितियां भारत में निचली जातियों और शोषित लोगों को ताकत देती जा रही हैं जो कि भारत जैसे विविधता वाले देश के लिये बहुत ही सुंदर बात है। मतदान का बढ़ता हुआ प्रतिशत आम लोगों को ताकत देता है और दिन प्रतिदिन लोकतंत्र को और अधिक मजबूत करता है। यहां एक बात ओर है कि मतदान प्रतिशत शोषित जातिगत समूहों का नहीं बढ़ा है, वो तो पहले से लोकतंत्र में एक अलग वोट बैंक के रूप में संगठित रहे हैं। कुल मतदान प्रतिशत में इस बार पिछड़े और सामान्य वर्ग के वोटों का अधिक बढ़त हुई है, खासतौर से शहरी पढ़े लिखे तबके के वोट जो पहले उदासीनता के चलते नहीं पड़ते थे। नगर परिषद/नगर पालिका/नगर निगम क्षेत्रों का प्रतिशत पिछली बार की तुलना में 16 प्रतिशत शहरों में तो बढ़ा है जहां गांवों में केवल 8–9 फीसदी का इजाफा हुआ है। गांवों में पहले भी शहरों से ज्यादा ही मतदान प्रतिशत रहा है। कुछ जाति और वर्ग विशेष के अधिक मतदान के कारण कुल मतदान बढ़ा है। यह वर्ग बहुत पहले दबंगों और तथाकथित सामंती मानसिकता वाले लोगों के कारण मतदान के लिए जाने से ही रोक दिया जाता था। वह दौर समाप्त हो रहा है। साथ ही मध्यम वर्ग जो अपने तमाम नखरों के कारण और उच्च वर्ग अपने ज्ञान के कारण जरूर मतदान का मजाक उड़ाता रहा इस बीच में, वो अब घर से निकलने लगा है, और अन्य कारणों के साथ अधिक मतदान का कारण भी बन रहा है।

वर्ष 1951–52 को हुए आम चुनावों में मतदाताओं की संख्या 17,32,12,343 थी, जो वर्ष 2014 में बढ़कर 81,45,91,184 हो गई है। 2004 में, भारतीय चुनावों में 670 मिलियन मतदाताओं ने भाग लिया और इसका घोषित खर्च 1989 के मुकाबले तीन गुना बढ़कर 300 मिलियन डॉलर हो गया। इन चुनावों में दस लाख से अधिक इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीनों का इस्तेमाल किया गया जबकि वर्ष 2009 के आम चुनावों में 714 मिलियन मतदाताओं ने भाग लिया।

उदाहरण हेतु वर्ष 2014 के लोकसभा चुनाव के निम्नांकित आंकड़े देखे जा सकते हैं–

- सर्वाधिक मतदान (66.40 प्रतिशत)।
- सबसे अधिक खर्चीला चुनाव।
- यह चुनाव अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनाव की तर्ज पर लड़ा गया।
- सर्वाधिक महिलाएं (61) विजयी हुईं।
- कांग्रेस को अब तक की सबसे कम सीटें (44) प्राप्त हुईं।

भारतीय आम चुनावों के दौरान मतदाताओं का वर्षवार संख्या एवं लिंगवार विवरण

वर्ष	मतदाताओं की कुल संख्या	पुरुष मतदाता		स्त्री मतदाता	
		मतदाताओं की संख्या	कुल मतदाताओं का प्रतिशत	मतदाताओं की संख्या	कुल मतदाताओं का प्रतिशत
1951-52	173,212,343				
1957	193,652,179				
1962	216,361,569				
1967	248,904,300				
1971	274,189,132	143,564,829	52.4%	130,624,303	47.6%
1977	321,174,327	167,019,151	52.0%	154,155,176	48.0%
1980	356,205,329	185,539,439	52.1%	170,665,890	47.9%
1984-'85	400,375,333	208,040,256	52.0%	192,335,077	48.0%
1989	498,906,129	262,045,142	52.5%	236,860,987	47.5%
1991 -'92	511,533,598	268,962,610	52.6%	242,570,988	47.4%
1996	592,572,288	309,815,776	52.3%	282,756,512	47.7%
1998	605,880,192	316,692,789	52.3%	289,187,403	47.7%
1999	619,536,847	323,813,667	52.3%	295,723,180	47.7%
2004	671,487,930	349,490,864	52.0%	321,997,066	48.0%
2009	716,985,101	374,758,801	52.3%	342,226,300	47.7%
2014	814,591,184	426,651,513	52.4%	387,911,330	47.6%

स्रोतः भारत निर्वाचन आयोग (14 फरवरी, 2014 तक उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार)
1971 के पूर्व के आम चुनावों के मतदाताओं का लिंगवार विवरण उपलब्ध नहीं है

टिप्पणी

टिप्पणी

राज्यवार पंचायतों में निर्वाचित अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और महिला प्रतिनिधि (1 मार्च 2013 तक)

States	SC	ST	Women	Total
Andhra Pradesh	46,755	21,078	85,154	254,487
Arunachal Pradesh	NA	9,356	3,889	9,356
Assam	1,344	886	9,903	26,844
Bihar	22,201	1,053	68,065	136,130
Chhattisgarh	19,753	63,864	86,538	158,776
Goa	NA	92	504	1,559
Gujarat	8,340	23,719	39,206	118,751
Haryana	14,684	NA	24,876	68,152
Himachal Pradesh	7,467	1,215	13,947	27,832
Jammu & Kashmir	NA	NA	NA	NA
Jharkhand	5,870	18,136	31,157	53,207
Karnataka	17,723	10,275	41,577	95,307
Kerala	867	120	9,907	19,107
Madhya Pradesh	59,537	107,167	198,459	393,209
Maharashtra	22,175	30,211	101,466	203,203
Manipur	21	38	836	1,723
Odisha	16,390	22,240	NA	100,863
Punjab	26,937	NA	29,389	84,138
Rajasthan	18,807	13,777	54,673	109,345
Sikkim	77	418	NA	1,099
Tamil Nadu	28,655	1,194	41,790	119,399
Tripura	1,508	309	2,044	5,676
Uttar Pradesh	185,159	NA	309,511	773,980
Uttarakhand	12,230	2,067	34,494	61,452
West Bengal	17,605	4,168	19,762	51,423
All-India	**568,181**	**342,157**	**1,364,154**	**2,921,381**

लोकसभा में राज्य/संघ राज्य वार सीटें और उनके आरक्षण की स्थिति

क्रमांक	राज्य	सीट का प्रकार 1976 में				सीट का प्रकार 2008 में		
		GEN	SC	ST	Total	GEN	SC	ST
1.	Andhra Pradesh	34	6	2	42	32	7	3
2.	Arunachal Pradesh	2	-	-	2	2	-	-
3.	Assam	11	1	2	14	11	1	2
4.	Bihar	33	7	-	40	34	6	-
5.	Jharkhand	8	1	5	14	8	1	5
6.	Goa	2	-	-	2	2	-	-
7.	Gujarat	20	2	4	26	20	2	4
8.	Haryana	8	2	-	10	8	2	-

9.	Himachal Pradesh		1	-	4	3	1	-
10.	Jammu & kashmir	6	-	-	6	6	-	-
11.	Karnataka	24	4	-	28	21	5	2
12.	Kerala	18	2	-	20	18	2	-
13.	Madhya pradesh	20	4	5	29	19	4	6
14.	Chhattisgarh	5	2	4	11	6	1	4
15.	Maharashtra	41	3	4	48	39	5	4
16.	Manipur	1	-	1	2	1	-	1
17.	Meghalaya	2	-	-	2	-	-	2
18.	Mizoram	-	-	1	1	-	-	1
19.	Nagaland	1	-	-	1	1	-	-
20.	Orissa	13	3	5	21	13	3	5
21.	Punjab	10	3	-	13	9	4	-
22.	Rajasthan	18	4	3	25	18	4	3
23.	Sikkim	1	-	-	1	1	-	-
24.	Tamil nadu	32	7	-	39	32	7	-
25.	Tripura	1	-	1	2	1	-	1
26.	Uttar pradesh	63	17	-	80	63	17	-
37.	Uttarakhand	4	1	-	5	4	1	-
28.	West bengal	32	8	2	42	30	10	2
29.	Andaman & Nicobar islands	1	-	-	1	1	-	-
30.	Chandigarh	1	-	-	1	1	-	-
31.	Dadra & Nagar Haveli	-	-	1	1	-		1
32.	Daman & diu	1	-	-	1	1	-	
33.	Delhi	6	1		7	6	1	-
34.	Lakshadweep	-	-	1	1	-		1
35.	Pondicherry	1	-	-	1	1	-	-
	Total	**423**	**79**	**41**	**543**	**412**	**84**	**47**

निर्वाचित अनुसूचित जाति के प्रतिनिधियों का राज्यवार अनुपात, पंचायतों में अनुसूचित जनजाति और महिला प्रतिनिधियों का (प्रतिशत) (1 मार्च 2013 की स्थिति के अनुसार)

States	SC	ST	Women
Andhra Pradesh	18.4	8.3	33.5
Arunachal Pradesh	NA	100.0	41.6

टिप्पणी

टिप्पणी

Assam	5.0	3.3	36.9
Bihar	16.3	0.8	50.0
Chhattisgarh	12.4	40.2	54.5
Goa	NA	5.9	32.3
Gujarat	7.0	20.0	33.0
Haryana	21.5	NA	36.5
Himachal Pradesh	26.8	4.4	50.1
Jammu & Kashmir	NA	NA	NA
Jharkhand	11.0	34.1	58.6
Karnataka	18.6	10.8	43.6
Kerala	4.5	0.6	51.9
Madhya Pradesh	15.1	27.3	50.5
Maharashtra	10.9	14.9	49.9
Manipur	1.2	2.2	48.5
Orissa	16.2	22.0	50.0
Punjab	32.0	NA	34.9
Rajasthan	17.2	12.6	50.0
Sikkim	7.0	38.0	50.0
Tamil Nadu	24.0	1.0	35.0
Tripura	26.6	5.4	36.0
Uttar Pradesh	23.9	NA	40.0
Uttarakhand	19.9	3.4	56.1
West Bengal	34.2	8.1	38.4
All-India	19.4	11.7	46.7

स्थानीय स्वशासन की प्रगति : उत्तर प्रदेश में पंचायतों का विकास

(क) प्रथम चरण (1947 से 1952–53)

उत्तर प्रदेश में 7 दिसम्बर, 1947 ई. को संयुक्त प्रान्त पंचायत राज अधिनियम–1947 गवर्नर जनरल द्वारा हस्ताक्षरित हुआ और प्रदेश में 15 अगस्त, 1949 से पंचायतों की स्थापना की गई। देश के संविधान में यह व्यवस्था की गई कि (अनुच्छेद–40) राज्य सरकारें, पंचायतों की स्थापना के लिए आवश्यक कदम उठाएं और ग्रामीण स्तर पर सभी प्रकार के कार्य एवं अधिकार उन्हें देने का प्रयत्न करें। 15 अगस्त, 1949 से उत्तर प्रदेश की तत्कालीन पांच करोड़ चालीस लाख ग्रामीण जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली 35,000 पंचायतों ने कार्य प्रारम्भ किया। साथ ही लगभग 8 हजार पंचायत अदालतें भी स्थापित की गईं।

वर्ष 1951–52 में गांव सभाओं की संख्या बढ़कर 35,943 तथा पंचायत अदालतों की संख्या बढ़कर 8492 हो गई। पहली पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए शासन द्वारा पंचायत अदालत स्तर पर विकास समितियों के सदस्य मनोनीत किए गये। ग्राम

पंचायत स्तर पर पंचायत मंत्री, विकास समितियों का भी मंत्री नियुक्त किया गया। जिला नियोजन समिति में भी प्रत्येक तहसील में एक प्रधान मनोनीत किया गया। 1952–53 में जमींदारी प्रथा की समाप्ति के पश्चात गांव समाज की स्थापना हुई और गांव सभाओं के अधिकार बढ़ाये गये।

टिप्पणी

(ख) द्वितीय चरण (1960–61 से 1971–72)

वर्ष 1960–1961 में गांवों को आत्मनिर्भर तथा सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से ग्राम पंचायत क्षेत्रों में कृषि उत्पादन तथा कल्याण उपसमितियों का गठन गांव सभा स्तर पर किया गया। इसी वर्ष पंचायत राज अधिनियम में संशोधन द्वारा गांव पंचायतों तथा न्याय पंचायतों की चुनाव पद्धति में आंशिक परिवर्तन किया गया जिसके अनुसार गांव सभा के प्रधान का चुनाव गुप्त मतदान प्रणाली द्वारा किए जाने का निश्चय हुआ। बलवन्त राय मेहता समिति की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार के निर्देशानुसार सत्ता के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों के अनुरूप उत्तर प्रदेश क्षेत्र समिति एवं जिला परिषद अधिनियम 1961 ई. क्रियान्वित किया गया। इस अधिनियम के अनुसार प्रदेश में गांव सभा, क्षेत्र समिति तथा जिला परिषद की इकाइयों को एक सूत्र में बांधा गया और प्रदेश में त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था प्रारम्भ हुई। पंचायतों के तीसरे आम चुनावों के पश्चात प्रदेश में गांव पंचायतों की संख्या 72233 तथा न्याय पंचायतों की संख्या 8594 थी।

(ग) तृतीय चरण (1972–73 से 1981–82)

वर्ष 1972–73 में पंचायतों के चौथे आम चुनाव सम्पन्न हुए। उस समय प्रदेश में गांव पंचायतों की संख्या 72834 और न्याय पंचायतों की संख्या 8792 थी। 30 अक्टूबर 1971 में विभाग के ग्राम स्तरीय कार्य कर्ता पंचायत सेवकों के शासकीय कर्मचारी हो जाने के उपरान्त गांव पंचायतों की गतिविधियों में अपेक्षित सुधार हुआ और तदुपरान्त बड़ी द्रुत गति से गांव पंचायतों अर्थात् ग्रामोपयोगी सत्ता की जड़ें गहरी जमने लगीं। 1982 में मतदाताओं की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गयी।

(घ) चतुर्थ चरण (1983–84 से 1992–93)

वर्ष 1988 में ग्राम पंचायतों का छठा सामान्य निर्वाचन सम्पन्न हुआ। 1988 में ही पंचायत राज अधिनियम में संशोधन कर यह व्यवस्था की गयी कि गांव पंचायतों के सदस्य पदों पर 30 प्रतिशत प्रतिनिधित्व महिलाओं को प्राप्त होना चाहिए। साथ ही यह भी व्यवस्था की गयी कि प्रत्येक गांव पंचायत में कम से कम एक अनुसूचित जाति की महिला को प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए। इस आम चुनाव में गांव पंचायतों की संख्या 73927 तथा न्याय पंचायतों की संख्या 8814 थी, जिसमें महिला प्रधानों की संख्या 930 तथा महिला सदस्यों की संख्या 1,50,577 थी। जिसमें अनुसूचित जाति की महिला सदस्यों की संख्या 65937 थी। वर्ष 1989 में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगार और अल्प रोजगार वाले पुरुषों एवं महिलाओं के लिए लाभकारी रोजगार सृजन करने के उद्देश्य से जवाहर रोजगार योजना प्रारम्भ की गयी। इस योजना के कार्यान्वयन का भार गांव पंचायतों को सौंपा गया।

(ङ) पंचम चरण (1993–94 से)

वर्ष 1994 में देश की गांव पंचायतों को संवैधानिक इकाई मानते हुए स्वशासी संस्था के रूप में स्थापित करने, उनमें एकरूपता लाने, निश्चित समय पर उनके चुनाव सुनिश्चित

कराने, आर्थिक रूप से उन्हें सुदृढ़ करने तथा पंचायतों को संवैधानिक दर्जा देने के उद्देश्य से 72वां संविधान संशोधन लोकसभा में प्रस्तुत किया गया जो बाद में 73वां संविधान संशोधन 1992 के रूप में 24 अप्रैल, 1993 से सम्पूर्ण देश में लागू हुआ।

टिप्पणी

73वें संविधान संशोधन के अनुक्रम में प्रदेश सरकार द्वारा उत्तर प्रदेश विधि (संशोधन) विधेयक 1994 पारित किया गया, जो 22 अप्रैल, 1994 से प्रदेश में लागू हुआ। जिसमें संयुक्त प्रान्त पंचायत राज अधिनियम 1947 तथा उत्तर प्रदेश क्षेत्र समिति तथा जिला परिषद अधिनियम 1961 में संशोधन कर राज्य में तीनों स्तर की पंचायतों (ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत तथा जिला पंचायत) में एकरूपता लाते हुए निम्नलिखित व्यवस्था सुनिश्चित की गयी है:–

1. पंचायतों का संगठन और संरचना
2. अनुसूचित जाति/अनुसूचित जन जाति, पिछड़े वर्ग तथा महिलाओं के लिए आरक्षण
3. पंचायतों का निश्चित कार्यकाल,
4. पंचायतों के कृत्य, शक्तियां और उत्तरदायित्व का विस्तार
5. राज्य निर्वाचन आयोग का गठन
6. राज्य वित्त आयोग की स्थापना

इन व्यवस्थाओं के तहत 1000 लोगों की आबादी पर ग्राम पंचायतों का गठन, संवैधानिक व्यवस्थाओं के अनुरूप आबादी के प्रतिशत के आधार पर पंचायती राज के प्रत्येक स्तर पर अध्यक्ष पदों एवं सदस्यों के स्थानों पर अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़ा वर्ग (27 प्रतिशत से अधिक) एवं प्रत्येक वर्ग में महिलाओं के लिए एक तिहाई पदों पर आरक्षण व्यवस्था सुनिश्चित की गई है। यह भी सुनिश्चित किया गया कि पंचायतों का कार्यकाल 5 वर्ष पूरा कर सके।

संविधान एवं राज्य के पंचायत राज अधिनियमों में किये गए प्राविधानों के अनुसार प्रदेश में अधिसूचना दिनांक 23 अप्रैल, 1994 के द्वारा राज्य निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई है और वर्ष 1994 से राज्य निर्वाचन आयोग की देखरेख में 73वें संविधान संशोधन के अनुरूप त्रिस्तरीय पंचायतों के सामान्य निर्वाचन सम्पन्न कराये जाते हैं। इसी प्रकार स्थानीय स्तर पर पंचायत एवं नगरपालिका के चुनाव करवा के जनता को अपने स्थानीय कार्यों को करने की शक्ति प्रदान की गई हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

5. लोकतंत्र में शासन किसके द्वारा किया जाता है?

   (क) राजा द्वारा (ख) नौकरशाहों द्वारा

   (ग) जनता द्वारा (घ) न्यायपालिका द्वारा

6. न्यून लोक भागीदारी का सूचक इनमें से क्या नहीं है?

   (क) कम मतदान प्रतिशत (ख) निर्धनता एवं अशिक्षा

   (ग) जातिगत–धार्मिक ध्रुवीकरण (घ) पर्याप्त मतदान का प्रतिशत

4.5 राजनीतिक उदासीनता : कारण एवं प्रभाव (भारत के विशेष संदर्भ में)

टिप्पणी

राजनीति जैसे अहम पहलू से स्वयं को पृथक रखना, मतदान संबंधी दायित्व से अरुचि जैसी स्थितियां राजनीतिक उदासीनता का परिणाम होती हैं।

राजनीतिक उदासीनता को समझने के लिए राजनीतिक अलगाव को समझना भी आवश्यक है। यद्यपि अलगाव एक प्राचीन अवधारणा है तथापि सामाजिक विज्ञानों में इसने महत्वपूर्ण स्थान पूंजीवादी समाजों के अध्ययन के परिणाम स्वरूप ही ग्रहण किया है। फ्रांसीसी भाषा में 'एलीने' (Aline) तथा स्पेनी भाषा में 'एलिण्डो' ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग व्यक्ति की उन मानसिक दशाओं को व्यक्त करने के लिए किया जाता है जिसमें वह अपने आपको परदेशी समझने लगता है तथा अपने एवं अन्य व्यक्तियों के प्रति पृथक्करण अनुभव करने लगता है। वर्तमान समय में इस शब्द का प्रयोग चिन्ताग्रस्त मनोदशाओं अथवा असन्तुलित मनोदशाओं व प्रवृत्तियों के लिए किया जाता है जो व्यक्ति को समाज से पर्यावरण से और स्वयं से उदासीन बना देती हैं।

4.5.1 राजनीतिक उदासीनता के कारण

राजनीतिक अलगाव में राजनीति या शक्ति के प्रति विकर्षण तथा राजनैतिक सहभागिता में ह्रास व उदासीनता निहित है। इसमें व्यक्ति अपने आपको राष्ट्रीय लक्ष्यों के प्रति उत्तरदायी एवं सम्बन्धित नहीं समझता। समकालीन विद्वान राजनीतिक अलगाव को आधुनिक औद्योगिक समाजों का ही लक्षण मानते हैं। समाजशास्त्रियों के अनुसार नगरीय–औद्योगिक अधिकारी–तन्त्रीय समाजों में शक्ति की जितनी दूरी आज है, उतनी पहले कभी नहीं रही। राजनीतिक उदासीनता हमें प्राचीन स्थितियों में भी देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, प्राचीन ग्रीक और रोमन प्रथा में जनता की अपने नेताओं के प्रति पूर्ण अधीनता इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है।

भारतीय राजनीति के संदर्भ में समय–समय पर राजनीतिक उदासीनता देखने को मिलती है। राजनैतिक व्यवस्था के संबंध में अनेक पक्षों द्वारा यह समझा जाता रहा कि कुछ ऐसे कारण हैं जो राजनैतिक व्यवस्था पर प्रभाव डालते हैं। यह कारण ही राजनीतिक उदासीनता के पर्यायवाची होते हैं। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि राजनीतिक उदासीनता राजनीति के प्रति व्यक्ति की निष्क्रियता है। राजनीतिक समाजीकरण का ठीक ढंग से न होना भी उदासीनता को जन्म देता है।

जब भी देश में कोई नया राजनैतिक परिवर्तन होता है या राजनैतिक संघर्ष की स्थितियां पनप जाती हैं, तब देश के राजनैतिक हालात भी व्यक्तियों में बड़े पैमाने पर उदासीनता की स्थिति को निर्मित करते हैं। सरकार की प्रणाली चाहे जो भी रही हो, राजनीतिक उदासीनता के तत्व हर शासन प्रणाली में पाए जाते रहे हैं। व्यक्ति या राजनेता जब किसी राजनैतिक व्यवस्था से अपना अनुकूलन नहीं कर पाते हैं तो उनमें राजनीति के प्रति द्वेष, घृणा, विग्रह या उदासी के भाव उभर कर सामने आते हैं। यही भावना आगे चलकर व्यक्ति को राजनैतिक संन्यास की ओर ढकेलती है।

प्रजातांत्रिक व्यवस्था वाले देशों की सरकारों के लिए राजनीतिक उदासीनता अच्छी बात नहीं कही जा सकती है। प्रजातंत्र में सभी लोगों को राजनीति में आने

टिप्पणी

का समान अवसर सुलभ होता है। भारत जैसे विकासशील राष्ट्र में हम विभिन्न क्षेत्रों तक विभिन्न समुदायों के अंदर राजनैतिक उदासीनता की धारणा को देखते हैं। अशिक्षित गरीब जनता को कहते सुना जाता है कि 'हमें अपने पेट से मतलब है, नेता व राजनेता से कोई लेना देना नहीं है। इसे भी राजनैतिक उदासीनता की परिधि में लिया जा सकता है।

राजनैतिक वातावरण के तत्व जन आकांक्षाओं के प्रतिकूल होने की दशा में राजनैतिक व्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव डालते हैं। यह प्रभाव सरकारों तथा उसके अंगों पर भी पड़ता है जिसके फलस्वरूप राजनैतिक उदासीनता का वातावरण तैयार होता है। सरकार की नाकामी भी उदासीनता की परिचायक मानी जा सकती है।

राजनैतिक उदासीनता के अन्य अनेक कारण हो सकते हैं। यहां हम भारत के संदर्भ में कुछ प्रमुख कारणों पर प्रकाश डाल रहे हैं–

1. **शासक का जन–आशाओं पर खतरा ना उतरना** – राजनैतिक व्यवस्था के अंतर्गत सरकारी कार्य करती हैं। सरकारों का प्रवेश राजनैतिक दलों के द्वारा होता है। बहुमत प्राप्त दल सरकार बनाते हैं। जब सत्तारूढ़ दल जनता के वायदे के अनुसार सरकार के अंदर कार्य नहीं करते अथवा अपने घोषणापत्र के अनुरूप जन आकांक्षाओं की पूर्ति करने में असफल रहते हैं। ऐसी स्थिति में जन आक्रोश बढ़ता है तथा जनता उस सरकार के प्रति उदासीन होने लगती है। पार्टी के अंदर भी मतभेद उभरते हैं तथा पार्टी के सिद्धांत के प्रति नेताओं में राजनैतिक उदासीनता उत्पन्न होने लगती है।
2. **चुनाव प्रणाली का दोष** – प्रजातंत्र में बहुमत का महत्व होता है। किसी क्षेत्र के नेताओं का चुनाव जनता करती है। विभिन्न दल अपने–अपने प्रत्याशी मैदान में उतारते हैं। चुनाव में एक बड़े क्षेत्र में बहुत कम प्रतिशत मतों से प्रत्याशी मैदान में उतारते हैं और आम चुनाव में एक बड़े क्षेत्र में बहुत कम प्रतिशत मतों से प्रत्याशी चुनाव में हारते हैं फिर भी उन्हें दल में बहुमत में होने से सरकार में शामिल नहीं किया जाता है। इस तरह की स्थिति यद्यपि चुनाव प्रणाली से उत्पन्न होती है। परंतु मतदाता ने तो उसे वोट दिया है पर उसे राजनीति में भाग नहीं लेने दिया जाता। परिणामस्वरूप लोगों में राजनैतिक उदासीनता पनपती है।
3. **भ्रष्टाचार** – भ्रष्टाचार किसी भी व्यवस्था के लिए शुभ संकेत नहीं कहा जाता है। राजनैतिक व्यवस्था में भ्रष्टाचार के आ जाने से राजनीतिक संस्कृति का पतन होने लगता है। गलत तरीके से राजनैतिक भर्ती तथा मंत्रियों के चयन होने से पार्टी के अंदर गतिरोध की स्थितियां पनप जाती हैं तथा राजनैतिक वातावरण दूषित होता है। जब किसी सरकार व राजनीति में भ्रष्टाचार अपने चरम रूप में होता है तब राजनैतिक विग्रह या उदासीनता का जन्म होने लगता है।
4. **नीति निर्माण में कर्मचारियों व जनता को महत्व न देना**– नीति–निर्माण में सहभागी बनाया जाना चाहिए। कम से कम सरकार द्वारा लिए जाने वाले महत्वपूर्ण निर्णयों में अधिकारियों तथा जनता की राय अवश्य दी जानी चाहिए।

टिप्पणी

पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि वह सरकार के अभिन्न अंग है, और सरकार चलाने में उनका भी हाथ है। किंतु इसके विपरीत जनता या कर्मचारी जब यह अनुभव करते हैं कि सरकार व शासन पर उनका कोई महत्व नहीं है तो स्वाभाविक रूप से उनका मनोबल गिरता है और राजनैतिक उदासीनता उनमें पनपने लगती है।

5. **राजनैतिक अस्थिरता** – राजनीतिक अस्थिरता, राजनीतिक उदासीनता का एक महत्वपूर्ण कारण है। भारत के संघ राज्यों के नृत्य दल बदल दलों की आंतरिक गुटबंदी आदि के कारण राजनीतिक स्थायित्व कार्यक्रम ही रहा है। अधिकांश राज्य काफी हद तक राजनैतिक अस्थिरता के शिकार रहे हैं। वहां संवैधानिक संकट पैदा होते रहे हैं और फल स्वरुप बार बार राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा है। ऐसे राजनीतिक अस्थिरता से भी लोगों में राजनैतिक उदासीनता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

6. **नेता के प्रति विश्वास में कमी** – नेताओं द्वारा समय–समय पर किए गए वायदों को पूरा न किया जाना है तथा पार्टी एजेंडा का पालन ना होने से लोगों में नेताओं के प्रति विश्वास में कमी आती है। इससे लोगों में राजनीति के प्रति उदासीनता पैदा होने लगती है। प्रायः चुनाव के समय दिए गए राजनीतिक प्रोत्साहन के कारण जनता उनके प्रति अपना विश्वास मत प्रकट करती है किंतु बाद में यदि वे जनता को नहीं मिलते तब लोग उस नेता के प्रति अपना विश्वास खो देते हैं।

7. **राजनीति गठबंधन** – कई घटक दल मिलकर कई बार सरकारें चलाते हैं। जब घटक दल के सदस्य प्रमुख दल के साथ तालमेल नहीं बना पाते तो इनमें आपस में खींचतान मची जाती है। कई बार तो मंत्री परिषद के सदस्य प्रधानमंत्री के आदेश–निर्देश तक की अवहेलना करते हैं। या विसंगति नीचे से ऊपर तक की शासन प्रणालियों में पाई जाती है। राजनीतिक गोलबंदी के चलते पार्टी के भीतर और बाहर राजनीतिक उदासीनता का माहौल निर्मित होता है।

8. **आंदोलन और हिंसा की राजनीति** – आंदोलन और हिंसा की राजनीति उदासीनता की प्रवृत्ति को जन्म देती है। मतदान के समय मारपीट, बूथ कैपचरिंग, हिंसा, आगजनी आदि के चलते बहुत से मतदाता मतदान करने नहीं जाते हैं। उनमें राजनीति के प्रति विशेष झुकाव नहीं रहता है। बिहार कश्मीर व अन्य प्रांतों में यदा–कदा हिंसा की बातें सुनाई देती रहती है। इसके कारण निस्सहाय और गरीब जनता राजनीति से दूर ही रहती है।

9. **भूमि सुधार व आर्थिक स्थिति** – यदि व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति बेहतर होती है तो वह मतदाता शासक दल के पक्ष में मतदान करते हैं अन्यथा शासक दल के विरुद्ध। सन 2004 में लोकसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी की पराजय का एक प्रमुख कारण जनता की आर्थिक कठिनाइयां थीं। यदि सरकार जनता की आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने में सफल नहीं होती तो लोगों में राजनैतिक उदासीनता ज्यादा दिखाई देती है। इसी प्रकार भूमि सुधार

टिप्पणी

कानून का सही क्रियान्वयन ना होने से भी जनता अपनी राजनीतिक पकड़ कम कर देती है। लोगों में यह आक्रोश उत्पन्न होता है कि उनके भूमि सुधार संबंधी कार्य ठीक से नहीं हुए हैं। बिहार में इसी असंतोष के चलते अभी भी खून–खराबा होता रहता है। अतः जन–आकांक्षाओं के अनुकूल काम ना होने से राजनैतिक वैराग्य पैदा होता है।

10. **जातिवाद** – भारतीय राजनीति में जातिवाद के तत्व विद्यमान हैं। बिहार, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान और केरल में इस तत्व का प्रभाव अधिक है। यदि किसी क्षेत्र या प्रदेश में किसी विशेष जाति का बाहुल्य होता है तो वहां अल्पसंख्यक जाति के व्यक्तियों को राजनीति में आने का बहुत कम अवसर मिलता है। ऐसी स्थिति में इन अल्पसंख्यक जातियों में राजनीति के प्रति विग्रह पैदा हो जाता है।

11. **गरीबी एवं अशिक्षा** – भारत गांवों का देश है। यहां की अधिकांश जनता गरीबी में जीवन यापन करती है। साथ ही शिक्षा का प्रतिशत भी कम है। अज्ञानता व अंधविश्वास के सहारे ग्रामीण जनता अपना गुजर–बसर करती है। जनता अपने भरण–पोषण के आगे राजनीति व सरकार को कोसों दूर देखती है। मतदान के समय मतदाता का रुख यही रहता है– कोई जीते हम तो ऐसे ही रहेंगे। अतः गरीबी और अशिक्षा राजनैतिक उदासीनता को बढ़ाने में सहायक तत्व कह जा सकते हैं।

12. **पार्टी सिद्धांतों में मतैक्य का अभाव** – भारत जैसे विकासशील देश में प्रजातंत्रात्मक शासन प्रणाली कार्यरत है। यहां पर बहु दलीय व्यवस्था का प्रचलन है। बहुमत प्राप्त दल की सरकार बनती है। जो भी दल सरकार में हो या सरकार के बाहर हो, उसके अपने दलिय सिद्धांत व कार्यक्रम होते हैं। पार्टी के सदस्यों में यदि पार्टी के सिद्धांतों को लेकर मतभेद होता है तो सदस्यों में पार्टी के प्रति विश्वास में कमी आती है। फलतः उनमें राजनीतिक उदासीनता का विकास होने लगता है।

अतिरिक्त कारण

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त राजनीतिक उदासीनता के अन्य कारण निम्न हैं–

1. नौकरशाहों का उत्तरदायी होना,
2. लोगों के मानसिक स्तर का वास्तविक आकलन न करना,
3. जनता में बढ़ती हुई निराशाएं,
4. आपातकालीन ज्याद्तियां,
5. चुनाव के लिए गलत समय का निर्धारण,
6. संसदीय कार्यवाही को न चलने देना,
7. राजनीतिक ज्ञान का अभाव,
8. राजनीतिक प्रभाविता–भावना का अभाव,
9. विभक्त चेतना,

टिप्पणी

10. राजनीतिक संचार का अभाव,
11. नगरीकरण एवं औद्योगीकरण,
12. राजनीतिक अस्थिरता
13. निरपेक्ष राजतन्त्र
14. सर्वाधिकारवादिता
15. सत्ता का केन्द्रीकरण,
16. भावात्मक परिक्षीणता,
17. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अभाव की सम्भावित धमकी,
18. अमूर्त राजनीति; तथा
19. नेताओं एवं सदस्यों में अनुकूल सम्बन्धों का अभाव।

21वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दो दशकों में भारतीय राजनीति में राजनीतिक उदासीनता का प्रमुख कारण जनता का राजनेताओं पर अविश्वास का बढ़ता जाना है। नेताओं के नैतिक पतन के कारण नेतृत्व और जनता के मध्य अनुकूल सम्बन्ध समाप्त होते जा रहे हैं। जनता का यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि सभी नेता नैतिक रूप से कमजोर हैं, चाहे वे जिस राजनीतिक दल का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका अंतिम उद्देश्य शक्ति एवं सत्ता का दुरूपयोग है और वे मिलकर जनता को लूट रहे हैं। जनता का यह विश्वास होता जा रहा है कि मतदान में भाग लेने और सत्ता परिवर्तन से कुछ नहीं होगा।

राजनीतिक नेतृत्व पर भ्रष्टाचार, भाई–भतीजावाद के आरोप लगते जा रहे है। राजनेताओं की चल–अचल संपत्ति उनके ज्ञात स्रोतों से कहीं अधिक होने की सूचनाएं सामाने आ रही हैं। अनेक राजनेता भ्रष्टाचार के आरोप में जेल भी जा चुके हैं। भारत में राजनीतिक अभिजनों में भर्ती की प्रक्रिया अत्यधिक कठिन और जटिल है। इस कारण आमजन राजनीतिक अभिजन वर्ग में नहीं पहुंच पाता। धन, बल आपराधिक चरित्र, वंशवाद और नौकरशाह पिछले कुछ समय से राजनीतिक भर्ती का प्रमुख आधार बन गए है। इसलिए जनता में राजनीति के प्रति निराशा का भाव घर कर गया है।

भारत में उभरता मध्य वर्ग भी राजनीतिक उदासीनता के लिए सहायक सिद्ध हुआ है। भारतीय मध्य वर्ग अमूमन स्वार्थी और हित केन्द्रित है। वह अपने काम येन–केन प्रकारेण कराने पर विश्वास रखता है चाहे वो कैसी भी राजनीतिक स्थिति हो। मध्यवर्गीय सोच राजनीतिक उदासीनता वाली ही है। यह वर्ग मतदान में भाग लेने की अपेक्षा क्रिकेट मैंच देखना ज्यादा पसन्द करता है।

4.5.2 राजनीतिक उदासीनता के परिणाम

किसी भी व्यवस्था में राजनीतिक उदासीनता का न पाया जाना अतिशयोक्ति ही कहा जाएगा। अर्थात राजनैतिक उदासीनता सभी प्रकार की शासन व्यवस्था में किसी न किसी रूप में पाई जाती रही है। बहुधा राजनैतिक उदासीनता को नकारात्मक दृष्टिकोण से ही संबोधित किया जाता है।

टिप्पणी

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक धारणा का प्रभाव या परिणाम अच्छा, कम तथा खराब ज्यादा ही रहा है। भारत के विशेष संदर्भ में राजनैतिक उदासीनता के परिणामों को निम्न शीर्षकों के अंतर्गत रह सकते हैं–

1. **आतंकवाद व नक्सलवाद का जन्म**– राजनीतिक उदासीनता ने भारतीय राजनीतिक जीवन में कई खतरनाक तत्वों को जन्म दिया है। इनमें आतंकवाद व नक्सलवाद प्रमुख हैं। जब किसी वर्ग व संप्रदाय में अनुकूल राजनीतिक व्यवस्थाएं नहीं होती हैं तो आतंक के जरिए सरकार को भयभीत किया जाता है। आतंकवाद का सहारा लेकर अपनी मांगों को सरकार के सामने प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है।

   राजनैतिक उदासीनता का दूसरा परिणाम नक्सलवाद है। अनेक खेतिहर मजदूर तथा जंगल के आदिवासी वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था से असंतुष्ट होकर सरकार के विरुद्ध नक्सली आंदोलन प्रारंभ किए हुए हैं। उनका लक्ष्य राज्य सरकार के नेताओं मंत्रियों व नौकरशाहों को परास्त करना एवं परेशान करना होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नक्सलवाद व आतंकवाद जैसी समस्या के पीछे राजनीतिक विग्रह ही है।

2. **राजनीतिक समाजीकरण में बाधक**– राजनैतिक उदासीनता राजनैतिक समाजीकरण के मार्ग में बाधक तत्व होता है। इसके कारण राजनीतिक मूल्यों संस्कृतियों व व्यवस्थाओं का अवमूल्यन होने लगता है। व्यक्ति राजनीति से जितना दूर हो जाता है उतना ही उसका राजनीतिक समाजीकरण भी कम हो जाता है। यह स्वस्थ राजनीतिक विकास के लिए उचित नहीं कहा जाता है।

3. **दल बदल की राजनीति को प्रोत्साहन**– राजनैतिक उदासीनता ने दलबदल को भी बहाल किया है। वर्तमान में कई बड़े–बड़े महारथी नेता अपनी पार्टी की निष्ठा से उदासीन होकर दूसरे दलों में आ जा रहे हैं। दल बदल के कारण दलों में अस्थिरता पैदा होती है। फलतः सरकारें भी अनिश्चय की स्थिति में शासन करती हैं।

4. **राजनीतिक एकता का विखंडन**– राजनैतिक उदासीनता के परिणामस्वरूप व्यक्ति तथा सरकार में दूरियां बढ़ती हैं। जनता तथा सरकार में सदैव राहत व संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। पंजाब, कश्मीर, असम के लोगों में सरकार के प्रति असंतोष आए दिन आंदोलनों के जरिए दिखाई देते हैं। इस तरह का परिदृश्य राजनीतिक विज्ञान राजनीतिक एकता को समाप्त कर विषमताओं को जन्म देता है। समाज में राजनैतिक उदासीनता के चलते ही हावी होकर देश की एकता को नष्ट करने में सहायक बनती हैं। इस प्रकार राजनीतिक अस्थिरता को राजनैतिक उदासीनता का परिणाम कहा जा सकता है।

5. **प्रजातांत्रिक मूल्यों को आघात**– राजनीतिक उदासीनता प्रजातंत्र के सिद्धांतों को ठेस पहुंचाती है। समानता, स्वतंत्रता तथा भाईचारे की भावना राजनैतिक उदासीनता के चलते मजबूत नहीं हो पाती है। यदि प्रजातांत्रिक ढंग से सभी व्यक्तियों को राजनीति में समान अवसर मिलता है तो विकास की स्थिति बनती है किंतु व्यवहार में ऐसा नहीं होता है। थोड़े से व्यक्ति ही राजनीति में अपना शिकंजा बरकरार रखते हैं। अन्य व्यक्तियों को कोई महत्व नहीं दिया जाता है। परिणामस्वरूप प्रजातांत्रिक मूल्यों को आघात पहुंचता है।

टिप्पणी

6. **अनशन, धरना एवं हड़तालों का विकास**– भारत में आए दिन अनशन, धरना, हड़ताल एवं तालाबंदी जैसी घटनाएं देखने को मिलती हैं। सामान्यतया अनशन व धरना के मूल में प्रशासन का विरोध मुख्य मुद्दा होता है। भारत में जो अनशन, धरना आदि कार्यक्रम चलता रहता है उसका प्रमुख कारण राजनीति और सरकारी मशीनरी का विरोध है। जब व्यक्ति को शासन से असंतोष होता है तो उसमें उदासीनता के भाव पनप जाते हैं। इस उदासीनता का ही परिणाम होता है कि अनशन, धरना, विभिन्न प्रकार की रैलियां, तालाबंदी आदि को एक अस्त्र के रूप में सरकार के विरोध में प्रयुक्त किया जाता है।

7. **अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव**– भारत में जब कभी राजनीतिक उदासीनता की मात्रा बढ़ी है, तब देश की अर्थव्यवस्था पर इसका बुरा प्रभाव देखा गया है। उदासीनता के कारण सरकारें कमजोर होती हैं। जब सरकारें कमजोर होती हैं तो देश की अर्थव्यवस्था भी कमजोर हो जाती है। देश के अंदर गरीबी तथा आर्थिक अराजकता के कारण भी सरकारें गिर जाती हैं। परिणाम स्वरूप मध्यावधि चुनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

8. **पार्टी में अंतर–कलह**– पार्टी के भीतर राजनैतिक उदासीनता का परिणाम पार्टी में अंतर–कलह के रूप में सामने आता है। पार्टी के सिद्धांतों में मतभेद से सदस्यों में उदासीनता पैदा होती है। सदस्य उस पार्टी को छोड़कर दूसरी पार्टी में चले जाते हैं अथवा नई पार्टी का गठन कर लेते हैं। पार्टी में अंतर–कलह के पार्टी की छवि खराब होती है।

9. **मतदान का प्रतिशत**– राजनीतिक कुव्यवस्था अथवा राजनीतिक दलों में राजनैतिक उदासीनता के कारण मतदाताओं के मतदान पर भी प्रभाव पड़ता है। यदि नागरिक पार्टी या पार्टी प्रत्याशी से सहमत नहीं है तो वह मतदान करने नहीं जाएगा अथवा मतदान का प्रतिशत बहुत कम होगा। मतदान का कम होना प्रजातांत्रिक व्यवस्था के लिए प्रश्न–चिन्ह है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में सभी वयस्कों को मताधिकार प्राप्त होता है। मतदाता मतदान के द्वारा अपने किसी दल के उम्मीदवार को विजय दिलाते हैं या पराजय। मतदान के द्वारा ही व्यक्ति अपने को सरकार का प्रतिनिधि समझता है। मतदान का प्रतिशत कम होना निश्चित रूप से राजनैतिक उदासीनता का परिणाम कहा जा सकता है।

वस्तुतः इस संदर्भ में यही कहना यह उचित होगा कि किसी भी लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक उदासीनता की मनोवृत्ति को एक सीमा तक ही पनपने या फैलने की छूट दी जानी चाहिए। यदि उदासीनता की अभिव्यक्ति नागरिकों में हद से ज्यादा हो जाए तो यह जनता के स्थाई विकास के लिए खतरनाक है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में राजनीति सामाजिक व्यवस्था के संचालन का माध्यम है और लोगों की बुनियादी एवं उत्तम जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का सशक्त जरिया भी है। ऐसी स्थिति में नागरिकों के पक्ष से मिलने वाली राजनीतिक उदासीनता की अभिव्यक्ति सामाजिक एवं राजनीतिक दोनों व्यवस्थाओं के लिए गंभीर चुनौतियां पैदा कर सकती है। इसलिए प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था का यह दायित्व बनता है कि वह ऐसी परिस्थिति पैदा करे जिसमें नागरिक ज्यादा से ज्यादा राजनीतिक विषयों का संज्ञान लेने में सक्षम हो सकें और राजनीतिक क्रियाओं में ज्यादा से ज्यादा भागीदारी

करें। स्वास्थ्य जनमत का निर्माण ही लोकतंत्र को मजबूती और लोकप्रियता प्रदान करता है। राजनीतिक उदासीनता इस रास्ते का सबसे बड़ा अवरोधक है।

टिप्पणी

भारत में राजनीतिक उदासीनता ने कुछ महत्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न किये हैं। राजनीतिक उदासीनता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणाम हाल के दिनों में न्यायिक सक्रियता के रूप में सामने आ रहा है। चूंकि जनता का विधायिका एवं कार्यपालिका पर से विश्वास उठता जा रहा है इसलिए सामान्य कार्यों में भी न्यायपालिका का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। जनता आशा भरी दृष्टि से न्यायपालिका की ओर देख रही है।

राजनेताओं पर बढ़ते अविश्वास के कारण अनेक छोटे–बड़े जन आंदोलन प्रस्फुटित हो रहे हैं। ये जन आंदोलन न केवल विकास कार्यों में अवरोध उत्पन्न कर रहे हैं बल्कि विधान निर्माण की प्रक्रिया को भी प्रभावित कर रहे हैं। भारत में अनेक भूमि–अधिग्रहण के विवाद एवं जन आंदोलन चल रहे हैं। सिंगूर, कुडन्कलम, नोएडा विवाद एवं अन्ना आन्दोलन कुछ प्रमुख उदाहरण हैं। सूचना क्रान्ति के इस दौर में नेताओं के नैतिक पतन का मीडिया ने फायदा उठाया है। चौबीस घंटे चलने वाले चैनल, स्टिंग ऑपरेशन नेताओं को ब्लैकमेल करते हैं। जनता मीडिया की बात पर बिना प्रमाण के भरोसा कर लेती है क्योंकि उसका वर्तमान नेतृत्व पर से विश्वास जाता रहा है। इस तरह से राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ावा मिलता है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. राजनीतिक उदासीनता के कारण हैं–

   (क) चुनाव प्रणाली का दोष (ख) भ्रष्टाचार

   (ग) राजनीतिक अस्थिरता (घ) उपरोक्त सभी

8. इनमें से क्या राजनीतिक उदासीनता का परिणाम नहीं है?

   (क) आतंकवाद (ख) दल–बदल की राजनीति

   (ग) स्थायीत्वपूर्ण आदर्श सरकार (घ) धरना–प्रदर्शन एवं हड़ताल

4.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (घ)
3. (क)
4. (ग)
5. (ग)
6. (घ)
7. (घ)
8. (ग)

4.7 सारांश

टिप्पणी

राजनीतिक दल व्यक्तियों का ''एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य सामान्य सिद्धांतों पर सहमत हों और सामूहिक प्रयत्नों द्वारा राष्ट्रीय हित का परिवर्तन हेतु एकता के सूत्र में बंधे हों।'' बर्क की इस परिभाषा में राजनीतिक दल के तीन लक्षण स्पष्ट हैं–(i) सामान्य सिद्धांतों को सदस्यों द्वारा स्वीकृति (ii) राष्ट्रीय हित की प्रत्याशा, एवं (iii) संगठित इकाई के रूप में कार्य करने की उत्कंठा।

भारत में राजनीतिक दलों का विकास उस प्रकार नहीं हुआ, जिस प्रकार पश्चिमी देशों में हुआ। वहां राजनीतिक दलों का विकास कुलीन तथा सत्तारूढ़ वर्ग को अपदस्थ करने के लिए हुआ था। इसके विपरीत भारत में राजनैतिक दलों के विकास का मुख्य कारण व आधार विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष संचालित करना था। राष्ट्रीय कांग्रेस ने सर्वप्रथम विदेशी शासन के विरुद्ध आवाज उठाई और स्वराज्य की मांग की। अन्य राजनैतिक दल कांग्रेस के सहयोग से कार्य करते रहे। आइवर जैनिंग्स के अनुसार, ''सभी समुदाय अंततः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे राष्ट्रवादी दल में जाकर मिल जाते थे, जिनमें अति दक्षिण पंथी व अति वामपंथी सभी प्रकार के मतों का प्रतिनिधित्व होता था क्योंकि भारतीय स्वाधीनता के प्रश्न पर सभी सहमत थे।''

भर्ती की सकारात्मक अवधारणा से तात्पर्य यह है कि विभिन्न सरकारी पदों के लिए योग्य व्यक्तियों की खोज के प्रयास किए जाएं। चयन करते समय चयनकर्ता का लक्ष्य केवल कुशल और योग्यतम व्यक्तियों का चयन होना चाहिए। सकारात्मक अवधारणा में इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि केवल योग्य व्यक्तियों को ही प्रतियोगिता में सम्मिलित होने की अनुमति दी जाए।

प्रजातंत्र की दक्षता में वृद्धि और लोक भागीदारी का विस्तार करने के लिए समाज के प्रत्येक महिला एवं पुरुष का अधिकतम सहयोग अपेक्षित होता है। प्रजातंत्रीय व्यवस्था तभी अपने सैद्धांतिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है जब इसके नागरिक अधिकतम संख्या में सरकार के गठन एवं संचालन में भागीदार बने। वास्तविक प्रजातंत्र जमीनी स्तर (Grass roots) से ही प्रारम्भ होता है।

किसी भी लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक उदासीनता की मनोवृत्ति को एक सीमा तक ही पनपने या फैलने की छूट दी जानी चाहिए। यदि उदासीनता की अभिव्यक्ति नागरिकों में हद से ज्यादा हो जाए तो जनता के विकास के लिए खतरनाक है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में राजनीति सामाजिक व्यवस्था के संचालन का माध्यम है और लोगों की बुनियादी एवं उत्तम जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का सशक्त जरिया भी है। ऐसी स्थिति में नागरिकों के पक्ष में से मिलने वाली राजनीतिक उदासीनता की अभिव्यक्ति सामाजिक एवं राजनीतिक दोनों व्यवस्थाओं के लिए गंभीर चुनौतियां पैदा कर सकती है। इसलिए प्रत्येक व्यवस्था का यह दायित्व बनता है कि वह ऐसी परिस्थिति पैदा करे, जिससे नागरिक ज्यादा से ज्यादा राजनीतिक विषयों का संज्ञान लेने में सक्षम हो सकें और राजनीतिक क्रियाओं में ज्यादा ज्यादा भागीदारी करें।

टिप्पणी

4.8 मुख्य शब्दावली

- **मतैक्य** – एक मत
- **पृथकता** – अलग होने की स्थिति
- **नगण्य** – न होने के समान
- **अर्हताएं** – योग्यताएं/पात्रताएं
- **वर्णित** – जिसका वर्णन किया गया हो
- **निस्तारण** – निराकरण/समाधान
- **तदुपरांत** – उसके बाद

4.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक दल किसे कहते हैं?
2. राजनीतिक दल कितने प्रकार के होते हैं?
3. नकारात्मक भर्ती से क्या आशय है?
4. लोकभागीदारी की अर्थवत्ता बताइए।
5. राजनीतिक उदासीनता का क्या तात्पर्य है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. विभिन्न विद्वानों द्वारा की गई राजनीतिक दल की प्रमुख परिभाषाएं लिखते हुए राजनीतिक दल की सामाजिक संरचना स्पष्ट कीजिए।
2. भारतीय दलीय व्यवस्था की प्रकृतिगत विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
3. भर्ती की पद्धतियां रेखांकित करते हुए इसके गुण–दोषों पर प्रकाश डालिए।
4. सामूहिक भागीदारी की अवधारणा स्पष्ट करते हुए न्यून भागीदारी संबंधी सूचनाओं का उल्लेख कीजिए।
5. राजनीतिक उदासीनता के कारणों एवं प्रभावों की विवेचना कीजिए।

4.10 सहायक पाठ्य सामग्री

- Damodaran, K. 1967. Indian Thought: A Critical Survey. New York: Asia Publication House.
- Desai, A. R. 2005. Social Background of Indian Nationalism. Mumbai: Popular Prakashan Pvt. Ltd.
- Varma, Vishwanath Prasad. 1971. Modern Indian Political Thought. Agra: Lakshmi Narain Agarwal Publishers.

- Hans J. Morgenthau, Politics among Nations : The Struggle for Power and Peace (New York : Alfred A. Knopf, 1948).
- Hans J. Morgenthau (2nd ed.), Politics among Nations : The Struggle for Power and Peace (New York : Alfred A. Knopf, 1954).
- Kenneth N. Waltz, Theory of International Politics (Boston: Addison-Wesley Pub. Co., 1979).
- John J. Mearsheimer, The Tragedy of Great Power Politics (New York : Norton, 2001).

टिप्पणी

इकाई 5 भारत में राजनीतिक प्रक्रिया

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 भारत में राजनीतिक प्रक्रिया के विविध विषय
  5.2.1 जाति
  5.2.2 धर्म
  5.2.3 क्षेत्रवाद
  5.2.4 भाषा
  5.2.5 अन्य
5.3 जनमत : मास मीडिया की भूमिका
  5.3.1 जनमत का अर्थ एवं परिभाषाएं
  5.3.2 अशिक्षित समाज में जनमाध्यमों की भूमिका एवं समस्याएं
5.4 दल एवं इनके राजनीतिक संदर्भ
  5.4.1 दलों का वर्गीकरण
  5.4.2 राजनीतिक दलों के कार्य : प्रजातांत्रिक और अधिनायकवादी
5.5 सामाजिक जीवन का राजनीतिकरण
  5.5.1 जीवन के राजनीतिकरण की यथार्थता
  5.5.2 भारत में राजनीतिकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

भारतीय राजनीति के जितने विचित्र और बहुरूपी आधार हैं, उतने संभवतः बहुत कम देशों की राजनीति के होंगे। धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्रीयता, गरीबी आदि इसके कुछ प्रमुख आधार हैं जो हमारी राजनीति को बहुत प्रभावित करते हैं और साथ ही राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक हैं। स्वतंत्र भारत में ये आधार जितनी कुरूपता से उभरे हैं, उसे लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए शुभ नहीं माना जा सकता। पराधीनता के समय स्वतंत्रता की उत्कट आकांक्षा हमें एकता के सूत्र में बांधे हुए थी। स्वाधीन होने के बाद एकता के बंधन शिथिल हो गए और आज हमारी राजनीति तथा सामाजिक नीति धार्मिक पाखंडों, भाषीय विवादों, क्षेत्रीय भावनाओं, प्रादेशिक अंतर्विग्रहों और जातीय पक्षपात से बुरी तरह ग्रस्त है।

जनमत या लोकमत जनता की राजनीतिक इच्छा का दूसरा नाम है। जनमत सभी लोकतांत्रिक सरकारों की उत्तरजीविता का प्राणाधार तत्व है, जो व्यवस्था को सक्रियता, ओजस्विता, लोकप्रियता, सातत्य एवं स्थायित्व प्रदान करता है। यह लोकतांत्रिक सरकारों को समाजोन्मुखी बनाता है। लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के लिए

जनमत प्राणवायु है जो लोकतांत्रिक सरकारों की लोकप्रियता, निरन्तरता तथा स्थायित्व का मर्मतत्व है। जनमत को सरकार की निर्माण–शक्ति कहा गया है।

टिप्पणी

दल सरकार के समक्ष जनमत का सही चित्र प्रस्तुत करते हैं। वे सरकार को बताते हैं कि देश के विभिन्न भागों में सरकारी नीति और क्रियाओं की क्या प्रतिक्रिया होती है। विपक्षी दलों का शुद्ध उद्देश्य सरकारी नीतियों की स्वस्थ आलोचना करके जनमत को अपने पक्ष में करना होता है। राजनीतिक दल सरकार और जनता के बीच मध्यस्थ कड़ी का कार्य करते हैं। चूंकि प्रजातंत्र ऐसा पिरामिड है जिसका निर्माण नीचे से ऊपर की ओर होता है अतः नेताओं और उनके अनुकर्ताओं के बीच निरंतर सम्बन्ध बने रहना प्रजातंत्र की सफलता के लिए एक अनिवार्यता है।

इस इकाई में हम भारतीय राजनीति को प्रभावित करने वाले कारकों, जनमत, दलों के राजनीतिक संदर्भ, सामाजिक जीवन के राजनीतिकरण आदि का अध्ययन करेंगे।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय राजनीति में जाति, धर्म, भाषा आदि की भूमिका समझ पाएंगे,
- जनमत में मास मीडिया की भूमिका से अवगत हो पाएंगे,
- दल एवं इसके राजनीतिक संदर्भ का आकलन कर पाएंगे,
- सामाजिक जीवन के राजनीतिकरण का अवलोकन कर पाएंगे।

5.2 भारत में राजनीतिक प्रक्रिया के विविध विषय

यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि भारत में राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था एक दूसरे को प्रभावित करती है। सामाजिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण पहलुओं में जातिवाद एक महत्वपूर्ण पहलू है। जो कमोबेश पूरे राष्ट्र की राजनीति को प्रभावित करता है। इसी तरह का प्रभाव साम्प्रदायिकता एवं धार्मिकता का भी पड़ता है। भारत ही नहीं दुनिया के तमाम देशों में लिंग के आधार पर भेदभाव का ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है। यह स्वीकार करते हुए हमें हिचक नहीं होनी चाहिए कि हमारा समाज नारी समुदाय के साथ लिंग के आधार पर भेदभाव करता आ रहा है।

भारत एक विशाल राष्ट्र है। यहां विभिन्न जाति, धर्म सम्प्रदाय के लोग रहते हैं। यहां के लोगों के बीच सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि स्तरों पर न्यायिक विषमताएं देखने को मिलती हैं। इन विषमताओं ने भारत में अनेक चुनौतियों एवं क्षेत्रीय समस्याओं को जन्म दिया है। जातिवाद, लिंगभेद व क्षेत्रीयवाद की समस्याओं ने राष्ट्रीय एकीकरण के निर्माण में कुछ समस्याएं उत्पन्न की हैं जिसमें सांप्रदायिकता, भाषावाद आर्थिक असंतुलन आदि प्रमुख हैं।

भारत गांवों का देश है। गांवों की उन्नति और प्रगति पर ही भारत की उन्नति और प्रगति निर्भर करती है। भारत का जनतंत्र इस बुनियादी धारणा पर आधारित है कि शासन के प्रत्येक स्तर पर जनता अधिक से अधिक शासन कार्यों में हाथ बंटाए

और अपने पर राज करने की जिम्मेदारी खुद झेले। अर्थात् यहां जनता द्वारा जनता के लिए, जनता पर शासन की अवधारणा है।

टिप्पणी

5.2.1 जाति

जातिप्रथा वास्तव में अति प्राचीन संस्था है। वैदिक काल में भी वर्ग विभाजन मौजूद था। जिसे वर्ण व्यवस्था कहा जाता था। जिसमें समाज की आवश्यकता अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व, एवं शूद्र, में विभाजन किया गया यह विभाजन अलगाववादी न होकर आंगिक था। यही समाज या राज्य की तुलना एक विराट पुरुष से की गई जिसमें ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य जंघा एवं शूद्र पैर थे। पर इसका स्वरूप जातिगत न होकर गुण व कर्म पर आधारित था। रामधारी सिंह दिनकर के मत में ऐसे वर्णाश्रम के कारण नहीं बल्कि ऊंच नीच और छुआछूत का भेदभाव बढ़ाने के कारण है।

कालांतर में वर्णव्यस्था में ऐसे परिवर्तन हुए कि वर्णव्यस्था जाति प्रथा में बदल गई और एक जाति के अन्दर अनेक उपजातियां बन गईं। जातिप्रथा के कारण समाज बहुत से टुकड़ों में बंट गया। व्यक्ति–व्यक्ति के बीच भेदभाव की खाई खड़ी हो गई। पारस्परिक द्वेष और जातीय अहंकार के कारण भारतवासी कभी एक न हो सके और सामूहिक रूप से विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने में विफल रहे। राष्ट्रहित को भुला दिया गया। और जातीय गौरव को ही सब कुछ मान लिया गया। इस प्रथा का सबसे भयंकर परिणाम था छुआ–छूत जिसमें समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को आत्म सम्मान से वंचित कर दिया गया।

परिभाषा–जाति शब्द अंग्रेजी भाषा के कास्ट शब्द का हिंदी अनुवाद है। कास्ट शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के कास्ट शब्द से हुई है, जिनका अर्थ मत, विभेद तथा जाति से लगाया जाता है। जाति की परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

मजूमदार एवं मदान के अनुसार, ''जाति एक बन्द वर्ग है।''

कूले के अनुसार, "जब एक वर्ग पूर्णतः आनुवंशिकता पर आधारित होता है तो हम इसे जाति कहते हैं।"

जे. एच. हट्टन के अनुसार, "जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत एक समाज अनेक आत्मा केंद्र एवं एक–दूसरे से पूर्णतः अलग इकाइयों में विभाजित रहता है। इन इकाइयों के बीच पारस्परिक संबंध ऊंच–नीच के आधार पर सांस्कृतिक रूप से निर्धारित होते हैं।"

केतकर के मतानुसार जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी विशेषताएं हैं–(1) सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक सीमित है जिन्होंने उसी जाति में जन्म लिया है और इस प्रकार से पैदा हुए व्यक्ति ही इसमें सम्मलित होते हैं। (2) सदस्य कठोर सामाजिक नियमों द्वारा अपने समूह से बाहर विवाह करने में रोक लगा देते हैं।

उक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्म पर खान–पान, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवास जैसे अनेक प्रतिबंध लागू करती है।

जाति और राजनीति

टिप्पणी

कुछ विचारकों का मत है कि जाति तथा राजनीति दोनों एक–दूसरे से स्वतंत्र हैं। अतः जाति को राजनीतिक क्षेत्र में अपना अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो भारत में विद्यमान जाति प्रथा को बहुत महत्व देते हुए यह मानकर चलते हैं कि भारत में जाति स्वयं में एक राजनीतिक दल बना हुआ है। जयप्रकाश नारायण, माइनर वीनर मांरिस जोन्स और टिकर आदि इसी मत के समर्थक हैं। भारत के संदर्भ में जातिगत प्रभाव के कटु सत्य को स्वीकार करते हुए जे.सी. जौहरी ने तो यहां तक कहा है कि यदि मनुष्य राजनैतिक क्षेत्र में ऊपर आना चाहते हैं तो उन्हें अपने साथ अपनी जाति व धर्म को लेकर चलना चाहिए। कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो इस मत के समर्थक हैं। राजनीति में जमने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति के लिए संगठनों का सहारा लेना पड़ता है तथा जाति संरचना स्वयं में एक शक्तिशाली संगठन है। इसलिए राजनीति को जाति का सहारा लेना पड़ता है।

जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया

यह अनुमान लगाया जाता था कि स्वतंत्रता एवं आधुनिकता के बाद से जाति का प्रभाव कम होगा। परंतु प्रो. वी. के. एन. मेनन का अभिमत है कि स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक क्षेत्र में जाति का प्रभाव बढ़ा है। यद्यपि जाति का प्रभाव सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में कम हुआ जबकि राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र में बढ़ा है। ब्रिटिशकालीन भारत में शक्ति और लाभ–प्राप्ति के लिए संघर्ष पहले पहल सामाजिक अधिक्रम से कुछ प्रमुख जातियों तक ही सीमित था। राजनीतिक और प्रशासकीय सत्ता का लाभ प्रारंभ में उन्हीं व्यक्तियों के सीमित समुदाय को मिल सका जिन्होंने नये शैक्षणिक अवसरों को अपनाया और जो अध्यापन कला में कुशल तथा वाकपटु सिद्ध हुए हैं। यह व्यक्ति समाज की उच्चतर जातियों में से था। जहां कहीं भी किसी एक उच्चतर जाति अथवा उपजाति के आधार पर इस प्रकार राजनीतिक गतिविधि प्रारंभ हुई, वहीं दूसरी उच्च जातियों में ईर्ष्या और विरोध की भावनाएं बढ़ीं। ऐसा खासकर उन जातियों में हुआ जो पहले सामाजिक और आर्थिक शक्ति का स्वाद चख चुकी थी। फलस्वरूप ऐसी जातियों में भी अनेक राजनीतिक समूह उठ खड़े हुए। इस प्रकार एक प्रमुख जाति के प्रभुत्व ने शीघ्रतापूर्वक एक अन्य प्रधान जाति को राजनीतिक क्षेत्र में ला खड़ा किया जो सामाजिक क्षेत्र में अपनी अन्तर्निभरता और परिपूरकता के कार्य से ही संतुष्ट न थी। परिणाम यह हुआ कि जाति–संरचना ने जाति–संरचना की द्विपक्षीय संरचना का रूप धारण कर लिया।

इस द्वि–पक्षीय संरचना के बाद अगले चरण में शक्ति की भूख और लाभों की मांग अधिक बढ़ गयी तथा विभिन्न समर्थनों के आधार पर जातियों में अनेक प्रतियोगी–समूह विकसित हो गए। समाज की प्रमुख जातियों के भीतर ही प्रतियोगिता आरंभ हुई। इस स्थिति को डॉ. रजनी कोठारी ने 'पक्षपातवाद' अथवा जातियों के टुकड़ों या खण्ड होने की स्थिति कहा है। यह कहना चाहिए कि अब अंतर्जातीय प्रतियोगिता को जाति अंतर्गत प्रतियोगिता तथा राजनीतिकरण की प्रक्रिया का सहारा मिला है।

भारतीय समाज का संगठन चूंकि जाति के आधार पर हुआ है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि राजनेता 'जाति' को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करे। दूसरी ओर जाति 'राजनीति' का सहारा लेती है। अतः जैसा कि रजनी कोठारी ने कहा

है ''जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है।'' राजनेता जातीय समूहों को इसलिए मुंह लगाते हैं ताकि उनके समर्थन में उन्हें सत्ता तक पहुंचने में मदद मिल सके।

टिप्पणी

शुरू के चरण में राजनीतिक सत्ता की होड़ उन जातियों के बीच हुई जिन्हें हम 'संस्थापित जातियां' कहते हैं। इन जातियों के लोग आम जनता की अपेक्षा कुछ ज्यादा पढ़े–लिखे, ज्यादा प्रभावी और आर्थिक दृष्टि से ज्यादा शक्तिशाली थे। इस प्रकार बिहार में कायस्थ और ठाकुर, राजस्थान में राजपूत व जाट तथा आंध्र प्रदेश में केम्मा व रेड्डी के बीच राजनीतिक प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई तथा प्रशासनिक व राजनीतिक ढांचे पर एकमात्र ब्राह्मण छाए हुए थे। उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वहां द्रविड़ कड़गम की स्थापना की गई। जिस पर पूर्णरूपेण गैरब्राह्मणों का नियंत्रण था। उसके बाद राजनीतिक प्रक्रिया का दूसरा चरण शुरू होता है। जब एक ही जाति के विभिन्न नेताओं के बीच प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई तो हर बड़े नेता ने अपनी बिरादरी से बाहर के लोगों का सहयोग पाने की कोशिश की। 1980 का दशक देश में दलित चेतना में एवं अन्य पिछड़े वर्ग के लोगों द्वारा राजनीति शक्ति प्राप्त करने का आंदोलन युग था। मंडल–कमीशन के बाद पिछड़ी जाति एवं दलित जातियों का राजनीतिक प्रभाव बढ़ा।

भारत की राजनीतिक व्यवस्था पर जातिवाद का प्रभाव

जाति अपने जिस रूप में अतीत में थी उसका स्वरूप बदल गया है। पहले इसका प्रभाव सामाजिक संदर्भों में था परंतु अब इसका राजनीतिक महत्व हो गया है। जातिवाद ने हमारी राजनीतिक व्यवस्था को गंभीरता से प्रभावित किया है–

1. चुनावों में विभिन्न दल उम्मीदवारों का चयन जातीय आधार पर करते हैं। चुनाव क्षेत्र में प्रायः जिस जाति का बहुमत होता है उसी जाति के उम्मीदवार खड़े किए जाते हैं। स्वतंत्र भारत में जाति प्रथा ने एक नयी दृढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले निहित स्वार्थ संस्थापित या उच्च जातियों के थे क्योंकि इसी के कारण उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे, पर अब पिछड़ी जातियों और दलितों में भी एक ऐसे प्रबल वर्ग का उदय हो चुका है जो जातिय चेतना को जिंदा रखकर आगे बढ़ाना चाहता है, जबकि दावा शोषण के खिलाफ लड़ने का किया जाता है।
2. दुर्बल वर्गों के शैक्षिक आर्थिक हितों की वृद्धि के लिए विधानमंडल, नौकरियों और शिक्षा सीमा को और आगे बढ़ाने की अनेक कोशिश राज्य सरकार द्वारा की गई है परंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि आरक्षण की सीमाएं हैं। गरीबी दूर करने के लिए शासन को कोई ठोस कार्यक्रम अपनाना पड़ेगा। नयी नौकरियां सूचित करने से समस्या का समाधान होगा, विधानमंडल नौकरियों के वितरण या 'आरक्षण की बैसाखी' से नहीं ।
3. जातीय विद्वेष के कारण राजनीति में उग्रता व हिंसा की घुसपैठ हो गई। असामाजिक तत्वों की मदद से राजनीतिक नेता, विशेषकर ग्रामीण इलाकों में अपनी–अपनी शक्ति दिखाना चाहते हैं। बिहार में जातीय आधार पर राजनीतिक दलों ने अपनी निजी सेनाएं तैयार कर ली हैं और वहां जब–तब बाह्य जातीय विद्वेष की हिंसा भड़क उठती है। यह संघर्ष कहीं पिछड़ी जातियों और दलितों के बीच होता रहा है तो कहीं सवर्णों और हरिजनों की बीच। इसके मूल में

टिप्पणी

सामाजिक–आर्थिक कारण हो सकते हैं, लेकिन समस्या के समाधान की पहल करने वाले अधिकांश राजनीतिज्ञ न्याय के नाम पर विद्वेष बांटते फिर रहे हैं।

4. चुनाव गठबंधों में शोषित या पिछड़ी जातियों को भी शामिल किया जाता है। इसका एक लाभ यह है कि इन बिरादरियों में स्वाभिमान जागा और वे अपने फायदे के लिए राजनीतिक सौदेबाजी में सफल रहे। अब इन जातियों के नेता उभर कर सामने आने लगे हैं। रजनी कोठारी ने इसे एक शुभ लक्षण माना है। उनके मतानुसार जाति व्यवस्था जो कभी परंपरा का पोषण करती है, आज 'परिवर्तन का अग्रदूत' बन गई है। पर कठिनाई यह है कि परिवर्तन के ये अग्रदूत दलितों के विकास का कोई ''पूरा खाका'' तैयार नहीं कर पाए हैं। जाति नेता जातिवाद न खत्म करके जातीय चेतना का राजनीतिक इस्तेमाल करना चाहते हैं इससे जातियों का राजनीतिक महत्व अवश्य बढ़ा परंतु अखिल भारतीय या राष्ट्रीय भावनाओं को ठेस पहुंचती है।
5. जाति का इतना प्रभाव अधिक है कि आज केंद्रीय मंत्रिमंडल से लेकर राज्यों और ग्राम पंचायतों तक में प्रत्येक प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व देना अनिवार्य हो गया है।
6. मेयर का मत था कि ''जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत्त है।'' भारत में जातिगत दबाव समूह अपने स्वार्थों तथा हितों की पूर्ति के लिए नीति–निर्माताओं को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, तमिलनाडु में नाडर जाति संघ, गुजरात में क्षत्रिय महासंघ, बिहार में कायस्थ सभा आदि दबाव समूह के रूप में कार्य करते हुए राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं।
7. माइकेल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। उदाहरण के लिए, बिहार की राजनीति में राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजाति प्रमुख प्रतिस्पर्धा जातियां हैं। उसी प्रकार केरल में साम्यवादियों की सफलता के पीछे 'इजवाहा' जाति का संगठित होना है। आंध्र प्रदेश में काम्मा और रेड्डी जातियों का संघर्ष प्रभावी रहा है। महाराष्ट्र में मराठों, ब्राह्मणों और महारों में संघर्ष रहा है। इसी प्रकार गुजरात में पाटीदार और क्षत्रिय प्रतिस्पर्धा में रहे हैं। केरल में इसाई और मुसलमान सक्रिय रहे हैं। राजस्थान की राजनीति जाट –राजपूतों की राजनीति रही है। जातियों के प्रभाव के कारण ही टिंकर ने राज्यों की राजनीति को 'जातियों की राजनीति' कहा है।

इस प्रकार देखा जाए तो आजादी की स्वर्ण जयंती के पश्चात भी अभी तक भारतीय राजनीति जातिगत प्रभाव से मुक्त नहीं हो पायी है। यह एक अपवाद की स्थिति रही है कि 1967 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के विपक्ष में रहे तो 1971 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के पक्ष में 1977 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के विपक्ष में तथा जनता पार्टी के पक्ष में रहे और 1980 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के पक्ष में रहे। इन चुनावों में जातिगत प्रभाव कम दिखाई दिया परंतु ये चुनावी वर्ष असामान्य चुनावी वर्ष रहे। सामान्य रूप से भारत में पंचायत, विधानमंडल, संसद सभी चुनावों में जातिगत समीकरण अहम भूमिका निभाता है।

5.2.2 धर्म

टिप्पणी

धर्म आदिकाल से मानव चेतना को प्रभावित करता रहा है। राज्य एवं समाज के संगठन में धर्म की महान भूमिका थी क्योंकि धर्म से एकीकरण का भाव पैदा हुआ था। परंतु कालांतर में जब विभिन्न धर्मों का उदय हो गया तो समाज विभिन्न धर्मों एवं समुदायों में विभाजित हो गया और तब एकीकरण के स्थान पर धर्म संघर्ष का पर्याय बन गया। इससे न केवल सामाजिक बल्कि राजनीतिक क्षेत्र भी प्रभावित हुआ।

धर्म को हर क्षेत्र में नैतिकता और एकता को प्रोत्साहन देना चाहिए लेकिन भारत में धर्मांध भावनाओं ने देश की राजनीतिक और सामाजिक एकता को आघात पहुंचाया है तथा अनैतिकता के प्रसार में योगदान दिया है। जो धर्म संयोजक शक्ति का काम कर सकता है वही आज विभेदक शक्ति के रूप में अधिक व्याप्त है। जिस सांप्रदायिकता एवं धर्म के संकीर्ण और अनुदार रूप ने भारत का विभाजन करवाया, वही आज भी सिर उठाए हैं। भारत में धर्म के नाम पर एक भारत का विभाजन दूसरे समुदाय से एक वर्ग का दूसरे वर्ग से और एक जाति का दूसरी जाति से मन मुटाव चलता रहता है जिससे विभिन्न राजनीतिक समस्याएं उठती रहती हैं। इतिहास बतलाता है कि भारत हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक मतभेदों और तनावों से घिरा हुआ है। एक घरेलू मामले के रूप में इसका प्रारंभ 1905 में बंगाल के विभाजन से हुआ और अन्त में इसने इतना विस्तार कर लिया कि धर्म के आधार पर पाकिस्तान का निर्माण हो गया। वर्षों से मुस्लिम लीग ने खुलकर जिस दो राष्ट्र के सिद्वांत का प्रचार किया था वह भारत विभाजन की जहरीली बेला के रूप में सामने आया। दो राष्ट्र सिद्धांत के मानने वालों ने हमारी सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय एकता को खंडित किया और भारत के दो टुकड़े हो गए।

भारत में धर्म विभिन्न रूपों में राजनीति का आधार बना हुआ है। यदि धर्म केवल व्यक्तिगत विषय हो और केवल मानसिक शांति के लिए धर्म का पालन किया जाए तो अच्छी बात है, लेकिल धर्म आपस में फूट पैदा करे और विभिन्न धर्मों के अनुयायी आपस में एक–दूसरे से बैर रखें तथा एक दूसरे पर अपना राजनीतिक प्रभाव जमाना चाहें राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्र में धर्म के कुप्रभाव देखने–सुनने में आते हैं। बहुधा यह शिकायत की जाती है कि हिंदू अधिकारी हिंदू धर्मावलंबियों के साथ पक्षपात करते हैं तो मुस्लिम अधिकारी मुस्लिम धर्मावलंबियों के साथ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत को एक धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित कर दिया गया, लेकिन संविधान की इस घोषणा का तब तक कोई खास मतलब नहीं निकल सकता जब तक लोगों में भी धर्म निरपेक्षता की भावना का प्रचार न हो और प्रशासन सम्पूर्णतः धर्म के प्रभाव से मुक्त हो। कोई भी कानून, संविधान या विधेयक निरर्थक है, यदि लोग उसका पालन सही ढंग से नहीं करें।

धर्म निरपेक्षता का तात्पर्य

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार ''धर्मनिरपेक्ष'' व्यक्ति वह है जो ''केवल दुनियावी या लौकिक मामलों से संबंध रखता है, धार्मिक मामलों से नहीं'' साम्यवादी देशों में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ ''अधार्मिक या धर्म–विरोधी प्रवृत्ति'' से लिया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान ने धर्म और राज्य को अलग–अलग रखने की नीति अपनाई है। भारत में धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य है कि राज्य न तो अधार्मिक है, और न ही धर्म विरोधी। राज्य का कोई विशेष धर्म नहीं है तथा राज्य सभी धर्मों का समान आदर

करता है। एक शब्द में भारतीय संदर्भों में धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य सर्व–धर्म सम्भाव से है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से धर्मनिरपेक्ष शब्द को समाहित किया गया।

टिप्पणी

परंतु संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में 'धर्मनिरपेक्षता की भावना' को सम्मिलित किया गया है, जो निम्न हैं–

प्रथम–भारतीय राज्यव्यवस्था धर्मतंत्रवादी नहीं है। धर्मतंत्रवादी राज्य एक धर्म विशेष से संबद्ध होता है और इसके कायदे कानून धर्मपुस्तकों के आधार पर निर्मित होते हैं। पाकिस्तान, ईरान या सऊदी अरब को इसी अर्थ में एक मजहबी देश कहा जाता है। इसके ठीक विपरीत भारतीय सरकार ने देश में धर्मनिरपेक्ष राज्य की संस्थापना की है।

द्वितीय–भारत में धर्म एक व्यक्तिगत मामला माना जाता है। व्यक्ति के क्या धार्मिक विचार या विश्वास हैं, इस बारे में राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं करता। भारत के विभाजन की सबसे बड़ी सीख यही है कि धर्म और राजनीति को एक दूसरे से अलग रखना चाहिए।

तृतीय–भारत के सभी नागरिकों को विधि के समक्ष समता और कानूनों के अंतर्गत समान सुरक्षा प्रदान की गई है। संविधान का अनुच्छेद 15 यह घोषणा करता है कि राज्य केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग व जन्म स्थान या इनमें से किसी एक आधार पर नागरिकों के साथ भेदभाव नहीं करेगा। इन आधारों पर कोई नागरिक भोजनालयों, सड़कों, कुओं और आम जगहों का इस्तेमाल करने से वंचित नहीं किया जा सकेगा।

चतुर्थ–संविधान के चार अनुच्छेद (25,26,27 व 28) धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकारों से संबंध रखते हैं। ये अनुच्छेद यह घोषणा करते हैं कि सब लोग अपने धर्म को मानने, उस पर पर अमल करने और उसका प्रचार करने का हक रखते हैं। किसी व्यक्ति को कोई ऐसा कर देने के लिए मजबूर नहीं किया जाएगा जिससे प्राप्त आय किसी धर्म निरपेक्ष राज्य की आधारशिला है।

धर्म और राजनीति में अन्तःक्रिया

धर्म तथा धार्मिक संकीर्णता से उपजी सांप्रदायिकता ने भारतीय राजनीति के अनेक स्तरों को प्रभावित किया है। धर्म गुरुओं या धार्मिक नेताओं ने अपना सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व बढ़ाने के लिए धर्म का आश्रय लिया जैसे जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी एवं अयोध्या विवाद से विभित्र महन्तों ने धर्म का आश्रय लेकर अपनी राजनीतिक पहचान बनाई। वहीं दूसरी और राजनीति के धर्म में हस्तक्षेप से धर्म ने अपने आध्यात्मिक स्वरूप को खो दिया और राजनेताओं ने सतही धार्मिक भावनाओं को भड़काकर अपना वोट बैंक सुनिश्चित किया।

धर्म और राजनीति निम्न प्रकार से एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं–

(1) **धर्म बनाम राजनीतिक दल**–भारत में धर्म इतना प्रभावशाली तत्व बना हुआ है कि कतिपय राजनीतिक दलों का निर्माण भी वस्तुतः विशुद्ध धर्म के आधार पर हुआ है, यद्यपि प्रकटतः वे दल इससे इंकार करते हैं। भारतीय जनसंघ पर प्रायः आरोप लगाया जाता है कि वह मुख्य रूप से अपनी सांस्कृतिक इकाई के राजनीतिक हितों के लिए ही प्रयत्नशील रहता है। किंतु इसके संस्थापक डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी का मत था कि जनसंघ एक सांप्रदायिक अथवा धर्म विशेष से प्रभावित दल नहीं है। पिछले दिनों में इनके नवीन संस्करण भारतीय

जनता पार्टी ने राम मंदिर मुद्दे पर अपना प्रभाव बढ़ाकर केंद्र की सत्ता प्राप्त की है। मुस्लिम लीग एवं पंजाब का अकाली दल भी धार्मिक राजनीतिक दलों का उदाहरण है।

टिप्पणी

(2) **धर्म बनाम राजनीतिक संघर्ष**–धर्म के आधार पर भारत में समय–समय पर राजनीतिक संघर्ष और विवाद उत्पन्न होते रहे हैं। 1956 से 1960 के मध्य बंबई नगर पर नियंत्रण के लिए मराठी गुजराती संघर्ष का जो दौर चला वह धार्मिक उग्रवादी राजनीति का ज्वलंत प्रमाण है। भारत के एक सर्वाधिक शिक्षित राज्य केरल पर राजनीतिक प्रभुसत्ता के लिए हिंदुओं, मुसलमानों और इसाइयों में निरंतर खींचा–तानी चलती रहती है। केरल की 60 प्रतिशत से भी अधिक जनता हिंदू है, 20 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या ईसाई है और मुसलमान लगभग 17 प्रतिशत है। केरल में विधानसभा में कामचलाऊ बहुमत प्राप्त करने के लिए किसी भी दल को इन विभिन्न धर्मावलंबियों को अपने पक्ष में करना आवश्यक होता है। धर्म और शिक्षा के प्रश्न केरल में इतने प्रबल हैं कि इनके आधार पर सरकारों का उत्थान और पतन हो जाना सरल है। वर्तमान समय में गुजरात का गोधरा काण्ड एवं उसके बाद हुई व्यापक सांप्रदायिक हिंसा का धार्मिक आधार हिंदू और मुसलमानों के बीच राजनीतिक एवं हिंसक संघर्ष की जीवंत गाथा है।

(3) धर्म और मत व्यवहार–भारतवर्ष में चुनाव के समय जनता का मत व्यवहार धार्मिक भावनाओं से प्रभावित होता है। वोट प्राप्त करने के लिए राजनेता विभिन्न धर्मों के इमामों, पादरियों, साधुओं तथा मठाधीशों से सांठ–गांठ करते हैं। राजनीतिक दलों द्वारा शाही इमामों एवं शंकराचार्यों से अपने पक्ष में वोट देने की अपील करवाना इस बात का प्रमाण है कि भारतीय मतदाता का व्यवहार आज भी धार्मिक रूझानों से प्रभावित होता है।

(4) धर्म एवं धार्मिक हित समूह–भारतीय राजनीति में धार्मिक हित या दबाव समूह की विशेष भूमिका है। ये गुट अपनी शक्ति एवं कार्य प्रणाली के शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए हिंदूवादी दबाव समूहों में बजरंग दल, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा मुस्लिम संगठनों में जमायते–इस्लामी –अमारते–शरिया तथा बाबरी एक्शन कमेटी आदि हैं। बाबरी मस्जिद विवाद के संदर्भ में बजरंग दल, विश्व हिंदू परिषद् तथा एक्शन कमेटी ने अपनी–अपनी तरह से सरकार की नीतियों को प्रभावित किया है।

(5) धर्म एवं अन्य राजनीतिक प्रक्रिया–भारत में धर्म ने विभिन्न राजनीतिक प्रक्रियाओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। जैसे पंजाब में धर्म के आधार पर अलग राज्य 'खालिस्तान' की मांग की गयी। केंद्र एवं राज्य में मंत्रिमंडल बनाते समय विभिन्न धार्मिक समुदायों के प्रतिनिधित्व का ध्यान रखा जाता है। विभिन्न राज्यों की राजनीति में धर्म विशेष विशिष्ट भूमिका अदा करता है। केरल राज्य में मुस्लिम संप्रदाय एवं पंजाब की राजनीति में सिक्ख धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है।

टिप्पणी

स्पष्ट है कि भारतीय राजनीति में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से धर्म गलत भूमिका अदा कर रहा है। यदि भारत में ससंदीय लोकतंत्र को सफल होना है और राजनीतिक एकता को स्थायित्व देना है तो धर्मांधता का वातावरण मिटाना होगा। सरकारी तथा अन्य हैसियत से हम किसी भी प्रकार ऐसे राष्ट्र की कल्पना नहीं कर सकते जिसे सांप्रदायिक या धार्मिक राष्ट्र कहा जाए। हम यदि किसी आदर्श पर चल सकते हैं। तो वह धर्म निरपेक्ष, असांप्रदायिक लोकतांत्रिक राष्ट्र का आदर्श है, जिसमें हर आदमी चाहे वह किसी भी धर्म का मानने वाला हो, बराबर अधिकार और सुविधाओं का हकदार है। वास्तव में भारत राष्ट्र का कल्याण इसी बात में है कि राजनीति और नैतिकता में मेल रखा जाए। राजनीति को नैतिकता के स्तर पर कायम रखा जाए। राजनीति और कट्टरता या धर्मांधता के मेल का परिणाम तो सांप्रदायिक राजनीति होगी जो एक अत्यंत भयानक संयोग है और जिसका परिणाम हम भारत विभाजन के रूप में भोग चुके हैं।

5.2.3 क्षेत्रवाद

प्रादेशिकता या क्षेत्रीयतावाद वास्ताविक में अर्थों में विकेंद्रीकरण की भावनाओं का प्रकटीकरण है परंतु निहित स्वार्थों से साथ जुड़कर यह अलगाववाद एवं विघटनकारी शक्तियों का पर्याय बन जाता है। क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य देश के उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिए जागरूक है तथा अपने क्षेत्र विशेष के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्ति में वृद्धि चाहते हैं। इस दृष्टि के तहत उस क्षेत्र के लोग अपने क्षेत्र के प्रति विशेष भक्ति भाव रखते हैं। इस दृष्टि से क्षेत्रीयता राष्ट्रीयता की वृहद भावना का विलोम है और उसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति करना है। भारतीय राजनीति के संदर्भ में यह एक ऐसी धारण है जो भाषा, क्षेत्र, धर्म, ऐतिहासिक विरासत सांस्कृतिक अस्मिता एवं आर्थिक मांगों पर आधारित है। यह संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों के साथ मिलकर विघटनकारी प्रवृत्तियों को जन्म देती है और सामान्य से लेकर उग्र आंदोलनों के रूप में प्रकट होती है।

क्षेत्रीयतावाद एवं भारतीय राजनीति

भारतीय राजनीति का एक अन्य आधार प्रांतीयतावाद व क्षेत्रवाद है। आज भी भारत में अपने को भारतीय नागरिक न समझकर, बंगाली, बिहारी, गुजराती, मद्रासी, राजस्थानी, पंजाबी आदि समझने वाले लोग विद्यमान हैं। यद्यपि संविधान में एक नागरिकता की घोषणा की गई है, तथापि प्रांतीयता की भावना ने लोगों पर इस तरह कब्जा जमा रखा है कि वे प्रांत के संकुचित हितों के लिए राष्ट्रीय भावना को पीछे धकेल देते हैं। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र और गुजरात के विभाजन के बाद भी समस्याएं बनीं हुई हैं। पंजाब, हरियाणा, एवं चंडीगढ़ का मसला अभी उलझा पड़ा है। कर्नाटक, तमिलनाडु एवं केरल के मध्य अब भी कावेरी नदी का विवाद लम्बित पड़ा है। 1966 में पंजाब राज्य का पुनर्गठन किया गया।

पहाड़ी क्षेत्र भी क्षेत्रीयता के अखाड़े हैं। खासी जयन्तिया, गारो, मिकिर, उत्तर कछार, मिजो पहाड़ियों आदि में गैर–असमियां कबीले रहते हैं। पूर्वी पहाड़ी क्षेत्र में क्षेत्रवाद की भावनाएं उग्र हिंसक रूप ले चुकी हैं। भारतीय संविधान के अनुसार इन क्षत्रों का प्रशासन जिला परिषदों के अधीन होता है जिन्हें अधिकार दिया गया है कि

टिप्पणी

वे खेती, स्थानीय प्रशासन और सामाजिक रीति–रिवाजों के बारे में कानून बनाए। इसके बाद भी पहाड़ी क्षेत्रों की मांग शांत नहीं हुई। अप्रैल 1965 में भारत सरकार द्वारा पाटस्कर अयोग नियुक्त किया गया। अयोग ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की कि असम पहाड़ी क्षेत्रों को विधान संबंधी पूर्ण स्वतंत्रता दी जाए और इसके लिए राज्य विधान सभा में पहाड़ी क्षेत्र की एक अलग समिति बनाई जाए। परंतु आयोग की इन सिफारिशों को मई, 1966 में पहाड़ी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों द्वारा ठुकरा दिया गया। सन् 1968 में असम के अंतर्गत 'मेघालय' स्वायत्त शासी राज्य बना। पूर्वी क्षेत्र के संघीय प्रदेश मणिपुर एवं त्रिपुरा को 1972 में पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया। इस प्रकार उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, और बिहार का पुनर्गठन करके सन् 1998 में क्रमशः उत्तरांचल, छत्तीसगढ़ एवं झारखंड राज्य बनाए गए।

छोटे–छोटे राज्यों के गठन की राजनीति

क्षेत्रीय भावनाओं का सबसे चिंताप्रद विस्फोट छोटे–छोटे राज्यों का निर्माण है। अपने–अपने क्षेत्र को पृथक रूप प्रदान कराने की मांग को लेकर उठाने वाली समस्याएं भारतीय राजनीति का अंग बन चुकी हैं। अधिकांश राजनीतिक नेताओं और जनसाधारण के बहुमत की धारणा यही है कि क्षेत्रीय भावनाओं को संतुष्ट करने के लिए, अथवा अन्य किसी राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए छोटे–छोटे राज्यों के निर्माण से विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा जिससे देश को भारी क्षति होगी। लेकिन राजनीतिक क्षेत्र में ऐसा शक्तिशाली वर्ग भी है जो केंद्र को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाने के नाम पर छोटे राज्यों का निर्माण किया जाना उपयुक्त समझता है।

छोटे राज्यों के निर्माण के लिए जो भी आधार प्रस्तुत किए जाएं, वे मन में बैठने वाले नहीं है। देश में राज्यों के निर्माण की मांग मूलभूत रूप से क्षेत्रीय भावनाओं और संकुचित स्वार्थों के आधार पर की जा रही है। इस मांग के पीछे राष्ट्रीय हितों की पूर्ण उपेक्षा छिपी है। यदि राज्यों के निर्माण की प्रवृति ने बल पकड़ा तो राष्ट्रीय और भावात्मक एकता स्थापित नहीं हो सकेगी, देश राज्यों के आपसी विवादों का और भी अधिक बड़ा अखाड़ा बन जाएगा। केंद्र के लिए अनेक नये सिर–दर्द पैदा हो जाएंगे तथा देश की राजनीति अधिक विघटनकारी मोड़ ले लेगी। एक–दो या तीन छोटे राज्यों का निर्माण भी अपर्याप्त होगा। देश राज्यों के निर्माण की बात मान ली गई तो संभवतः 100 राज्यों का निर्माण भी अपर्याप्त होगा। देश के नेताओं और प्रशासकों को इन तथ्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि विघटनकारी और पृथकतावादी शक्तियां भारत को खंड–खंड करने पर तुली हुई हैं। सन् 1998 में छत्तीसगढ़, झारखंड एवं उत्तरांचल का गठन हुआ है इससे इन राज्यों की आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। 2014 से यह भारत का 29वां राज्य है। तेलंगाना पहले भारत के राज्य आन्ध्र प्रदेश का अभिन्न हिस्सा था। तेलुगूभाषियों की आंदोलन कारिता की निरंतरता के कारण पिछले कुछ वर्षों से गुजरात की डांग और डबला जैसी जातियां अपने लिए अलग प्रांत की मांग कर रही है। इसी प्रकार अन्य क्षेत्र से इस प्रकार की मांग उठती है, जो समीचीन नहीं है।

इस प्रकार के पृथक राज्यों के निर्माण की मांग के पीछे कोई ठोस तर्क नहीं है। क्षेत्रीय भावना ही प्रमुख है। कुछ क्षेत्र इसलिए पृथक राज्य चाहते हैं ताकि आर्थिक दृष्टि से वे अधिक लाभ उठा सकें। कुछ पिछड़ी जातियां इसलिए अलग प्रांत चाहती

टिप्पणी

हैं क्योंकि अब तक वे आर्थिक विकास के लाभों से वंचित रही हैं। इनका विश्वास है कि इनके अलग राज्यों में सम्मिलित होने पर वे समुचित आर्थिक प्रगति कर सकेंगे। आर्थिक विकास के आधार पर इस तरह अलग राज्य निर्माण की मांग अनुचित है क्योंकि संपूर्ण राज्य के आर्थिक विकास के साथ प्रांत अथवा राज्य विशेष का प्रश्न भी जुड़ा है लेकिन यह स्थिति तो पृथक राज्य का निर्माण कर देने के बाद भी बनी रहेगी। स्पष्ट है कि यह कसौटी अव्यावहारिक है। यह तो राजनीतिक कुचेष्टाओं पर आर्थिक आवश्यकताओं का मुल्लम्मा चढ़ाने की नीति है जिससे क्षेत्रीयतावाद तथा ईर्ष्या–द्वेष को निरंतर प्रोत्साहन मिलेगा।

छोटे राज्यों के निर्माण के पक्ष में एक तर्क दिया जाता है कि भाषाई आधार पर निर्मित बड़े राज्यों, जो आर्थिक दृष्टि से संपन्न है। स्वतंत्र नागरिकता की घोषणा करके पृथक राष्ट्र होने की मांग कर सकते हैं लेकिन इस प्रकार का तर्क जनता को भुलावे में डालने के लिए ही दिया जाता है।

प्रशासनिक सुधार और जनसंपर्क की अधिकता के आधार पर छोटे राज्यों के निर्माण की मांग व्यर्थ है। छोटे राज्यों में तो प्रशासनिक भ्रष्टाचार, स्थानीयतावाद, भाई–भतीजा वाद, और गुटबंदी का प्रभाव उल्टा व्यापक हो सकता है। रही जनता से अधिक संपर्क कर पाने की बात, सौ मंत्रियों की संख्या बढ़ाकर जनता के नजदीक नहीं पहुंचा जाता है, कोई भी प्रशासन जनता के दिल में घर तभी कर सकता है जब वह जन कल्याण की दिशा में अधिक उन्मुख हो।

स्पष्ट है कि किसी भी तर्क के आधार पर अलग–अलग राज्यों के निर्माण की बात गले नहीं उतरती है। यदि हम देश की एकता को सही ढंग से बनाए रखना चाहते हैं तो क्षेत्रीयतावाद से बचना होगा। जनता की मांग के आधार पर राज्यों का निर्माण करते चले जाने के फलस्वरूप एक ऐसी प्रक्रिया शुरू होगी जो नए–नए प्रांतों अथवा राज्यों को जन्म देती चली जाएगी। इससे देश कल्याण नहीं होगा।

क्षेत्रीय असंतुलन

संसार के अधिकतम जनसंख्या वाले देशों में भारत का दूसरा स्थान है। क्षेत्रफल की दृष्टि से उसका विश्व में सातवां नंबर है। 1981 में देश की आबादी 68 करोड़ थी, जो 1991 में 84 करोड़ 63 लाख हो गई। इस तरह एक दशक में भारत की आबादी में 23.5 प्रतिशत वृद्धि हुई। जनसंख्या का औसत घनत्व अब एक वर्ग किलोमीटर में 267 व्यक्ति हो गया है। सबसे घनी आबादी वाला राज्य पश्चिम बंगाल है, जहां वर्ग किलोमीटर में 766 व्यक्ति रहते हैं। केरल का स्थान दूसरा है (प्रति वर्ग किलोमीटर 747 व्यक्ति) संघ शासित क्षेत्रों में दिल्ली सर्वाधिक घनत्व वाला क्षेत्र है।

'संतुलित विकास' के अभाव को असंतुलन कहा जाता है। असंतुलन को इस प्रकार परिभाषित किया जाता हैः ''लोगों की आय में विषमता, शहर तथा गांवों में असंतुलन, तथा देश के विभिन्न भागों में असंतुलन।'' संतुलित विकास का यह अर्थ नहीं कि सभी प्रदेशों में रहने वाले लोगों का एक जैसा जीवन स्तर हो। अलग–अलग प्रदेशों के संसाधनो में भिन्नता के कारण विषमताएं तो रहेंगी ही पर यह जरूरी है कि हर क्षेत्र के साधनों का ज्यादा से ज्यादा विकास किया जाए जिससे कि उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों का जीवन स्तर ऊंचा उठे।

क्षेत्रीय विषमताओं को मापने के प्रमुख मापदंड

टिप्पणी

यह एक तथ्य है कि भारत में क्षेत्रीय विषमताएं मौजूद हैं। क्षेत्रीय विषमताओं को मापने के प्रमुख मापदंड निम्न हैं–

1. **गरीबी और बेरोजगारी**–बेरोजगारी की सही ढंग से माप नहीं की जा सकती है, क्योंकि ये आंकड़े रोजगार कार्यालयों द्वारा तैयार किए जाते हैं जिनमें आमतौर पर शहरी लोग ही अपने नाम दर्ज कराते हैं, देहात वाले व्यक्ति नहीं। जहां तक किन्हीं खास राज्यों या क्षेत्रों का प्रश्न है, एक सर्वेक्षण के अनुसार देश की सर्वाधिक गरीब जनसंख्या उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, उडीसा, मध्य प्रदेश और तमिलनाडु में केंद्रीभूत है।
2. **कृषि और उद्योग**–कृषि संबंधी हर पहलू में भारी विषमताएं देखने को मिलती हैं। सिंचाई के तरीकों, जोत के आकार, प्रति हेक्टेयर उपज और फसलों की ब्रिकी आदि अनेक मामलों में काफी भिन्नताएं हैं। ये विषमताएं प्राकृतिक और आर्थिक कारणों से ही नहीं, राजनीतिक और वैधानिक तत्वों से भी संबंधित हैं। पंजाब और हरियाणा में हरित क्रांति का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है, जबकि उड़ीसा, महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश पिछड़ी हुई दशा में है।

   उद्योगों का प्रादेशिक वितरण भी बहुत दोषयुक्त रहा है। अधिकांश उद्योग महाराष्ट्र गुजरात और पश्चिम बंगाल के कुछ विशेष क्षेत्रों में ही केंद्रित है।
3. **आधारिक संरचना**–'आधारिक संरचना' का अभिप्राय उन सेवाओं से है जो एक आधुनिक अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए अनिवार्य मानी जाती हैं, जैसे यातायात और संचार के साधन (सडकें, रेले, आदि) विद्युत–संस्थान, नहरें, बांध, जलाशय तथा बैंक व अन्य वित्तीय संस्थाएं जो ऋण और पूंजी उपलब्ध कराती हैं। भारत के ग्रामीण इलाकों और पहाड़ी प्रदेशों में 'आधारिक संरचना' का बड़ा अभाव है।
4. **पूंजी–निवेश**–भारत के कई क्षेत्र इसलिए अविकसित हैं क्योंकि वहां पूंजी का पर्याप्त निवेश नहीं किया गया है। खनिज संपदा और प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद वहां पूंजी निवेश पर यथोचित ध्यान नहीं दिया गया। बिहार और मध्य प्रदेश में यदि सचमुच पूंजी लगाई जाए तो इन प्रदेशों की ठोस व स्थाई प्रगति हो सकेगी और आर्थिक विषमताएं भी घटेंगी।
5. **सामाजिक सेवा**– क्षेत्रीय असंतुलन का विवेचन करते समय हमें शिक्षा, प्रशिक्षण, चिकित्सा व अन्य आवश्यक सुविधाओं पर भी ध्यान देना होगा। इस दृष्टि से केरल और दिल्ली जैसे प्रदेश अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छी स्थिति में हैं, जबकि बिहार, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में ये सेवाएं कम मात्रा में उपलब्ध हैं।

अधिक असंतुलन वाले क्षेत्र

ज्यादा अविकसित और लंबे समय से उपेक्षित पड़े रहे क्षेत्र निम्नांकित हैं–

1. **उत्तर–पूर्वी क्षेत्र**–असम, त्रिपुरा और मणिपुर का क्षेत्र सामरिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है चूंकि वह चीन, बंग्लादेश और बर्मा की सीमा से लगा हुआ है। यहां चाय, तेल तथा खनिज बड़ी मात्रा में हैं, पर इन उद्योगों के विकास से

टिप्पणी

स्थानीय जनता को पूरा लाभ नहीं पहुंचा। असम में ब्रिटिश पूंजी के साथ ही दूसरे राज्यों के श्रमिक, साहूकार और व्यापारी पहुंचे। हिसाब–किताब की देखभाल के लिए अंग्रेजी पढ़े–लिखे बंगाली बाबुओ का प्रवेश असम में हुआ। इससे असमिया समाज में धीरे–धीरे कुंठा की स्थिति उत्पन्न हो गई। असम, मणिपुर और त्रिपुरा में शिक्षा के प्रसार के साथ–साथ शिक्षित बेरोजगारी बढ़ रही है।

2. **ग्रामीण क्षेत्र**–भारत में हर प्रकार की जलवायु है, इसी तरह मिट्टियां भी तरह–तरह की हैं। आज भी देश के सफल घरेलू उत्पाद का करीब 32 प्रतिशत खेतीबाड़ी से जुड़ी 70 प्रतिशत आबादी के श्रम से पैदा होता है। यदि गांवों में पीने का पानी, बिजली, शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य सेवाएं हों तो गांवो से शहरों की ओर पलायन का सिलसिला थमेगा। ग्रामीण क्षेत्रों में सर्वांगीण विकास की तस्वीर घोर निराशाजनक है। खेतिहर मजदूरों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। देश के हर कोने में बहुत बड़ी संख्या में बंधुआ मजदूर मिल जाएंगे, जिनका 'श्रम' किसी न किसी जमींदार या साहूकार के पास गिरवी है। कुल खेतिहार बंधुआ मजदूरों में से 60 प्रतिशत अनुसूचित जातियों तथा 17 प्रतिशत आदिवासी परिवारों के हैं।

3. **आदिवासी और पहाड़ी क्षेत्र**–आदिवासी और पहाड़ी क्षेत्र आज भी अन्य प्रदेशों की अपेक्षा बहुत पिछड़े हुए हैं। बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा के आदिवासी क्षेत्रों के लिए 1971–72 में 'आरंभिक परियोजना' नामक एक विशेष कार्यक्रम शुरू किया गया। आठवीं योजना का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य यह था कि –गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे जितने भी अनुसूचित जातियों के व्यक्ति हैं, उनमें से ज्यादा से ज्यादा लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सके।'' परंतु आदिवासी क्षेत्र आज भी शोषण का शिकार है। वनों पर आदिवासियों के परंपरागत अधिकार समाप्त हो गए हैं और उनकी अधिकांश भूमि महाजनों के चंगुल में है। जंगल और आदिवासियों के बीच आदि काल से ही एक अटूट संबंध है, क्योंकि जंगलों से वे कंदमूल फल–फूल, शहद, जड़ीबूटियों और पशुओं के लिए चारा प्राप्त करते हैं परंतु आज वही आदमी जंगलों में घूमता है तो उसे सजा दी जाती है।

पर्वतीय क्षेत्र में विकास योजना की आवश्यकता पर बार–बार बल दिया गया है। वनों की कटाई तथा भूरक्षण पर्वतीय क्षेत्र की मुख्य समस्या है। इसके साथ ही बांधों और मध्यम उद्योगों के अनियंत्रित विकास के कारण पर्वतीय प्रदेशों में पर्यावरण संबंधी समस्याएं पैदा हुई है। असम, जम्मू व कश्मीर, नागालैण्ड, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा ये ऐसे राज्य हैं जिनमें ये पर्वत तथा समीपवर्ती शहर स्थित हैं। पेयजल, विद्युत तथा आवास जैसी सेवाओं की दृष्टि से पर्वतीय क्षेत्रों का विकास नितांत अंसतोषजनक है।

क्षेत्रीय असंतुलन के कारण

क्षेत्रीय असमानताओं के लिए काफी सीमा तक ब्रिटिश शासनकाल की नीतियां जिम्मेदार हैं। अंग्रेजों ने उन प्रदेशों व क्षेत्रों का विकास किया जिनकी उन्हें आवश्यकता थी।

समुद्र के किनारे बड़े–बड़े औद्योगिक नगर विकसित हो गए थे जैसे मुंबई (बंबई), कलकत्ता और चेन्नई (मद्रास) और निश्चय ही उन स्थानों पर रहने वाले लोगों को शिक्षा व रोजगार की ज्यादा सुविधाएं उपलब्ध रहीं। आजादी के बाद देश के संतुलित क्षेत्रीय विकास की आवश्यकता महसूस की गई फिर भी भारी क्षेत्रीय विषमताएं विद्यमान हैं, जिनके लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं–

टिप्पणी

1. विकास योजनाओं का लक्ष्य उत्पादन और रोजगार में वृद्धि लाना था, पर जैसा कि प्रसिद्ध अर्थशास्त्री दंतवाला ने कहा है, ''योजनाओं के अधिकतर लाभ राजनीतिक प्रभाव रखने वाले समृद्ध किसानों के पक्ष में मोड़ दिए गए और इन्होंने इन लाभों को हथिया लिया।''
2. क्षेत्रीय असंतुलन के लिए काफी सीमा तक राजनीतिक और प्रशासनिक परिस्थितियां भी उत्तरदायी हैं। राज्यों में दल–बदल की राजनीति और सरकारों के उथल–पुथल से विकास कार्य को हानि पहुंचती है। कोई भी सरकार जिसकी सारी शक्ति अपने को बनाएं रखने में ही खर्च हो जाती हो, विकास कार्यों की ओर कैसे ध्यान दे सकती है। अधिकांश राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता और नेताओं की आपसी फूट की वजह से प्रशासन कार्य कुशल नहीं बन पाया है।
3. उत्पादन में जहां यंत्र या औजार की महत्ता है, वहां मानव–पूंजी की महत्ता भी किसी तरह कम नहीं। पंजाब के आर्थिक विकास में वहां के निवासियों की साहसी और परिश्रमी प्रवृत्ति का बड़ा हाथ है। दूसरी ओर वे प्रदेश जहां के निवासी अज्ञान या आलस्य के कारण नव परिवर्तन व नयी तकनीक को ग्रहण करने में झिझकते हैं, पीछे रह जाते हैं।
4. राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी के कारण भी बहुत से विकास कार्यक्रम लागू नहीं किए जा सके हैं। जिन लोगों के हाथ में राजनीतिक सत्ता है, उनके अपने कुछ निहित स्वार्थ हैं जो समाज के एक बड़े हिस्से को उसके अधिकारों से वंचित रखकर ही पूरे हो सकते हैं। इस प्रकार निरंतर शोषण का क्रम चलता रहता है।

क्षेत्रीय असंतुलन के परिणाम

क्षेत्रीय असंतुलन के परिणामों को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है–

1. क्षेत्रीय असंतुलन ने तनाव को जन्म दिया है। उत्तर–पूर्वी भारत के असम, त्रिपुरा, मणिपुर, नागालैण्ड और मिजोरम–काफी लंबे तक आंदोलन की गिरफ्त में रहे हैं। मिजोरम में हिंसक घटनाएं भी हुईं। त्रिपुरा में जन मुक्ति संगठन सेना ने स्वतंत्र त्रिपुरा का नारा बुलंद किया। नागालैण्ड में विद्रोह का स्वर अब शांत है, पर नागा जाति को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ना जरूरी है। संथाल परगना और छोटा नागपुर वनवासियों के जुझारू आंदोलन के रणस्थल रहे हैं।
2. क्षेत्रीय असंतुलन से एकीकरण की प्रक्रिया भी प्रभावित होती है। छोटे और पृथक राज्यों की मांग को हम बुरा नहीं कहेंगे, पर भारतीय संघ से अलग हो जाने की धमकी निश्चय ही एक राष्ट्रविरोधी कृत्य है। ऐसी प्रवृत्तियों पर काबू पाने के लिए यह जरूरी है कि जो प्रदेश पिछड़े हुए हैं वहां संचार सेवाओं, आर्थिक विकास व कृषि–संबंधी कार्यक्रमों में तेजी लाई जाए।

टिप्पणी

3. क्षेत्रीय असंतुलन से केंद्र और राज्यों के बीच कटुता पैदा हो सकती है। कभी–कभी एक ही राज्य में रहने वाले विभिन्न जनसमुदाओं के बीच विवाद उठ खड़े होते हैं।
4. यह भी हो सकता है कि राष्ट्रीय दलों का दबदबा कम हो जाए और क्षेत्रीय दल सर्वेसर्वा बन बैठे। फिलहाल भारतीय राजनीति में एक बुनियादी परिवर्तन यह आया है कि क्षेत्रीय दलों का दबदबा बढ़ रहा है। अब एक पार्टी के शासन का युग खत्म हो रहा है और साझा सरकारों का वक्त आ गया है। इसमें केंद्र में राजनीतिक अस्थिरता बढ़ती है। खतरा यह है कि क्षेत्रीय दलों की साक्षी सरकारों से कहीं केंद्र इतना अशक्त न बन जाए कि भारत का कोई अखिल भारतीय चेहरा ही बाकी न बचे।
5. देश के जिन भागों में उद्योग और व्यापार की अधिक प्रगति हुई है, वहां पर रोजगार के ज्यादा साधन उपलब्ध हैं। शेष स्थानों में रहने वाले लोगों का जीवन स्तर ऊंचा नहीं उठ पाता। इसमें विषमताएं बढ़ती हैं। असंतुलन के कारण भारत संतुलित विकास के लाभों से वंचित रहा है।

क्षेत्रीय असंतुलन निवारण के उपाय

क्षेत्रीय असंतुलन को दूर करने के लिए इन उपायों का सहारा लेना होगा–

1. अविकसित क्षेत्रों के विकास को उच्च प्राथमिकता देनी होगी। लघु उद्योगों के साथ–साथ मध्य उद्योगों पर भी जोर देने की जरूरत है। इन क्षेत्रों के विकास के लिए आधारभूत सुविधाओं (बिजली, सड़क, परिवहन, दूरसंचार और रेलवे) का विस्तार जरूरी है। आधारभूत ढांचे को मजबूत बनाने पर ही अविकसित क्षेत्रों में देशी–विदेशी पूंजी को आकर्षित किया जा सकता है।
2. पर्वतीय क्षेत्रों के संतुलित विकास के लिए : (1) विद्यमान वनों की प्रभावी ढंग से सुरक्षा की जाए। (2) वन्य भूमि पर किसी भी कार्य के लिए कब्जा करने की अनुमति न दी जाए तथा (3) अन्य भूमि का हस्तांतरण गैरवन्य प्रयोजनों के लिए न किया जाए, चाहे वह प्रयोजन कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो।

   पर्वतीय क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व कम है, और ग्राम छोटे–छोटे हैं तथा लंबी दूरी तक छितरे हुए हैं। ऐसे स्थानों पर कुली, मजदूरों तथा खच्चरों के लिए पगडंडियां बनाकर उनका समुचित रख–रखाव किया जाना चाहिए।
3. उत्पादन में जहां यंत्र और औजार की महत्ता है, वहां मानव पूंजी का महत्व भी कम नहीं है। इसलिए संचार साधनों के माध्यम से जन जागरण को बढ़ावा देने की जरूरत है। यह जरूरी है कि लोग बिना किसी झिझक के नयी तकनीक और नव परिवर्तन का स्वागत करें।
4. राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी और अधिकारियों की लापरवाही के कारण बहुत से विकास कार्यक्रम प्रभावी ढंग से लागू नहीं किए जा सके हैं। इसलिए प्रशासन को चुस्त करने की जरूरत है।

5.2.4 भाषा

भारत में अनेक भाषाएं और बोलियां बोली जाती हैं। इनमें सें 18 भाषाएं संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल की गई हैं। इनमें से अधिसंख्य आर्यभाषाएं हैं, जो संस्कृत

के प्रभाव से उत्पन्न हुई हैं। द्रविड़ परिवार की भाषाएं तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम हैं, जिनका क्षेत्र सिमटकर दक्षिण चला गया है। अंग्रेजी द्वारा भारत की शिक्षा पद्धति में अंग्रेजी भाषा लागू की गई जो तीन–चार प्रतिशत लोगों द्वारा समझी व बोली जाती है। देश की लगभग 40 प्रतिशत जनता हिंदी या उससे मिलती जुलती भाषा बोलती है।

टिप्पणी

भाषा का तात्पर्य है कि किसी राज्य, समुदाय या क्षेत्र की भाषा का प्रश्न उस राज्य समुदाय या क्षेत्र की अस्मिता से जुड़ा है। चूंकि भारत में अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। अतः भाषावाद के समर्थकों का तर्क है कि उनकी भाषा को राजनीतिक महत्व प्रदान किया जाए तथा सरकारी कामकाज तथा शिक्षा के माध्यम में उनकी भाषा का प्रयोग किया जाए। इन परिस्थितियों में किसी एक भाषा को भारत की राजभाषा घोषित करना मुश्किल कार्य था क्योंकि जब प्रश्न संपर्क भाषा का आता है तो पुनः समस्या और गंभीर हो जाती है। विशेषकर हिंदी भाषी और अ–हिंदी भाषी प्रदेशों के हित के बीच सरकारी कामकाज की भाषा किसे बनाया जाए। भाषा के प्रश्न पर संविधान सभा में व्यापक विचार–विमर्श हुआ क्योंकि संविधानविदों को इसका अनुमान था कि भाषा का प्रश्न क्षेत्रवाद तथा जातिवाद की तरह भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए बाधक सिद्ध होगा।

संविधान की भाषा नीति

संविधान के अनुच्छेद 343, 344 तथा 345 में भाषा संबंधी निम्न प्रावधान हैं–

1. देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी भाषा संघ की राजभाषा होगी।
2. संविधान के आरंभ में 15 वर्षों तक अंग्रेजी भाषा का प्रयोग पूर्ववत जारी रहेगा।
3. सन, 1963 में अनुच्छेद 343 (3) के अधीन राजभाषा अधिनियम प्रस्तुत किया गया जिसके अनुसार 1965 के बाद भी अंग्रेजी अनिश्चित काल तक बनी रहेगी।
4. संविधान के प्रारंभ होने पर 5 एवं 10 वर्षों के उपरान्त भाषा आयोग का गठन करेंगे जो हिंदी प्रयोग के क्रमिक वृद्धि में सहयोग करेगा।
5. संविधान के अनुच्छेद 345 में प्रत्येक राज्य को अपने सरकारी कामकाज के लिए एक या अधिक भाषाओं को अंगीकार करने का अधिकार होगा।
6. उच्च एवं उच्चतम न्यायालयों की भाषा अंग्रेजी ही होगी तथा राज्य को अपनी भाषा में उच्च न्यायालय की कार्यवाही का अधिकार होाग परंतु उनका अंग्रेजी भाषा का पाठ ही अधिकृत समझा जाएगा।
7. अनुच्छेद 29 के अनुसार भारत के संविधान में भाषाई अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने की दृष्टि से संविधान में यह व्यवस्था की गई कि ''भारत के राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग में बसने वाले नागरिकों को जिनकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा।''

भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की मांग

1947 के पूर्व पं. नेहरू व उनकी कांग्रेस भाषावाद राज्यों के सिद्धांत के समर्थक थे, लेकिन संविधान सभा में जब यह बात उठी तब भाषावाद के आधार पर राज्यों के

गठन का विरोध हुआ। यहां यह याद रहे कि 1947 में धर आयोग की नियुक्ति हुई थी, जिसने अपनी रिपोर्ट में प्रांतों के पुनर्गठन का कड़ा विरोध किया था। इसलिए संविधान में पुनर्गठन की व्यवस्था नहीं की गयी।

टिप्पणी

भाषावाद प्रांत की मांग सर्वप्रथम मद्रास प्रांत में उठी, तेलुगु भाषी जिलों के निवासियों ने अलग प्रांतों की मांग उठायी। आंध्र प्रदेश की स्थापना को लेकर एक उग्र आंदोलन उठ खड़ा हुआ और इस राज्य की मांग के समर्थक पोहटी श्री रामलल्लू ने आमरण अनशन करके प्राण त्यागे। इस स्थिति में कांग्रेस शासन को झुकना पडा और 1953 में तेलुगु भाषी आंध्र प्रदेश का निर्माण हुआ। इससे अन्य राज्यों में भाषावाद राज्य की मांग जोर पकड़ने लगी। और अन्त में केंद्रीय सरकार द्वारा दिसम्बर 1953 को राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति हुई। उसने 1955 में इस मुद्दे पर अपनी रिपार्ट प्रस्तुत की और यह सुझाव दिया कि भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के सिद्धांत को लागू किया जाए। 1956 में इसकी सिफारिश के अनुसार प्रांतों का पुनर्गठन किया गया। 1966 में बंबई राज्य को तोड़कर गुजरात व महाराष्ट्र बनाया गया। 1966 में पंजाब का विभाजन करके पंजाब व हरियाणा निर्मित किए गए। इसी आधार पर तेलंगाना आंदोलन चला और आंध्र प्रदेश के राज्य की अलग मांग प्रबल हुई। इस प्रकार भाषा राज्यों के पुनर्गठन के पीछे जातिवाद, क्षेत्रियवाद की शक्तियां प्रबल रहीं। उसमें केंद्र को दबाने की क्षमता बढ़ी। भाषा प्रश्न को लेकर सी.डी. देशमुख ने केंद्रीय मंडल सरकार की भाषा की नीति का विरोध किया।

जनवरी 1980 में उर्दू के प्रश्न को लेकर अल्पसंख्यक मुस्लिम नेताओं ने एक मुद्दा उठाया। वस्तुतः यह कांग्रेस को प्रभावित करने की एक नीति थी। कांग्रेस ने अपने घोषणा–पत्र में मुस्लिम मतदाताओं को यह आश्वासन दिया कि कुछ राज्यों में उर्दू को राज्य की भाषा के रूप में काम में लाया जाएगा। उत्तर प्रदेश में उर्दू को अनिवार्य बनाये जाने की मांग आज भी जीवित है। इसी प्रकार दक्षिण भारत में आज भी हिंदी विरोधी भावना अधिक प्रबल दिखाई पड़ती है। वहां हिंदी को पाठयक्रम से निकाला जा रहा है और यहां तक की टी.वी. पर हिंदी कार्यक्रम की रोकथाम की जाती है। संक्षेप में तीन भाषाएं फार्मूला भारत में क्रियांवित नहीं हो सकी हैं। 1970 में नागालैंड ने एक प्रस्ताव पास करके यह मांग की थी कि अंग्रेजी भाषा को संविधान की आठवीं सूची में शामिल किया जाए। इस राज्य में अंग्रेजी को राज्यभाषा माना है।

सही अर्थों में भारत में स्वस्थ व सच्ची राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई ही नहीं है। यह देश सदियों से पृथकतावादी व स्वसंप्रदायवादी तत्वों से घिरा रहा है अन्यथा ब्रिटेन, कनाडा, स्विट्जरलैण्ड आदि बहुभाषीय देश हैं, लेकिन वहां भाषा की समस्या कभी नहीं रही, क्योंकि वहां राष्ट्रीयता की भावना परिपक्व है। वास्तव में भाषा की समस्या किसी क्षेत्र या समुदाय की पहचान की समस्या है अतः यह बुरी नहीं हैं परंतु जब इसके साथ स्वार्थगत राजनीति जुड़ जाती है तो इसका प्रारूप विकृत हो जाता है। इसी आधार पर दक्षिण में हिंदी भाषा का विरोध हो रहा है।

राज्य भाषा संशोधन विधेयक 1967–इस विधेयक में यह कहा गया है कि हिंदी और अहिंदी राज्यों में हिंदी के साथ अंग्रेजी का प्रयोग भी चलता रहे तथा केंद्रीय सरकार कें विभिन्न विभागों की स्थिति यही बनी रहे। इसमें एक प्रस्ताव में कहा गया है कि केंद्रीय नौकरियों के लिए अंग्रेजी या हिंदी किसी एक भाषा का ज्ञान अनिवार्य

होगा। संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के अलावा संविधान द्वारा स्वीकृत अन्य किसी भी भारतीय भाषा में ली जा सकती है। 19 जुलाई, 1967 को भारत सरकार द्वारा यह भी घोषणा की गई कि शिक्षा का माध्यम हटाकर किसी भी क्षेत्रीय भाषा को बनाया जा सकता है। एवं इंजीनियरिंग कृषि, चिकित्सा आदि सभी विषय इस भाषा में पढ़ाए जा सकते हैं। घोषणा में कहा गया है कि यह परिवर्तन पांच वर्षों के भीतर लागू किया जा सकता है।

टिप्पणी

केंद्रीय सरकार ने जो भाषा–संशोधन विधेयक पारित किया उससे दुर्भाग्यवश कोई भी पक्ष संतुष्ट नहीं हुआ। हिंदी भाषा राज्य और अहिंदी भाषी राज्य दोनों ही उग्र हो गए। हिंदी के समर्थन में हिंदी भाषी राज्यों में विशेषतः उत्तर प्रदेश में आंदोलन छिड़ गया। इस आंदोलन ने उत्तर प्रदेश और दिल्ली में 'हिंदी सेना' को जन्म दिया जिसने अंग्रेजी में लिखे तख्तों, संकेतों, आदि को कोलतार से मिटाने, अंग्रेजी अखबारों के बहिष्कार करने, कांग्रेसी मंत्रियों के घेराव करने आदि की दिशा में एक व्यापक आंदोलन चलाया।

हिंदी भाषी राज्य भी इस दौड़ में पीछे न रहे। हिंदी भाषा राज्य का आंदोलन ज्योंहिं समाप्त हुआ अहिंदी भाषा राज्यों में हिंदी के विरोध में आंदोलन शुरू हो गया और सरकार द्वारा पारित राज्यभाषा संशोधन विधेयक की भर्त्सना की जाने लगी इस आंदोलन का केंद्र मद्रास राज्य रहा और अन्नादुराई की सरकार का इसे पूरा समर्थन प्राप्त हुआ।

लोकतंत्र में राज्यों का काम–काज जन भाषाओं में चलना चाहिए इसलिए **रजनी कोठारी** ने भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का स्वागत किया है। प्रो. कोठारी के अनुसार ''पुनर्गठन से राजनीतिक एकीकरण स्थापित हुआ, शासक और शासितों के बीच संपर्क बढ़ा और राष्ट्रीय एकता ज्यादा मजबूत हुई। ग्रामीण इलाकों में बसने वाली जनता शीघ्र ही राजनीतिक मामलों में रुचि रखने लगी। दूसरी और वह लेखक हैं जिनके अनुसार भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन से समस्याएं और उलझ गई हैं। इससे पृथकतावादी शक्तियों को बढ़ावा मिला।"

5.2.5 अन्य

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लिए राष्ट्र निर्माण एक चुनौती होती है। राष्ट्र निर्माण एक व्यापक संप्रत्यय है। इसमें राज्य निर्माण भी सम्मिलित है। राज्य निर्माण का तात्पर्य एकीकरण और नियंत्रण की समस्या से है जबकि राष्ट्र निर्माण का विचार समुदाओं की अस्मिता एवं भावनाओं से जुड़ा है। एक प्रकार राज्य निर्माण, एक संरचनात्मक, एक राष्ट्र निर्माण, एक सांस्कृतिक, एक संप्रत्यय है।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री के रूप में नेहरू ने स्वतंत्र भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया की शुरुआत की। नेहरू का मानना था कि राष्ट्र निर्माण एवं एकीकरण के लिए यह अति आवश्यक है कि देश की विभिन्न लोकतांत्रिक संरचनाओं एवं मूल्यों को मजबूती प्रदान की जाए। इसलिए उन्होंने दलीय व्यवस्था संसदीय व्यवस्था, धर्म निरपेक्षता, चुनावी राजनीति, मत आचरण, सशक्त विपक्ष आदि संरचनाओं एवं मूल्यों को वृहद दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया जिससे विभिन्न संकीर्णताओं से ऊपर उठा जा सके तथा राष्ट्र निर्माण एवं एकीकरण संभव हो सके।

टिप्पणी

इतिहासकार कहते हैं कि भूतकाल में हमारे देश में एकता का बड़ा अभाव रहा है और राष्ट्रीय एकता के आभाव के कारण अनेक बार विदेशियों से पराजित होना पड़ा इससे देश का पतन होता रहा है, फिर भी अतीत काल में भारत की सांस्कृतिक और भावात्मक एकता बनी रही है। डॉ. वासुदेव शर्मा अग्रवाल ने लिखा है कि यहां कोटि–कोटि जनता के मन में भारत की भौगोलिक एकता का संस्कार था। हमारी संस्थाओं में विविधताओं को स्वीकार करने की शक्ति थी।

अंग्रेजी शासन काल में हमारी राष्ट्रीय एकता को गहरा आघात पहुंचा है ''फूट डालो और राज करो'' की नीति के कारण हमारी राष्ट्रीय एकता भंग हुई है। यहां अभी लोग विभिन्न भाषाएं बोलते हैं, भिन्न भिन्न धर्म मानते हैं और उनकी नीतियां भी अलग–अलग हैं। ऐसे विविधता वाले देश को एकता के सूत्र में मजबूती से बाधना एक महत्वपूर्ण समस्या है।

रजनी कोठारी लिखती हैं कि राजनीतिक विकास की बुनियादी समस्या एकीकरण की है। अर्थात नए राजनीतिक केंद्र बिंदु की स्थापना, उनका बहुमुखी प्रसार, विभिन्न संस्थाओं का पल्लवन, विविधता और दृढ़ीकरण, को एक सूत्र में संग्रहण कर एक राष्ट्र का निर्माण अर्थात एकीकरण की क्षमता का विकास। यही समस्या हमारे राष्ट्र निर्माताओं के सामने सबसे बड़ी समस्या रही है। जैसा कि नेहरू ने कहा था कि मेरे जीवन का मुख्यकार्य मेरे भारत का एकीकरण है।

प्रो. एम.एन. श्री निवास लिखते हैं कि विभाजनकारी प्रवृत्तियां आज भी अस्तित्व में है और भविष्य में कई वर्षों तक बनी रहेगी। देश की अधिकांश जनता के लिए ''भारत एक नई कल्पना है और इस कल्पना का सत्य रूप होने में कुछ समय लगेगा। भारत की राष्ट्रीय एकता के मार्ग में प्रमुख अवरोधक तत्व इस प्रकार हैं–

कोई भी भारत में कहीं रहे वह जाति के संसार में ही रहता है। हमारे देश में जातियां विभाजनों को काटती हैं। केवल हिंदू ही जातियों में बंटे हुए नहीं हैं, अपितु जैन, मुस्लिम, सिक्ख, और ईसाई भी अनेक जातियों में विभाजित हैं। उच्च जातियां अपने से पिछड़ी जातियों द्वारा ऊपर उठने के प्रयत्नों का विरोध कर रही हैं। इसके फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में अंतर्जातीय तनाव बढ़े हैं। बिहार में चुनावों में जबर्दस्त जातीय प्रतिद्वंद्विता दिखायी देती है। और वहां का प्रत्येक चुनाव राजपूत, भूमिहार, कायस्थ और पिछड़ी जातियों के इर्द–गिर्द घूमता है। तमिलनाडु में ब्राह्मणवाद और गैर–ब्राह्मणवाद हुआ है। जातीय मतभेदों से गुटबंदी बढ़ती है। और कभी–कभी आंदोलन भी होते हैं। तमिलनाडु में गैर–ब्राह्ममणों ने उच्च जातियों के विरुद्ध कई बार संगठित रूप से आन्दोलन किए हैं।

सांप्रदायिकता एक निम्नकोटि की विभाजनात्मक प्रवृत्ति है। इसने हमारे देश का बड़ा अहित किया है। सांप्रदायिकता के कारण ही देश का विभाजन हुआ। बाद में हमने धर्मनिरपेक्ष राज्य का सिद्धांत अपनाया और यह दृष्टिकोण अपनाया कि भारत में सभी धर्मों को समान रूप से फलने फूलने का अधिकार है। आज भी देश में अनके सम्प्रदाय निवास करते हैं–हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि। कभी–कभी मामूली सी घटना को लेकर सांप्रदायिक दंगे हो जाते हैं। स्थानीय झगड़ों के कारण भी हिंदू–मुस्लिम के झगड़े हुए। सन् 1978–79 में अलीगढ़ व जमशेदपुर में सांप्रदायिक दंगे हुए और काफी संख्या में लोग मारे गए। सन् 1985 में अहमदाबाद में दंगे हुए।

राम जन्मभूमि, बाबरी मस्जिद विवाद ने अनेक स्थानों पर सांप्रदायिक हिंसा को फैलाने में आग में घी डालने का कार्य किया। सांप्रदायिकता लोकतंत्र पर कलंक है एवं यह राष्ट्रीय एकता को नुकसान पहुंचाती है।

टिप्पणी

आज देश में अल्पसंख्यकों की संख्या भी महत्वपूर्ण है। विभिन्न राज्यों में भाषागत अल्पसंख्यक और अल्पसंख्यक संप्रदायों के लोग निवास करते हैं। मुंबई, कोलकाता, चेन्नई, दिल्ली, आदि नगरों में तो शासन और उद्योग व्यापार में बाहरी राज्यों के लोगों से असंतोष उत्पन्न हुआ है और इन लोगों को शोषक माना जाता है। महाराष्ट्र में गुजरातियों का विरोध हुआ है, पश्चिम बंगाल और तमिलनाडु में मारवाड़ियों का विरोध किया गया। महाराष्ट्र में शिवसेना, असम में लच्छित सेना जैसे उग्र संगठनों को निर्माण कर बाहरी लोगों के विरुद्ध उत्तेजनात्मक कार्यवाहियां की गईं। ऐसी संकीर्णता की भावनाएं राष्ट्रीय एकता के लिए खतरनाक हैं।

विश्व के प्रत्येक समाज में आदि–काल से ही स्त्रियों के अधिकारों, कर्तव्यों एवं सीमाओं की परिचर्चा होती रही है। एक सामान्य अवधारणा के तहत स्त्रियों को प्राकृतिक एवं सामाजिक रूप से पुरुषों से तुलनात्मक रूप से निर्बल माना गया। पुरुषों के अदम्य साहस, वीरता एवं आक्रामक दृष्टिकोण से स्त्रियों को समाज में ही द्वितीय श्रेणी का नागरिक बना दिया। इसके साथ ही साथ धर्म–ग्रंथों एवं सामाजिक मान्यताओं ने स्त्रियों की स्वतंत्रता पर कड़े प्रतिबंध लगाए और स्त्रियों को पुरुष की संपत्ति कहा जाने लगा और इस प्रकार एक ऐसे समाज का गठन हुआ जिसे पुरुष प्रधान समाज कहा गया। ऐसे समाज में 'नारी वर्ग को'–चाहे वह उच्च वर्ग की हो या निम्न वर्ग की – सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं अन्य महत्वपूर्ण अधिकारों से वंचित कर दिया गया जबकि वही अधिकार पुरुषों को प्राप्त थे। इसे ही 'लैंगिक विषमता' कहते हैं।

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक नारी कानूनों की स्थिति में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, पर इसके बावजूद समाज में परिवर्तन नहीं हो सका। जब कानूनी स्थिति और वास्तविक स्थिति परस्पर विरोधी हो तो नारी को दिए गए अधिकार मात्र अलंकार बन कर रह जाएंगे।

सामाजिक ढांचा मुख्यतया निम्नांकित प्रकार की लैंगिक विषमताओं को उजागर करता है–

1. **शहरी और ग्रामीण महिलाओं के बीच असमानता**–महिला विकास के कई आयाम हो सकते हैं, जैसे कि पुष्टिकर भोजन, स्वास्थ्य की जांच बच्चों के टीके लगाना, रोगी शिशुओं को अस्पताल भेजना तथा स्कूली शिक्षा व स्कूल पूर्व अनौपचारिक शिक्षा। सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि इन सभी दृष्टियों से शहरी और ग्रामीण महिलाओं के बीच भारी विषमता है। शिक्षा स्वास्थ्य सेवाओं और पोषण की दृष्टि से ग्रामीण महिलाओं की स्थिति संतोषजनक नहीं है। भारत जैसे देशों में अधिसंख्य ग्रामीण महिलाओं को आज भी परिवार के लिए रोजी–रोटी जुटाने के लिए बहुत से काम करने पड़ते हैं।
2. **महिलाओं के लिए अपर्याप्त भोजन आदि**– विश्व की आबादी बढ़ने से निश्चित ही भोजन, वस्त्र आदि की समस्याएं आएंगी। महिलाओं के अनेक संगठन जनसंख्या–नीति को लेकर उद्वेलित हैं, क्योंकि जनसंख्या विस्फोट का सबसे ज्यादा नुकसान महिलाओं को उठाना पड़ता है। आज भी अधिकांश परिवारों में

टिप्पणी

पुरुषों और लड़कों का भोजन हो चुकने के बाद जो बच जाता है, महिलाओं और लड़कियों को उसी से संतुष्ट होना पड़ता है। इससे स्वास्थ्य तथा पोषण की दृष्टि से महिलाएं पिछड़ जाती हैं। भारत में स्त्री और पुरुषों की संख्या का अनुपात स्त्रियों के प्रतिकूल है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की एक रिपोर्ट के अनुसार स्त्री–पुरुष की संख्या में असमानता के लिए ये कारण उत्तदायी हैं– शिशु हत्या, भ्रूण हत्या, और कुपोषण।

वनों की कटाई और कृषि–भूमि के विनाश के कारण यदि उत्पादकता घटती है तो उसका परिणाम यह होगा कि महिलाओं के लिए भोजन जो पहले ही अपर्याप्त है, और कम हो जाएगा।

3. **महिलाओं में शिक्षा एवं साक्षरता का प्रतिशत**–विकासशील देशों में महिलाओं की सबसे बड़ी समस्या अशिक्षा है। अशिक्षित होने के कारण न तो महिलाएं अपने अधिकारों को समझती हैं न ही उनकी रक्षा कर पाती हैं और इसीलिए शोषित की जाती है। 1661 के जनगणना आकंड़ों के अनुसार भारत की केवल 52 प्रतिशत आबादी साक्षर थी। साक्षरता के मामले में महिलाएं पुरुषों से बहुत पीछे रही है। पुरुषों की साक्षरता दर 64.13 प्रतिशत थी जबकि केवल 39.29 प्रतिशत महिलाएं साक्षर पाई गईं। 1981 से लेकर 1991 तक महिला साक्षरता दर में 8.65 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई। वर्ष 2011 में साक्षरता का कुल प्रतिशत 74 है। इसमें महिला साक्षरता का प्रतिशत 65.5 एवं पुरुष साक्षरता का प्रतिशत 82 प्रदर्शित किया गया है। कई प्रदेशों में महिला साक्षरता दर में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। ये क्षेत्र हैं– सिक्किम (19.29 प्रतिशत), लक्षद्वीप (17.59 प्रतिशत) तथा नागालैण्ड (14.45 प्रतिशत)।

4. **रोजगार में महिलाओं का प्रतिशत**–विश्व में सभी तरह के रोजगारों में पुरुषों के मुकाबले महिलाओं की संख्या कम है। विकासशील देशों में महिला कार्मिकों का अनुपात बहुत कम है। इससे भी ज्यादा चिंता की बात यह है कि महिलाएं मुख्य रूप से असंगठित क्षेत्र में कार्यरत हैं। भारत में 94 प्रतिशत कामकाजी महिलाएं इस तरह के रोजगार में लगी हुई हैं–घरेलू कामकाज, भवन निर्माण के लिए मेहनत मजदूरी, मछुवाही, बुनाई और खेत–खलिहान संबंधी कार्य। पश्चिमी समाज में काम–काज की स्थितियां बेहतर हैं, पर पश्चिम की महिलाओं की भी बराबर यही शिकायत है कि ऊंची सरकारी नौकरियां उनकी पहुंच के बाहर हैं। दुनियां के कुल एक अरब 20 करोड़ गरीब व्यक्तियों में महिलाओं का अनुपात 70 प्रतिशत है।

5. **महिलाओं के प्रति हिंसा एवं उत्पीड़न**–एक सर्वेक्षण के अनुसार बहुत से देशों में महिलाओं की लगभग आधी जनसंख्या शारीरिक उत्पीड़न का शिकार है। अधिकांश मामलों में यह उत्पीड़न उन्हें अपने जीवन साथी की वजह से ही भुगतना पड़ता है। महिलाएं न सिर्फ पीटी जाती हैं, बल्कि यौन–शोषण का भी शिकार हैं। भारत में 68 फीसदी, श्रीलंका में 6 फीसदी, और चिली में 80 फीसदी औरतें घरेलू हिसा से उत्पीड़ित हैं। ब्रिटेन और इंडोनेशिया की महिला प्रतिनिधियों ने स्वीकार किया कि औरत के खिलाफ हिंसा की वारदातें 'घर और सड़क' दोनों जगह बराबर बढ़ रही हैं। बीजिंग सम्मेलन में चीनी महिलाओं ने

यह भी स्वीकार किया कि 'उनके देश में हिंसा की शिकार औरतों की तादाद बढ़ रही है।' नारी मुक्ति के नाम पर व्यवसायी और उद्योगपति भी एक तरह से महिलाओं का शोषण कर रहे हैं। वे अपना उत्पादन बेचने के लिए स्त्री के अनावृत शरीर को दिखाना नहीं भूलते।

टिप्पणी

विकास प्रक्रिया एवं महिलाएं

कुल जनसंख्या का लगभग आधा हिस्सा होने के कारण महिलाओं और विकास का अंतरंग संबंध है। कोई भी समाज तब तक विकास नहीं कर सकता जब तक उसका आधा भाग दलित, शोषित अथवा अविकसित है। दूसरे शब्दों में महिलाओं की क्षमता का पूर्ण विकास किए बिना किसी भी आर्थिक व्यवस्था का विकास संभव नहीं है और कोई भी राष्ट्रीय विकास तब तक अपूर्ण है जब तक उसमें महिलाओं का विकास और विकास का लाभ महिलाओं तक पहुंचने की व्यवस्था सम्मिलित नहीं है।

साधारण शब्दों में विकास से तात्पर्य गरीबी का अंत, उत्पादकता में वृद्धि और परिणामतः सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन की गुणवत्ता में सुधार है। विकास के मानकों में अच्छी शिक्षा, स्वास्थ्य पोषण की व्यवस्था के साथ–साथ जनता की आर्थिक स्थिति में सुधार, क्रय शक्ति का विकास और कल्याणकारी सामाजिक सेवाओं तक उनकी पहुंच इत्यादि कहे जा सकते हैं। स्पष्टतः अधिक उत्पादकता के अतिरिक्त विकास का अर्थ वितरणात्मक न्याय भी है, जैसे भारत में उद्योगीकरण, आधुनिकीकरण और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास से उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा है। कृषि की उत्पादकता और गुणवत्ता में सुधार आया है परंतु ये केवल समाज के कुछ वर्गों को ही उपलब्ध हैं, क्योंकि अन्य की या तो उन तक पहुंच नहीं है अथवा वे उनकी क्रय शक्ति से बाहर है। ऐसा बेरोजगारी, अर्धरोजगारी अथवा आर्थिक निर्भरता के कारण है। इस प्रकार की प्रक्रिया के मामले में भी यह भिन्नता देखी जा सकती है। औपनिवेशक शासन के परिणामस्वरूप तृतीय विश्व के देशों की कमजोर आर्थिक स्थिति और विश्व–अर्थव्यवस्था में उनकी स्तरीय अवस्थिति महिला के प्रतिभेदभाव को और भी बढ़ा देती है। पूंजीवाद की पैठ और परंपरागत अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण तथा पुनर्निमाण अधिकांशतः महिलाओं की बाधाओं में वृद्धि करता है क्योंकि नई तकनीकें एक तरफ तो उनकी आर्थिक क्रियाओं को हस्तगत कर लेती है। जैसे खाद्य–संभरण, वस्त्र–निर्माण इत्यादि और दूसरी तरफ अधिकांश नये और अच्छी कमाई वाले व्यवसाय पुरुषों को मिलते हैं क्योंकि अपनी शिक्षा और सामाजिक स्थिति के कारण वे ही उनके योग्य पाए जाते हैं।

परिणामस्वरूप महिलाओं की आर्थिक निर्भरता भी बढ़ती जाती है और कार्य–भार भी। कृषि के आधुनीकरण के परिणामस्वरूप वे एक तरफ तो कृषि कार्यों से वंचित हो जाती है वही नई तकनीक भी उनकी पहुंच के बाहर रहती है, पुरुष की गतिशीलता के कारण अधिकांश पारिवारिक व बच्चों के पोषण से संबंधित कार्यभार महिलाओं को ही संभालने पड़ते हैं। तृतीय विश्व की महिला तिहरे कार्यभार को सभालती है–गृहकार्य, शिशु–पालन, और खाद्य–उत्पादन, तथापि उनकी आर्थिक स्थिति निरंतर निम्न होती जाती है। इस विरोधाभास का समाधान ही हमारी विकास नीतियों की सफलता के लिए निर्णायक हो सकता है।

टिप्पणी

लगभग 45 वर्ष पूर्व 1948 में संयुक्त राष्ट्र की मानावाधिकार घोषणा में महिला–पुरुष के समान अधिकारों में विश्वास की पुनः अभिव्यक्ति की गई थी। इसी समय के आस–पास भारतीय संविधान निर्माताओं ने भी स्त्री–पुरुष की समानता को संवैधानिक जामा पहना दिया था। परंतु यह स्पष्ट है कि विश्व में और भारत में भी महिलाओं की समानता के मामलें में प्रगति उतनी नहीं हो सकती जितनी की आश्वासित थी। महिलाओं की स्थिति विभिन्न राष्ट्र वर्गों और समाजों में भिन्न–भिन्न है। 1975 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा ही तृतीय विकास दशक को ''महिला दशक'' घोषित किया गया है।

परिणामस्वरूप लगभग सभी राष्ट्रों में सम्मेलन हुए, सभाएं हुईं, विशेष योजनाएं बनाई गई और कार्यक्रम, लागू किए गए तथापि महिलाओं कि स्थिति और उनके प्रति समाजिक अभिवृत्तियों में बहुत कम परिवर्तन आ सका है। इस दशक की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि विकास की योजनाओं में महिलाओं की भूमिका और स्थिति के प्रति एक नई जागरूकता पैदा की जा सकी और महिला संगठनों महिला–समितियों और अन्य संस्थाओं के माध्यम से विकास परियोजनाओं में महिलाओं के महत्वपूर्ण योगदान को पहचाना जाने लगा। सातवें दशक तक यह अनुभव किया जाने लगा कि व्यावहारिक विकास तभी सफल हो सकता है। जब विकास का लाभ जनसंख्या के सभी वर्गों को समान रूप से मिले। वहीं से महिलाओं के विकास और महिलाओं के साथ विकास की अवधारणाओं का विकास हुआ। 8वें दशक से ये आधुनिक विकास के सिद्धांतों का अभित्र अंग बनकर उभरे हैं और वर्तमान दशक की विकास रणनीतियों का महत्वपूर्ण आधार बन गए हैं।

महिला और विकास पर प्राप्त अध्ययन और साहित्य से इस संबंध में निम्नांकित तीन मौलिक धारणाएं स्पष्ट होती हैं–

1. इस अनुभूति का सभी समाजों में लिंग पर आधारित एक स्पष्ट श्रम–विभाजन मिलता है। यद्यपि कौन से कार्य किसे दिए जाएं इस विषय में संस्कृति के आधार पर विविधताएं मिलती हैं।
2. यदि विकास में महिला की भूमिका की गत्यात्मकता को समझाना है तो इसके व्यावसायिक काम के साथ–साथ घरेलू उत्पादकता और पुनरूत्पादक कार्यों को समन्वित रूप में देखना आवश्यक है।
3. यह ज्ञात हुआ है कि आर्थिक विकास का प्रभाव महिलाओं और पुरुष में भिन्न होता है और अधिकांशतः महिला पर विकास का प्रभाव नकारात्मक ही हुआ है।

वर्तमान समय में विकास के नारीवादी दृष्टिकोण के रूप में एक नया दृष्टिकोण सामने आया है। जिसके अनुसार यदि समाज में 'स्त्री–शक्ति' का समुचित एवं सम्यक प्रयोग किए जाएं जो स्त्रियों के मान सम्मान में वृद्धि के साथ–साथ समाज में ऐसा विकास होगा, जिसे सुस्थिर विकास कहा जा सकता है। इसके अनुसार नारियां सम्पूर्ण समाज को स्वस्थ विकास की राह दिखा सकती है। स्त्रियां शारीरिक श्रम पर विश्वास करती हैं, स्वच्छता पर ध्यान देती हैं, संवेदनशील होने के कारण पर्यावरण को भी हानि नहीं पहुंचाती हैं। उनका उपभोग का स्तर निम्न होता है, वे विनाशकारी व्यसनों जैसे–धूमपान, मदिरापान, और द्यूतक्रीड़ा का शौक साधारणतया नहीं रखतीं। इसलिए विकास तभी सुस्थिर एवं पर्यावरणानुकूल होगा तब स्त्रियों की विकास में सहभागिता भी होगी और उन्हें उसका लाभ भी मिलेगा।

आधुनिक नारीवादी आंदोलन

टिप्पणी

भारतीय धर्म और संस्कृति में सैद्धांतिक रूप से औरत को श्रेष्ठ माना गया है साथ ही साथ उस पर श्रेष्ठता और दिव्यता का आरोपण करके उसे अनेक सीमाओं एवं बंधनों में बांध दिया गया। इन बंधनों को व्यावहारिक सामाजिक मान्यताओं ने और अधिक कठोर बना दिया। इसी क्रूर व्यवस्था में नारी प्राचीन काल से आज तक पिसती आ रही है। यद्यपि भारत में समय–समय पर नारी सुधार आंदोलन हुए, जिसमें नारी को देवी या दासी नहीं बल्कि सहचारी के रूप में मान्यता देने पर बदल दिया गया। ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने स्त्रियों की शिक्षा और विधवा–विवाह जैसे महत्वपूर्ण विषयों को उठाया तथा शारदा एक्ट द्वारा विधवाओं को विवाह करने का अधिकार प्रदान कराया। पुनर्जागरण काल में राजा राम मोहन राय ने सती–प्रथा जैसी कुरीति के विरुद्ध एक जन आंदोलन प्रारंभ किया 'सती प्रथा के विरुद्ध अधिनियम पारित करवाया। दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, एनी बेसेन्ट, ज्योतिबा फूले एवं महात्मा गांधी आदि सभी महापुरुषों ने महिलाओं की सामाजिक एवं शैक्षणिक स्थिति में सुधार के लिए आंदोलन किए। इन महापुरुषों के प्रयासों एवं कार्यों से भारत में ऐसा वातावरण बना जिससे जनमानस यह सोचने को विवश हुआ कि महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अधिकार औचित्यपूर्ण हैं। इसी पृष्ठभूमि में स्वतंत्र भारत में महिला आंदोलन का प्रादुर्भाव हुआ।

भारत में स्वातंत्र्य संघर्ष, नारी मुक्ति और नारी समता के बड़े पुरुष विरोधी आंदोलन से प्रारंभ होकर अनेक सम–सामयिक मुद्दों, समस्याओं और आंदोलनों तक फैल गया है। जहां पहले नारी–मुक्ति या समता की बात एक दूरगामी परिणाम तक पहुंचने वाली लंबी लड़ाई के रूप में चलने वाले आंदोलनों और संगठनों पर आधारित थी। जिसके नारे भी भिन्न थे, जो रोजमर्रा की समस्याओं और जिंदगी से कहीं दूर थे, वहीं पिछले दशक में महिला संगठनों को एक नई रणनीति और नई दिशा मिली। अब महिला आंदोलन, पिछड़े वर्ग आंदोलन, जातिवाद विरोधी आंदोलन, श्रमिक वर्ग आंदोलन के साथ मिलकर इन वर्गों के साथ–साथ नारी की शोषण से मुक्ति की मांग करने लगे।

प्रारंभ में यह समूह कम और स्थानीय थे परंतु 1979–80 में ये अखिल भारतीय स्तर कार्य में जुट गए हैं और इनके कार्य क्षेत्र, दहेज मृत्यु और पुलिस द्वारा बलात्कार से लेकर महिला श्रमिकों की स्थिति, उनका संगठन और झुग्गी–झोपड़ियों में रहने वाली महिलाओं और घरेलू महिला कामगारों तक हो गए हैं। इन विषयों ने समाज का ध्यान अधिक व्यापक तौर पर आकर्षित करने में उल्लेखनीय सफलता पाई, क्योंकि ये प्रेस के माध्यम से शीघ्र ही सार्वजनिक मामले बन गए और इस प्रकार महिला संगठन और महिला आंदोलन भी समाज के समीप पहुंचने में सफल हुए चाहे वह सती का मामला हो अथवा शाहबानों का। इन मामलों में महिला कार्यकर्ताओं को स्थानीय निवासियों का भरपूर सहयोग मिला। यद्यपि अपराधियों को सामाजिक बहिष्कार अथवा दंड दिलवाने में पूर्ण सफलता मिलनी अभी दूर है, तथापि महिलाओं के विरुद्ध बातें और प्रदर्शन संभव हुए और महिला संगठनों की आवश्यकता को मान्यता मिली। साथ ही, महिला कार्यकर्ताओं को अब समाज सुधारक का सम्मान प्राप्त होने लगा।

टिप्पणी

महिला संगठनों और कार्यकर्ताओं ने सम–सामयिक आंदोलनों में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाई चाहे वह कृषकों का तेलंगाना आंदोलन रहा हो अथवा चिपको आंदोलन, सती जैसा रूढ़िवादी मामला रहा हो अथवा शाहबानो जैसा प्रगतिशील मामला। परंतु इनमें सफलता बहुत स्पष्टतः नहीं मिल सकी है और अनेक स्त्री–स्वतंत्र्यवादी यह महसूस करने लगे हैं कि स्त्री शक्ति का फिर से संगठन और नए सैद्धांतिक परिदृश्य में पुनर्गठन आवश्यक हो गया है और हो सकता है आने वाले वर्षों में स्त्री–संगठन और महिला आंदोलन अपने बहुमुखी संघर्ष की रणनीति के साथ उस नारी चेतना को पूरी तरह जागरूक करने में सफल हो जाए जो अभी तक सुप्त अथवा शोषित थी और जिसकी जागरूकता के प्रमाण हमें कहीं–कहीं देखने को मिलते हैं।

संक्षेप में, महिला और विकास के बीच अंतरंग संबंध को विकास की अधुनातन रणनीति में केंद्रीय माना गया है जिसके अनुसार महिला केवल विकास से प्रभावित ही नहीं होती अपितु उसे प्रभावित करने की अद्‌भुत क्षमता भी रखती है। महिलाएं विकास की प्रक्रिया में सक्रिय सहभागी बन सकें और समाज के उत्पादक सदस्य के रूप में स्थापित हो सकें इसके लिए यह आवश्यक है कि महिला और विशेष तौर पर कामकाजी ग्रामीण महिला की घरेलू थकान को कम किया जाए और उसके गृह कार्य को भी उत्पादक कार्यों में सम्मिलित और आंकलित/मूल्यांकित किया जाए। ग्रामीण महिला को पर्याप्त चिकित्सा, शिक्षा, पोषण आहार और नवीन प्रौद्योगिकी, जैसे धुआं रहित चूल्हा, सौर–कूकर इत्यादि की सुविधाएं दी जाएं और उसके उत्पादक परंतु असंगठित कार्यों को आय का साधन बनाया जाएं ताकि वह गरीबी और निर्भरता के कुचक्र से बाहर निकल सके। शहरी और ग्रामीण दोनों प्रकार की कामकाजी महिलाओं के लिए मातृत्व–सुविधा, बाल–संरक्षण गृह, भविष्य निधि और उचित कार्य दशाओं की सुविधायें उपलब्ध कराई जाएं। महिलाओं को वैयक्तिक रूप से आर्थिक और अन्य मानवीय अधिकारों जैसे सुरक्षित आवास और भ्रमण के अधिकारियों की प्राप्ति को मान्यता दी जाए। महिलाओं की स्थिति में सुधार से आधी जनसंख्या की स्थिति स्वतः ही सुधर जाएगी और शेष आधी जनसंख्या की स्थिति का मार्ग तैयार हो सकेगा। यह कार्य बहुत सरल अथवा तुरंत होने वाला नहीं है तथापित करने योग्य और विकास की दृष्टि से अपरिहार्य है। स्त्री–शक्ति के समुचित और पर्याप्त विकास और पोषण से अवसरों और संसाधनों के बेहतर उपयोग का आधार तैयार होगा जो देश के नव–निर्माण और अनिवार्य आर्थिक विकास की नींव मजबूत कर सकेगा।

स्त्री संगठन और स्वैच्छिक संस्थाएं महिलाओं की स्थिति और उनके विकास हेतु केंद्रीय भूमिका निभा सकते हैं। सातवीं योजना में उन्हें जनता की आंख और कान की संज्ञा दी गई थी। अतः महिलाओं की शिक्षा, चिकित्सा स्वास्थ्य और पोषण जैसी सुविधाओं के प्रसार में स्वैच्छिक संस्थाओं और संगठनों की अधिकाधिक सहभागिता को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। उन्हें सरकारी अनुदान भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराया जाना चाहिए। राजस्थान में 'तिलोनिया और सेवा' मन्दिर तथा गुजरात में चेतना और सेवा इत्यादि इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य कर रही हैं। ग्रामीण और निम्न आय वर्ग की महिलाओं को उनके अधिकारों से अवगत कराया जाना भी आवश्यक है।

यद्यपि 'मतदान' तथा महत्वपूर्ण आंदोलनों में भारतीय महिला की सक्रियता में वृद्धि हुई है। परंतु राजनीतिक निर्णयन की प्रक्रिया में सहभागिता की आवश्यकता

अभी बनी है। पंचायती राज संस्थाओं में आरक्षण सुनिश्चित किया जाना चाहिए। तभी भारतीय नारी विज्ञान की, उत्पादन की, सामाजिक परिवर्तन की और राष्ट्रीय निर्माण की योजनाओं के अंतर्गत गतिशील हो सकेंगी।

टिप्पणी

भारत में महिला उत्थान कार्यक्रम

भारत का संविधान पुरुषों और महिलाओं के लिए समान अधिकारों व अवसरों की गारंटी देता है। विभिन्न योजनाओं के द्वारा महिलाओं को उन्नत बनाने की कोशिश की जा रही है–

1. अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम के अंतर्गत स्कूल न जा सकने वाली लड़कियों को समुचित शिक्षा उपलब्ध कराई जाती है। यह योजना पिछड़े इलाकों और आदिवासी क्षेत्रों में सघन रूप में चलाई जा रही है। कई राज्यों में लड़कियों के लिए कक्षा दस तक शिक्षा निःशुल्क है।
2. कामकाजी महिलाओं के लिए सारे देश में लगभग 650 हॉस्टल बनाए गए हैं, जिससे कि मध्यम आय वाली महिलाओं को सस्ता व सुरक्षित आवास उपलब्ध हो सके।
3. महिलाओं के हितों की रक्षा के लिए दहेज प्रतिबंध अधिनियम (1961) तथा सतीप्रथा निवारण अधिनियम (1987) बनाए गए। महिलाओं का अश्लील चित्रण भी एक अपराध है।
4. 1992 में राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया गया। इस आयोग का कार्य महिलाओं को उनके अधिकारों से वंचित रखे जाने की शिकायतों को सुनना और आवश्यक हो तो उन पर कार्यवाही करना है। महिलाओं के लिए राष्ट्रीय ऋण कोष स्थापित किया गया है। इसका उद्देश्य गरीब और जरूरतमंद महिलाओं को ऋण की सुविधाएं उपलब्ध कराना है।
5. स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं (पंचायतों और नगरपालिकाओं आदि) में महिलाओं के लिए कम से कम तीस प्रतिशत सीटें आरक्षित होंगी।

प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष की समानता करके नारी ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस दलील में कोई तथ्य नहीं कि नारी साहस की दृष्टि से पुरुष दुर्बल है। तैराकी, खेल कूद, अस्त्र संचालन, अंतरिक्ष यात्रा और पर्वतारोहण जैसे कार्यों में महिलाओं ने अपनी शक्ति की परीक्षा दी और उसमें वे सफल हुई। युगों में दलित पीड़ित रहने के कारण जो हीनता के संस्कार स्त्रियों में बन गए थे। उन्हें आधुनिक नारी ने अपने साहस व परिश्रम से धो दिया। यदि महिलाओं को उपयुक्त वातावरण मिले तो वे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में बड़ी सार्थक भूमिका निभा सकेंगी।

महिलाओं के लिए विकास निधि–यूनिफेम

यूनिफेम अर्थात यूनाईटेड नेशंस डेवलपमेंट फंड फॉर वुमैन का सृजन सन् 1976 में संयुक्त राष्ट्र महिला दशक के लिए किया गया था। इस फंड का मुख्यालय न्यूयॉर्क में है और एशिया प्रशान्त क्षेत्र, पश्चिम एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका तथा कैरिबियन क्षेत्र में इसके 11 क्षेत्रीय कार्यालय हैं। यूएनडीपी के साथ इस फंड को भी

टिप्पणी

सन् 1985 में स्वायत्त स्तर दिया गया। यूनीफेम विकासशील देशों में महिलाओं की पहल वाले कामों के लिए सीधे तकनीकी और वित्तीय सहायता देते हैं। यह महिलाओं को विकास, नियोजन तथा निर्णय लेने की मुख्य धारा में लाने का प्रयास करता है। आर्थिक और सामाजिक विकास के द्वारा महिलाओं का जीवन स्तर सुधारकर यूनीफेम वस्तुएं सभी लोगों का रहन सहन सुधारने का प्रयास करता है।

यूनीफेम मुख्यतः तीन क्षेत्रों में काम करता है–कृषि एवं खाद्य संरक्षण, व्यापार, एवं उद्योग, दीर्घनीति निर्माण और राष्ट्रीय नियोजन। महिलाओं का प्रशिक्षण, विज्ञान एवं प्रोद्यौगिकी, ऋण तथा विकास के लिए सूचना और अन्य साधनों तक महिलाओं की पहुंच बढ़े, यह भी इस फण्ड का लक्ष्य है।

यूनिफेम का मुख्यालय न्यूयार्क (संयुक्त राज्य अमेरिका) में है।

भारत में महिला विकास और नई शिक्षा नीति

सन् 1986 की नई शिक्षा नीति में शिक्षा को महिलाओं के स्तर में बुनियादी परिवर्तन लाने के उपाय के रूप में इस्तेमाल करने की व्यवस्था है। इसके अंतर्गत निम्न लक्ष्य रखे गए हैं–

1. महिलाओं को अधिकार देने की दिशा में शिक्षा में सकारात्मक हस्तक्षेप करके शिक्षा प्रणाली को सक्रिय बनाना।
2. विभिन्न पाठयक्रमों में महिलाओं के अध्ययन को बढ़ावा देना।
3. महिलाओं के विकास के लिए सक्रिय कार्यक्रम लागू करने हेतु शैक्षणिक संस्थाओं को प्रोत्साहित किया जाए।
4. व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा के कार्यक्रमों में महिलाओं की सहभागिता बढ़ाई जाए।
5. महिलाओं के उत्थान के लिए निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए गतिशील प्रबंधकीय ढांचा तैयार किया जाए।

महिलाओं की समानता हेतु शिक्षा के लिए एक केंद्रीय योजना, महिला शिक्षा कुछ राज्यों में आरंभ की गई जिसके अंतर्गत गांवों में प्रौढ़ शिक्षा केंद्रों, अनौपचारिक शिक्षा केंद्रों तथा महिला शिक्षा नियमों को महिला शिक्षा कार्यक्रम में समन्वित किया गया ताकि महिलाओं को व्यावसायिक शिक्षा दी जा सके। उसकी शैक्षणिक क्षमता बढ़ाई जा सके और उनके प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया जा सके।

ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक विद्यालयों की अध्यापिकाओं, बाल सेविका, नर्स, स्वास्थ्य रक्षकों, मिडवाईफ जैसी कार्यकर्ताओं का वर्ग तैयार करने तथा जरूरत मन्द महिलाओं को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के लिए केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड, प्रौढ़ महिलाओं के लिए 'सघन शिक्षा पाठयक्रम योजना' चलाता है।

'दलित' शब्द की परिभाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. एन. सिंह की मान्यता है कि ''दलित का अर्थ है– जिसका दलन, शोषण और उत्पीड़न किया गया हो।'' डॉ. भगवान दास कहार की मान्यता है कि 'दलित' शब्द का प्रयोग मानवतावादी दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। उनके मतानुसार ''दलित या शोषित वर्ग से तात्पर्य है एक ऐसे वर्ग, समूह या जाति विशेष का व्यक्ति अथवा वह जाति

टिप्पणी

जिसके धन, संपत्ति, माल, अधिकार एवं श्रम आदि का हरण किसी अन्य सत्ता–शक्ति संपन्न वर्ग या जाति के द्वारा किया जाता हो। यहां यह उल्लेखनीय है कि आज का दलित वर्ग स्वयं को दलित कहलाना पसंद नहीं करता था। डॉ. अंबेडकर ने सन् 1931 के गोलमेज सम्मेलन के लिए तैयार किए गए प्रतिवेदन में कहा कि ''दलित वर्गों के बजाय गैर सवर्ण हिंदू या 'प्रोटेस्टेंट हिंदू' या 'शास्त्रबाह्य हिंदू' जैसा कोई नाम दिया जाय।'' दलित वर्गों की इस आपत्ति को ध्यान में रखते हुए ही गांधी जी ने हरिजन शब्द का उपयोग किया, जिसे गिने–चुने गांधी विरोधियों के अलावा पूरे समाज ने अपना लिया। दलित या हरिजन वर्ग की व्याख्या की कसौटी 'अस्पृश्यता' को माना गया और डॉ. अंबेडकर इस समस्या का संबंध सिर्फ हिंदू समाज से जोड़ते थे। सन् 1936 में अंग्रेजों ने अनुसूचित जाति जैसा विचित्र नाम देकर दलित का नामकरण किया। आज यही नाम सर्वमान्य है।

यद्यपि 'दलित वर्ग' हिंदू समाज का एक अभिन्न अंग है और हजारों वर्षों तक यह शोषण, उत्पीड़न और अत्याचार का शिकार रहा है। भगवान बुद्ध और महावीर के काल से बराबर यह कोशिश की जा रही है कि ऊंच–नीच के भेदभावों को तोड़ा जाए। कबीर, दादू, नानक और चैतन्य प्रभु ने ईश्वर भक्ति पर प्रत्येक मानव का समान अधिकार उद्घोषित किया है। ''हरि को भजै सो हरि का होई'' पर उनकी शिक्षा जातिगत असमानता के कलंक को धोने में कामयाब नहीं हो सकी। पिछले करीब सौ वर्षों के दौरान महात्मा फुले, महात्मा गांधी और डॉ. अंबेडकर की शिक्षाओं तथा द्रविड़ कड़गम व अन्य संगठनों द्वारा शुरू किए गए स्वाभिमान आंदोलन ने दलितों में नई चेतना का संचार किया और उन्हें न्यायपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना सिखाया है।

ज्योतिबा फुले की पहल

महाराष्ट्र में जातिविरोधी आंदोलन की शुरुआत ज्योतिबा फुले के व्यक्तित्व से जुड़ी है। जातीय भेदभाव उन्हें छू भी नहीं गया था। उनके आंदोलन का मूलनाम 'सत्यशोधक आंदोलन' था। ज्योतिबा की मृत्यु 1896 ई. में हुई। वह जीवन भर झूठ, अन्याय और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध लड़ते रहे। चाहे विधवा विवाह का सवाल हो या शिक्षा का, शराब की दुकानों का मसला हो या जातिवाद शोषण का, नौकरशाही के दमन का मसला हो या महाजनों की लूट का भारत की आर्थिक लूट का मसला रहा हो या फिर आम जनता का पैसा फूंककर नया बजार बनाने का हर सवाल पर, हर मौके पर, उन्होंने ब्राह्मणों और उनकी विचारधारा के खिलाफ धर्मयुद्ध छेड़ रखा था। ज्योतिबा का लक्ष्य हर क्षेत्र में न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा करना था। उन्होंने निचले वर्गों में स्वाभिमान और संघर्ष की भावना उत्पन्न करने की कोशिश की। ज्योतिबा ने जिस क्रांति का उद्घोष किया था, उसका प्रभाव तमिलनाडु के द्रविड़ कड़गम आंदोलन में बखूबी देखा जा सकता है।

छुआछूत के विरुद्ध गांधीजी का आंदोलन

बाबू जगजीवनराम एक ऐसे दलित नेता थे जो कांग्रेस संगठन और सरकार में सदा बहुत ऊंचे पदों पर रहें। उनके अनुसार, इस पुरानी व्यवस्था (छुआछूत) पर आखिरी और सबसे शक्तिशाली प्रहार महात्मा गांधी ने किया है उन्होंने दृढ़ता पूर्वक आक्रामक

टिप्पणी

तरीके से और लगातार किंतु सावधानी के साथ इस दिशा में कदम बढ़ाये। महात्मा गांधी वर्णव्यवस्था को बुरा नहीं समझते थे क्योंकि संसार का हर व्यक्ति कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियां लेकर जन्म लेता है। वर्णाश्रम धर्म विशिष्ट प्रवृत्तियों वाले विशिष्ट लोगों के लिए अलग–अलग कार्य क्षेत्र की स्थापना करता है और ऐसा करके उसने समाज में अनुचित प्रतिस्पर्धा को टाला है परंतु यह ऊंचा नियम आज नीचे गिर गया है और शुरू के चार वर्णों के स्थान पर समाज असंख्य जातियों व उपजातियों में बट गया है। गांधी जात–पात को नहीं मानते थे। आदमी के बीच ऊंच नीच का भेद उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। कोई भी मनुष्य अपने को दूसरे से ऊंचा मानता है तो वह ईश्वर और मनुष्य दोनों के सामने पाप करता है। इस प्रकार जात–पात जिस हद तक दर्जे का फर्क जाहिर करती है उस हद तक वह बुरी चीज है जिस व्यापक एकता और मेल मिलाप को गांधी जी देखना चाहते हैं उसका सीधा रास्ता यह था कि छुआछूत का खात्मा हो और वर्षों तक यंग इंडिया व हरिजन पत्रिकाओं में गांधी जी के लेखों की विषय वस्तु यही रही। गांधी जी के शब्दों में ''आज कल हिंदू धर्म में जो अस्पष्टता देखने में आती है वह उसका एक अमीर कलंक है। मैं मानता हूं कि यह एक भयंकर अभिशाप है यदि हम छुआछूत नहीं मिटाते तो दुनिया से हमारा नामोनिशान मिट जाएगा।"

भारत में दलितों के हित में गांधी जी ने एक क्रांतिकारी काम यह किया कि उनके मंदिर प्रवेश पर लगी पाबंदियों को अनुचित ठहराया और उनके साथ मिल–बैठकर काम करने या खानपान के मामले में किसी तरह का कोई परहेज नहीं किया। जहां कहीं भी वह जाते यत्नपूर्वक उन बस्तियों में ठहरा करते थे, जिन्हें उन दिनों 'हरिजन बस्ती' कहा था।

डॉ. अंबेडकर की भूमिका

डॉ. अंबेडकर समता और समाजवाद के कट्टर समर्थक थे। उनका विश्वास था कि शिक्षा और प्रगति के अवसरों की कमी दलितों को ऊपर नहीं उठने देती, जिस कारण वे पिछड़े ही रह जाते हैं। इससे केवल उन्हीं की प्रगति में बाधा नहीं पड़ती, बल्कि देश को भी भारी क्षति उठानी पड़ती है। अभाव से ग्रस्त कोई भी वर्ग देश के उत्थान में सार्थक योगदान कैसे दे सकता है? डॉ. अंबेडकर जात–पात, छुआ–छूत और ऊंच नीच की भावना के कट्टर विरोधी थे। उनका विश्वास था कि सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र के बिना राजनीतिक लोकतंत्र अधूरा और सारहीन है। देश को नया संविधान सौंपते हुए उन्होंने एक गंभीर चेतावनी दी थी। 26 जनवरी को हम अंतर्विरोधों की जिंदगी शुरू करने जा रहे हैं। राजनीतिक दृष्टि से हमारे पास समानता तो होगी, जबकि सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में हम असमान होंगे। इस अंतर्विरोध को हमें कम से कम समय में समाप्त करना होगा, अन्यथा जो लोग असमानता से त्रस्त हैं वे हमारे राजनीतिक लोकतंत्र के ढांचे को चकनाचूर कर देंगे।

दलितों के लिए अंबेडकर का संदेश यह था कि ''आपकी तकलीफ कोई दूर नहीं कर सकता। आप खुद ही अपनी तकलीफें दूर कर सकते हैं और आप उन्हें तभी दूर कर सकते हैं जबकि आपके हाथों में राजनीतिक सत्ता हो।" दलितों की समस्या का समाधान यह है कि उनकी एक मजबूत अखिल भारतीय पार्टी बने जो देश

के तमाम दलितों को एकजुट करें। 1936 में डॉ. अंबेडकर ने स्वतंत्र मजदूर दल की स्थापना की। 1937 में महाराष्ट्र (मुंबई) विधानसभा चुनावों में डॉ. अंबेडकर ने अनुसूचित जाति संघ और रिपब्लिकन पार्टी का गठन किया। डॉ. अंबेडकर के निधन के बाद डा. लोहिया की समाजवादी पार्टी का जयघोष था ''संसोपा ने बांधी गांठ–पिछड़े पावें सौ में साठ''। डॉ. लोहिया के प्रसार से दलितों को पहली बार सत्ता में भागीदारी का सार्थक अवसर मिला और कई दलित नेता उभरकर सामने आए।

हरिजनों के शोषण और उनके दमन का अंत करने के लिए गांधी ने यह चाहा कि गैर हरिजनों के हृदय में दलितों के प्रति करुणा का भाव जगे। अंबेडकर हरिजनों की शिक्षा और उसमें उत्पन्न जागृति व संघर्ष भावना पर ज्यादा जोर देते थे। विधानमंडल और सरकारी नौकरियों में हरिजनों के लिए आरक्षण व्यवस्था के जरिए वे उन्हें राजनीतिक व प्रशासनिक व्यवस्था में भागीदार बनाना चाहते थे। गांधी और अंबेडकर के प्रयास असफल रहे। ऐसा कहने का साहस हम नहीं करेंगे, लेकिन रिपब्लिकन पार्टी के खराब प्रदर्शन से दलित आंदोलन को एक जबरदस्त झटका लगा। काशीराम ने इसका लाभ उठाया और 1981 में उन्होंने दलित शोषित समाज संघर्ष समिति (डी.एस.–4) बनाई। उन्होंने सारे भारत की साइकिल यात्रा शुरू की और उत्तर प्रदेश में आंदोलन चलाया। 1984 में बहुजन समाज पार्टी का गठन किया गया और उसी वर्ष लोक सभा चुनावों में इस पार्टी ने सारे भारत में दस लाख से ज्यादा वोट प्राप्त किए बाद में पंजाब, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश में पार्टी को उल्लेखनीय सफलता मिली, जिसके कारण इन प्रदेशों में बसपा को राज्य स्तर की पार्टी के रूप में मान्यता मिल गई। काशीराम नें 1987 में यह कहा कि भारत का दलित वर्ग सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक क्षेत्रों में असमानता का शिकार है। सभी राजनीतिक दल इस असमानता का पोषण करते हैं और इसे बनाए रखने के पक्षधर हैं। बहुजन समाज पार्टी का संदेश ''जनता के लिए एक गहरी अपील है, क्योंकि हम इस व्यवस्था को नष्ट करने की बात कर रहे हैं।''

दलित चिंतकों की राजनीति का उद्देश्य दलितों को इस रूप में शिखर पर लाना है कि सत्ता संचालन में उनकी भागीदारी अपरिहार्य हो जाए। सत्ता के लिए जोड़–तोड़ तालमेल और जातीय समीकरण बैठाने पड़ेंगे, जिसका काशीराम ने समर्थन किया था।

यह तमाम रणनीति कांशीराम की रही है और इस रणनीति का उन्होंने समय–समय पर बहुत ही बुद्धिमत्ता से उपयोग किया है। अपनी रणनीति को शानदार नतीजे दिलानें में कांशीराम निश्चित ही बहुत ज्यादा सफल रहे और वे सफल इसलिए रहे क्योंकि दलितों को राजनीतिक शिखर पर लाने के अपने लक्ष्य के प्रति वे सदा जागरूक व सावधान रहे। कांशीराम के दलित आंदोलन का परिणाम यह हुआ कि दो बार बसपा प्रमुख सुश्री मायावती उ.प्र. की गठबंधन सरकार की प्रमुख रही और 2007 के उ.प्र. विधान सभा चुनाव में बसपा ने पूर्ण बहुमत प्राप्त किया एवं मायावती एक मजबूत दलित नेता के रूप में सत्यापित हुई।

गरीबी/ग्रामीण निर्धनता

गरीबी और बेरोजगारी ऐसी चुनौतियां हैं जो एक–दूसरे की पूरक हैं; अन्योनाश्रित हैं। गरीबी अवसरों से वंचित करके व्यक्ति को बेरोजगार बनाती है। बेरोजगार आर्थिक दृष्टि से स्वाबलंबी नहीं हो पाता, इसलिए अपनी व पीढ़ी की गरीबी का अभिशाप बनता है।

टिप्पणी

गरीबी का कोई एक शाश्वत अथवा स्वीकृत मापदंड नहीं है। उदाहरण के लिए 1964 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के सूत्रों के अनुसार 1/5 भाग गरीबी के स्तर में रह रहा था जबकि अमेरिका विश्व का सर्वाधिक धनाढ्य देश है। 1993 के आंकड़ों के अनुसार भारत में करीब 40 प्रतिशत व्यक्ति गरीबी रेखा से नीचे रह रहे हैं। यहां यह प्रश्न उठता है कि गरीबी की रेखा का क्या अर्थ है (What is Poverty Line?) वास्तव में, गरीबी का मापदण्ड देश और काल के साथ बदलता रहता है। गरीबी की परिभाषा हम इतनी अपर्याप्त आय के रूप में कर सकते हैं कि व्यक्ति रहन–सहन का न्यूनतम स्तर (साधारण भोजन, मौसम के अनुसार कपड़े और सर के ऊपर छत या छप्पर) भी उपलब्ध न हो सके। संयुक्त राष्ट्र संघ के सर्वेक्षण के अनुसार लगभग 120 डॉलर यानी लगभग 3,500 रुपये से कम वार्षिक आय वाला व्यक्ति गरीबी रेखा से नीचे का जीवन बिता रहा है। वैसे तो देश के सभी हिस्से गरीबी से ग्रस्त हैं। पर उसका सार्वाधिक विस्तार इन प्रदेशों में देखने को मिलता है। बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और मध्य प्रदेश।

गरीबी की पहचान– गरीबी की कोई शाश्वत परिभाषा नहीं है परंतु इसकी परिभाषा देने का प्रयास किया गया है ताकि इसकी पहचान हो सके। गरीबी की पहचान किसी भी समाज के संदर्भ में सापेक्ष तौर पर की जा सकती है। पांल वैस ने निर्धनता की परिभाषा ऐसी अवस्था के रूप में की है जिसमें समाज के वे सदस्य रहते हैं जिनकी आय उस खर्च को वहन करने के लिए न्यूनतम हो। दोडेकर के अनुसार, ''पर्याप्त आय का अभाव ही निर्धनता है चाहे वह किसी प्रकार परिभाषित हो''।

अतः इन परिभाषाओं को देखते हुए सर्वमान्य रूप में कहा जा सकता है। कि यदि किसी व्यक्ति या समुदाय की आय, उसके भोजन, आवास और वस्त्र की पूर्ति करने में असमर्थ हैं, तो उसे गरीब कहा जाता है।

गरीबी की रेखा (Poverty-Line)–गरीबी की रेखा की अवधारणा आथॅर यंग और चार्ल्स बूथ द्वारा पहली बार प्रस्तुत की गयी। इसका तात्पर्य एक ऐसे आय स्तर की ओर था जहां आय के साधन हो परन्तु सुखमय जीवन के लिए अपर्याप्त हो। यह विभिन्न राष्ट्रों के लिए भिन्न–भिन्न हो सकती हैं। जनवरी 1984 में भारत में समाज विज्ञान शोध तथा निर्धनता की समस्या पर हुए प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन में 'गरीबी की रेखा' के सोपान निर्धारित किए गए, जो निम्न हैं–

- कैलोरी यानी भोज्य ऊर्जा चुनाव।
- उनका खाद्य टोकरी में परिर्वतन (Food Basket)
- खाद्य टोकरी के लिए आवश्यक रुपये के आधार पर मूल्य निर्धारण करना।
- गैर–खाद्य पदार्थों जैसे–वस्त्र, आवास इत्यादि की अभिवृद्धि करना।
- इस प्रकार प्राप्त व्यय–राशि को मूल्य में परिवर्तित करना।
- राष्ट्रीय प्रतिवर्ष सर्वेक्षण के आंकड़ों द्वारा वितरित उपभोक्ता व्यय के आधार पर 'गरीबी रेखा' का निर्धारण करना।

भारत में गरीबी रेखा का निर्धारण विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया है। सन् 1983–84 में योजना आयोग के अनुसार यह संख्या 36 प्रतिशत थी जबकि विश्व

बैंक के अनुसार 40 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी के नीचे थी। अगर भारतीय मापदंडों से देखें तो सन् 2003–2004 में गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों का प्रतिशत 26 प्रतिशत है जबकि अंतर्राष्ट्रीय मापदंडों से यह प्रतिशत 70 है।

टिप्पणी

गरीबी का भारतीय लोकतंत्र–संस्थाओं में प्रभाव

योजनाबद्ध विकास (Planned Development) के बावजूद हम श्रमिकों को अच्छा जीवन–स्तर सुलभ नहीं करा सके है। फैक्टरी अधिनियम, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम तथा कर्मचारी राज्य–बीमा का उद्देश्य श्रमिकों की भलाई है, पर उद्योगपतियों ने कानूनों की पकड़ से बचने के लिए तरीके निकाल लिए हैं। महंगाई और मुद्रा स्फीति के कारण समाज के निम्न और मध्यम वर्ग बहुत कष्ट का जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था में गरीबी का गंभीर प्रभाव पड़ा। गरीबी अनेक समस्याओं को जन्म देती है। जैसे–कुपोषण, बेरोजगारी, अशिक्षा, अपराध, हिंसा आदि। आज कर भयंकर समस्या आतंकवाद भी गरीबी से प्रभावित है। आतंकवादी संगठन गरीब नवयुवकों को धन के लालच में आतंकवादी गतिविधियों में शामिल करते हैं। इसके कुछ प्रभाव निम्न हैं–

(1) **शासन में गरीबी की उपेक्षा**–लोकतंत्र को 'जनता शासन' कहा जाता है अर्थात ''लोकतंत्र में शासन की शक्ति किसी वर्ग विशेष के हाथ में न होकर समूची जनता के हाथों में होती है।'' पर व्यवहार में गरीब को लक्ष्य नहीं मिल पाता है और न वह राजनीति स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है। धन्नासेठ आम लोगों की भूख का अनुचित लाभ उठा सकते हैं और उठाते भी हैं। उन्हें भांति–भांति के प्रलोभन देकर उनके वोट खरीद लिए जाते हैं। इससे हमारा यह मतलब नहीं है कि करोड़पति और धन्नासेठ चुनाव हारते नहीं। फिर भी, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि पैसे की शक्ति ने चुनावों में भ्रष्टाचार को जन्म दिया है।

(2) **हिंसा एवं असंतोष**–आर्थिक असंतोष से वर्ग–संघर्ष बढ़ता है फलस्वरूप उग्र प्रदर्शन और तोड़–फोड़ का सिलासिला शुरू हो जाता है। देश के विभिन्न भागों में वेतन–वृद्धि और रोजगार की मांग को लेकर बड़े–बड़े प्रदर्शन हुए, मोर्चे लगे, धरने दिए गए और यहां तक कि सार्वजनिक संपत्ति को भी हानि पहुंचाई गई। मंडल आयोग और पिछड़ी जाति के लिए आरक्षण के खिलाफ जो आंदोलन और आत्मदाह की घटनाएं हुईं, उनसे सारे देशवासी विचलित थे। लेकिन छात्र–छात्राओं का यह गुस्सा बेरोजगारी की अभिव्यक्ति करता है जिसका कि वह शिकार हैं। उनका भविष्य अंधकार में है और बड़े गुस्से से अपने अपने चारों और फैले हुए भ्रष्टाचार व प्रशासन की लापरवाही को देख रहे हैं।

(3) **प्रशासन की कठिनाइयां**–सारे देश और कानून व्यवस्था बनाये रखना प्रशासन का दायित्व है, पर एक लोक कल्याणकारी राज्य में प्रशासन की ओर भी बहुत सी जिम्मेदारियां हैं। प्रशासन की शक्ति यदि 'भूमिहीन और भूस्वामी' तथा 'मजदूर' और 'मालिक' के बीच टकराव से निबटने में ही लग जाएं तो कल्याणकारी व विकासात्मक कार्यों की उपेक्षा होगी ही। भारत के कई हिस्सों में अब यही

टिप्पणी

स्थिति पैदा हो गई है। सर्वसाधारण जनता और पुलिस के बीच टकराव एक आम बात बन गई है।

(4) **भ्रष्टाचार में वृद्धि**–देश में भ्रष्टाचार की अत्यधिक वृद्धि हुई है। चारो ओर आपाधापी मची है। संपन्न वर्ग राजनेता तथा सरकारी कर्मचारी ज्यादा से ज्यादा सुविधाएं भोगना चाहते हैं, और जिन लोगों के पास कुछ है ही नहीं वे तो भ्रष्टाचार क्या और भी कई भीषण अपराधों की ओर कदम बढ़ा सकते हैं।

गरीबी उन्मूलन के लिए गणवानों के साथ–साथ राज्य को उन बड़े समूहों यानी गरीबों के हितों का ध्यान रखना होगा, जिनकी संख्या कई करोड़ है। परंतु जिनका दबाव अभी इनकी संख्या के अनुपात में मुखर नहीं हो पाया है। गरीबी उन्मूलन लोकतांत्रिक समाज की मांग है। इसके लिए राजनीतिक ढांचे का विकेंद्रीकरण, पंचायती संस्थाओं का विकास, अधिकाधिक जन–भागीदारी देकर स्वायत्तता और आत्मनिर्भरता पर आधारित आर्थिक विकास करना होगा तभी लोकतंत्र वास्तविक एवं स्थाई हो पायेगा।

गरीबी निवारण के उपाय

तृतीय विश्व के अन्य देशों की भांति भारत में भी गरीबी उन्मूलन नीति के विषय में दो मत प्रचलित हैं–

(1) एक के अनुसार भारत के गरीबों की स्थिति के सुधार के लिए ऐसी नीतियां अधिक लाभदायक हो सकती हैं जो अर्थव्यवस्था में उच्च एवं सर्वांगीण संवृद्धि का लक्ष्य रखती है।

(2) दूसरे के अनुसार गरीबी उन्मूलन के ऐसे विशिष्ट कार्यक्रम अधिक लाभदायक हो सकते हैं जो निर्धनों की निर्धनता की स्थिति को ऊपर उठाने का लक्ष्य रखते हैं।

इन दोनों मतों को समायोजित करते हुए 1980 एवं 1990 के दशकों में सरकार द्वारा गरीबी उन्मूलन के लिए सुनिश्चित एवं विशिष्ट लक्ष्य निर्धारित किए। गरीबी दूर करने के निम्न उपायों को अपनाना आवश्यक है–

- कृषि को प्राथमिकता दी जाए। खाद, बीज और पौधों के सरंक्षण की अच्छी व्यवस्था हो तथा सिंचाई–सुविधाओं का विस्तार किया जाए। इसके अतिरिक्त यह भी जरूरी है कि किसानों को कृषि–उपज का उचित मूल्य मिले।
- छोटे–छोटे किसानों, तथा खेतिहर मजदूरों के कल्याण पर विशेष बल दिया जाए। उन्हें सरकारी बैंकों की मार्फत कम ब्याज पर ऋण दिया जाए। कृषि मंत्रालय की पहल पर भारतीय रिजर्व बैंक ने उन किसानों को ऋण–सुविधा देने की घोषणा की हे, जो कृषि का व्यापीकरण करना चाहते हैं। सहकारी समितियों के लिए भी ऋण–ढांचे में सुधार किया गया है।
- उद्योगों का तेजी से विकास किया जाए। साथ ही कल–कारखानों में इतनी बढ़िया चीजें बनाई जाएं कि उनके निर्यात से हमें विदेशी मुद्रा उपलब्ध हो सके। औद्योगिक नीति को उदार बनाकर देश के आर्थिक विकास को गति प्रदान करने की कोशिश जारी है। नये उद्योगों की स्थापना और पुराने उद्योगों के विस्तार के लिए जरूरी लाइसेंस प्रणाली को समाप्त कर दिया गया है।

प्रवासी भारतीयों से कहा गया है कि वे अपनी बचत भारत में लगाएं। इसके लिए उन्हें कुछ खास सुविधाएं दी जा रही हैं।

- श्रमिकों के कल्याण से संबंधित कानूनों को प्रभावी ढंग से लागू किया जाए ताकि उन्हें हड़ताल का रास्ता न अपनाना पड़े। आज के प्रतिस्पर्धा के युग में श्रमिकों के परंपरागत दृष्टिकोण में परिवर्तन जरूरी है।
- भौतिक साधनों का अधिक से अधिक इस्तेमाल करके रोजगार के अवसरों में वृद्धि की जाए। फरवरी 199 में संसद में प्रस्तुत आर्थिक सर्वेक्षण के अनुसार 1994–1995 में करीब 72 लाख नये रोजगार पैदा हुए हैं।
- पुराने रीति रिवाजों को भी बदलना होगा। भारत की जनसंख्या में प्रतिवर्ष 1.6 करोड़ की वृद्धि हो रही है। जनसंख्या वृद्धि पर रोक लगाने की आवश्यकता है। समाज के कमजोर वर्गों का विकास किया जाए तथा ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न की जाएं कि बच्चों व महिलाओं को ऐसे रोजगारों में ना जाना पड़ें जो उनकी आयु व शक्ति के अनुकूल नहीं है।

टिप्पणी

विभिन्न सरकारी योजनाएं– यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि ग्रामीण निर्धनता ही शहरी निर्धनता का मूल कारण है। अतः उसका उन्मूलन ही प्राथमिक लक्ष्य होना चाहिए। इसके लिए सरकार ने ग्रामीण क्षेत्रों पर विशेष रूप से रोजगार उत्पादन पर बल दिया। परिणाम स्वरूप काम के बदले अनाज 'राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम' (Rural Landless Employment Programme-NREP) का नया रूप दिया गया भूमिहीन श्रमिकों को इस दृष्टि में रखते हुए भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (Rural Landless Employment Guarantee Programme- RLEGP) शुरू किया गया। छोटे एवं सीमांत किसानों के लिए लघु कृषक विकास एजेंसी जैसे कार्यक्रम आरंभ किए गए। पट्टेदारी फालतू भूमि का वितरण, चकबंदी एवं मध्यस्थ काश्तकारी उन्मूलन से संबद्ध विभिन्न भूमि सुधार अधिनियम बनाये गए।

इंदिरा आवास योजना को ग्रामीण गरीबी उन्मूलन का महत्वपूर्ण घटक बनाया गया। 1990 में सभी वेतन रोजगार कार्यक्रमों का जवाहार रोजगार योजना में विलय कर दिया गया। केंद्र के तत्वाधान में चलाई जा रही समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (Integrated Rural Development Programme) का लक्ष्य चिह्नित परिवारों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाना था। 1979 से केंद्र द्वारा कार्यान्वित 'स्व–रोजगार के लिए प्रशिक्षण की राष्ट्रीय योजना' (TRYSEM) शुरू की गयी। ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए 'ग्रामीण क्षेत्रीय महिला व बाल विकास कार्यक्रम' (DQCRA) प्रारंभ किया गया।

सितम्बर 1986 में शहरी गरीबों के लिए स्व–रोजगार कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। इसी प्रकार शिक्षित बेरोजगार युवकों, अनुसूचित जाति व जनजाति के लिए, कारीगरों, छोटे व्यापारियों के लिए विभिन्न योजनाएं एवं रियायतों पर ऋण उपलब्ध कराए गए। पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा जनवरी 2004 में किसानों के लिए रियायती ऋण एवं रोजगार संबंधी विभिन्न योजनाओं की घोषणा की गयी।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. वैदिक काल में जाति वर्ण के रूप में थी। प्रथम वर्ण था–

   (क) क्षत्रिय (ख) वैश्य

   (ग) ब्राह्मण (घ) शूद्र

2. भाषावादी राज्यों के समर्थक कौन थे?

   (क) महात्मा गांधी (ख) पं. नेहरू

   (ग) अटल बिहारी वाजपेयी (घ) इनमें से कोई नहीं

5.3 जनमत : मास मीडिया की भूमिका

लोकतंत्र का मूलाधार तत्व जनसंप्रभुता है, जिसका तात्विक अर्थ जनप्रतिनिधिक सरकार के निर्माण की शक्ति जनता के हाथों में निहित होना है। जनसंप्रभुता और जनमत दोनों अन्योन्याश्रयी है जिनका इस्तेमाल करके जनसाधारण अपनी इच्छानुरुप जनप्रतिनिधियों का चयन करती है। चुनाव परिणाम के रूप में मतपेटियों से जो जनादेश बाहर आता है, उसका आधारतत्व जनमत और जनसंप्रभुता की शक्ति है। जनमत का सीधा सरोकार जनता से है, इसलिए इसकी अवहेलना करके कोई भी जनप्रतिनिधिक सरकार अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकती है। वस्तुतः जनतांत्रिक सरकारों की बुनियाद है जनमत और यही इनके जीवित रहने के लिए ऑक्सीजन भी है।

भारतीय राजनीति के संदर्भ में समय–समय पर यह राजनीतिक उदासीनता देखने को मिलती है। राजनैतिक व्यवस्था के संबंध में अनेक पक्षों द्वारा यह समझा जाता रहा कि कुछ ऐसे कारण हैं जो राजनैतिक व्यवस्था पर प्रभाव डालते हैं। यह कारण ही राजनीतिक उदासीनता के पर्यायवाची होते हैं। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि राजनीतिक उदासीनता राजनीति के प्रति व्यक्ति या निष्क्रियता है। राजनीतिक समाजीकरण का ठीक ढंग से न होना भी उदासीनता को जन्म देता है।

जब भी देश में कोई नया राजनैतिक परिवर्तन होता है या राजनैतिक संघर्ष की स्थितियां पनप जाती हैं, तब देश के राजनैतिक हालात भी व्यक्तियों में बड़े पैमाने पर उदासीनता की स्थिति को निर्मित करते हैं। सरकार की प्रणाली चाहें जो भी रही हो राजनीतिक उदासीनता के तत्व हर शासन प्रणाली में पाए जाते रहे हैं। व्यक्ति या राजनेता जब किसी राजनैतिक व्यवस्था से अपना अनुकूलन नहीं कर पाते हैं तो उनमें राजनीति के प्रति द्वेष, घृणा, विग्रह या उदासी के भाव उभर कर सामने आते हैं। यही भावना आगे चलकर व्यक्ति को राजनैतिक संन्यास की ओर ढकेलती है।

प्रजातांत्रिक व्यवस्था वाले देशों की सरकारों के लिए राजनीतिक उदासीनता अच्छी बात नहीं कही जा सकती है। क्योंकि प्रजातंत्र में सभी लोगों को राजनीति में आने का समान अवसर सुलभ होता है। भारत जैसे विकासशील राष्ट्र में हम विभिन्न क्षेत्रों तक विभिन्न समुदायों के अंदर राजनैतिक उदासीनता की धारणा को देखते हैं। अशिक्षित गरीब जनता को कहते सुना जाता है कि 'हमें अपने पेट से मतलब है, नेता व राजनेता से कोई लेना देना नहीं है। इसे भी राजनैतिक उदासीनता की परिधि में लिया जा सकता है।

टिप्पणी

राजनैतिक वातावरण के तत्व जन आकांक्षाओं के प्रतिकूल होने की दशा में राजनैतिक व्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव डालते हैं। यह प्रभाव सरकारों तथा उसके अंगों पर भी पड़ता है जिसके फलस्वरूप राजनीतिक विज्ञान राजनैतिक उदासीनता का वातावरण तैयार होता है। सरकार की नाकामी भी उदासीनता की परिचायक मानी जा सकती है।

5.3.1 जनमत का अर्थ एवं परिभाषाएं

जनमत अंग्रेजी भाष के 'पब्लिक ओपीनियन' शब्द का हिन्दी अनुवाद हे। इस शब्द के निर्माण में दो शब्दों 'पब्लिक और ओपीनियन' का योग है, जिसका अर्थ क्रमशः 'जनता' और 'मत' है। शाब्दिक तौर पर जनमत का अर्थ है 'जनता का मत' या दृष्टिकोण। साधारण बोलचाल की भाषा में नहीं रखा जा सकता है। सभी समाज के सदस्यों के स्वभाव, विचार, दृष्टिकोण, शिक्षा, रहन–सहन के स्तर, आदि में समानता नही होती है, इसलिए एक ही मुद्दे पर सदस्यों के मतों में काफी भिन्नताएं पायी जाती है। एक ही प्रसंग या मुद्दे पर कुछ सदस्यों द्वारा मताभिव्यक्ति व्यक्तिगत दृष्टिकोण के आधार पर की जाती है, तो कुछ सदस्य धार्मिक, साम्प्रदायिक, आर्थिक व सामाजिक दृष्टिकोण को आधार बनाकर अपना मत अभिव्यक्त करते हैं। कुछ लोगों का मानना है कि बहुसंख्यक जनता का मत ही जनमत है। लेकिन, जनमत का यह अर्थ निकालना एक बड़ी भूल है। किसी भी समाज में बहुसंख्यक मत अन्यापूर्ण या अल्पसंख्यक विरोधी भी हो सकता है, इसलिए बहुमत को जनमत की संज्ञा नही दी जा सकती है।

लार्ड ब्राइस के शब्दों में, "जनमत का प्रयोग सामान्यतः सार्वजनिक हितों से संबंधित विषयों पर लोगों के एकत्रित विचारों को सूचित करने के लिए किया जाता है।"

वाल्टर लिपमैन के शब्दों में, "जनमत लोगों के मस्तिष्क की वे धारणांए है जो वे अपने बारें में, दूसरों के बारें में तथा अपनी जरूरतों, उद्देश्यों एवं सम्बन्धों के बारे में रखता है।"

सोल्टाऊ के शब्दों में, "इस शब्द का प्रयोग साधारणतया उनक विचारों एवं इच्छाओं के सम्बन्ध में किया जाता है जो जनता अपने सामान्य जीवन के सम्बन्ध में रखती है।"

कैरोल के शब्दों में, "व्यवहार में जनमत का प्रयोग सामान्य जनता की मिश्रित प्रतिक्रिया के रूप में किया जाता है।"

विलोबी के शब्दों में, "जितने ही अधिक लोगों द्वारा कोई मत ग्रहण किया जायेगा, उतना ही अधि कवह सार्वजनीन होगा।"

डूब के शब्दों में, "जनमत का अर्थ है एक ही सामाजिक समूह के रूप में जनता का किसी प्रश्न या समस्या के प्रति विचार।"

किंबाल यंग के शब्दों में, "जनमत उन मतों से बनता है जो किसी एक निश्चित समय में जनता का मत होता है।"

सारांशतः कहा जा सकता है कि सही अर्थों में विवेक और जनकल्याण पर आधिारित मत को जनमत की कोटि में रखा जाता है। जनमत में सम्पूर्ण समाज का हित एवं विश्वास निहित होता है। यह किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष का ध्यान न रखकर समस्त समाज के हित की कामना रखता है। वास्तविक जनमत हमेशा

टिप्पणी

नैतिकता तथा न्याय पर आधारित होता है। इसकी प्रकृति विवेकसंगत और स्वार्थ रहित होती है। सही जनमत के अन्तर्गत अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनों वर्गों का हित समावेशित होता है। जनमत पर जनसाधारण की सहमति होती है। इस प्रकार, थोड़े शब्दों में जनमत विवेकसंगत एवं स्वार्थरहित मत का नाम है जो सदैव सार्वजनिक हित की कामना करता है और जिसपर जनसामान्य की स्वीकृति वांछनीय होती है।

5.3.2 अशिक्षित समाज में जनमाध्यमों की भूमिका एवं समस्याएं

गांवों के दूर दराज इलाके में जहां समाचार पत्र शायद ही पढ़े जाते हैं, बिजली के अभाव में टेलीविजन सेट भी बेकार पड़ा रहता है वहां आज भी रेडियो, ट्रांजिस्टर सेट सूचना–संवाद को प्रेषित करने का सबसे लोकप्रिय माध्यम है। रेडियों में प्रसारित लोहा सिंह का नाटक जन–जन तक संदेश पहुंचाने तथा जनसंपर्क करने का काफी लोकप्रिय माध्यम रहा है। सन् 1952, 1956, तथा 1971 के चीन और पाकिस्तान युद्ध के दौरान विविध भारती पर रोज रात्रि में प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों में लोहा सिंह के नाटक में काम करने वाले किरदार खदेरन की मां द्वारा बोले गये सुप्रसिद्ध संवाद के माध्यम से राष्ट्रीय एकीकरण तथा देशभक्ति की भावना से जुड़ा संदेश जन–जन तक पहुंचाया गया, जिससे प्रेरित होकर आम भारतीय द्वारा स्वेच्छा से राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में अपने सामर्थ्य के अनुरूप पैसा तथा आभूषण दान किया गया था। मिथिला की लोककला के चित्रों के माध्यम से रामराज्य का संदेश प्रेषित किया जाता है। इसी तरह भिखारी ठाकुर का लोकगीत विदेशिया आज भी सामाजिक–पारिवारिक संबन्धों का संदेश घर–घर तक पहुंचाने के लिए काफी प्रासंगिक प्रसारण माध्यम है। नुक्कड़ नाट्कला और कठपुतली का नाच अशिक्षित समाजों संदेश संप्रेषित करनपे के लिए जनसंपर्क के दो अत्यन्त सशक्त माध्यम हैं। इन दोनों कार्यक्रमों द्वारा जहां अशिक्षित समुदायों को आनन्द उठाने, खुश होने का मौका मिलता है, वहीं यह समुदाय इन कार्यक्रमों के माध्यम से विभिन्न प्रकार की सामाजिक–पारिवारिक समस्याओं तथा परिवार नियोजन से संबन्धित सबक लेते हैं। यह महत्वपूर्ण पाठ इस समुदाय के सदस्यों के लिए काफी मूल्यवान होता है। गांव की अशिक्षित महिलाएं नुक्कड़ नाटकों तथा कठपुतली नाच के माध्यम से गर्भनिरोध की तकनीकों को ज्यादा बेहतर ढंग से स्वीकारती है।

मंदिर के पुजारी और मस्जिदों के मौलवी अशिक्षित ग्रामीण समुदायों के बीच महत्वपूर्ण संवाद वाहक की भूमिका निभाते हैं। इनके द्वारा पवित्र रामायण, महाभारत गीता एवं कुरान के देशों द्वारा जन समुदायों को ज्ञान बांटा जाता है स्वतंत्रता–संघर्ष से जुड़े आंदोलनों के समय जब कोई टेलीविजन या इंटरनेट सेवा नहीं थी तब महात्मा गांधी जनसाधारण के बीच सूचना प्रेषित करने के सबसे शक्तिशाली संवाद माध्यम की भूमिका निभाते थे। इन माध्यमों के अतिरिक्त स्थानीय जनसभाओं में श्रोता बनकर ऐसे ग्रामीण सदस्य राजनीति संबंधी ज्ञान अर्जित करते हैं।

पूर्वोक्त प्रसंग इस बात का स्पष्टीकरण करते हैं कि आज 21वीं सदी में भी अशिक्षित समाजों में संप्रेषण की समस्याएं गंभीर है जिनका समाधान विकासशील देशों की लोकतांत्रिक सरकारों के लिए एक बड़ी चुनौती का विषय है। निरक्षरता अपने दामन के कई बड़ी समस्याओं को समेट कर साथ लिए चलती है और कई

टिप्पणी

गंभीर समस्याओं के उद्‌भव का मूल कारक भी बनती है जो लोकतंत्र को सफलीभूत होने के मार्ग में विविध प्रकार की अड़चनें पैदा करती हैं। इस संदर्भ में निरक्षरता का स्तर राजनीति और राज–व्यवस्था दोनों के लिए संजीदा चुनौतियां पैदा करता है। राज व्यवस्था के बहुआयामी–बहुदिशायी उत्तरोत्तर विकास हेतु पूर्ण रूप से निरक्षरता का उन्मूलन करना प्रत्येक जनप्रतिनिधिक सरकार का प्राथमिक दायित्व है क्योंकि निरक्षरता व्यवस्था के निर्धारित लक्ष्यों की सिद्धि के मार्ग की सबसे बड़ी रुकावट है। किसी भी जनतांत्रिक व्यवस्था के यथेष्ट विकास एवं आधुनिकीकरण के लिए समाज के सदस्यों का शत प्रतिशत शिक्षित होना अनिवार्य तत्व है। निरक्षरता की चिंताजनक स्थिति की वजह से राजनीतिक दल एवं राजनीतिज्ञ अशिक्षतों को थोड़ी–बहुत सुविधाएं प्रदान करके चुनाव के समय उनके मतों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने में सफल हो जाते हैं। अशिक्षा निर्धनता, बेरोजगारी, जनसंख्या विस्फोट तथा अन्य ऐसी ही बीमारियों की जड़ है। इस परिस्थिति में जीवन यापन करने वाले मतदाता अपनी छोटी–छोटी जरूरतों के लिए भी दलों एवं दलीय नेताओं के राजनीतिक दांवपेच में फंसकर अपने नागरिक अधिकारों–स्वतंत्रताओं का सौदा करने के लिए विवश होते हैं। किसी भी राज्य व्यवस्था की सफलता, लोकप्रियता, स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि राज्य अपने नागरिकों को जीवन की बुनियादी सुविधाएं मुहैया कराएं एवं उत्तम जीवन के साधनों की व्यवस्था करें। इन समस्त प्रक्रियाओं को व्यवहारिक जमीन पर उतारने तथा अशिक्षित समाज के नागरिकों में राजनीतिक चेतना जगाने में जनसंपर्क के साधनों की भूमिका सबसे प्रधान है।

भारत एक विकासशील राष्ट्र से विकसित राष्ट्र बनाने की दिशा में कदम बढ़ा रहा है, लेकिन इन बढ़ते कदमों की सबसे बड़ी नाकामयाबी हमारी गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी तथा जनसंख्या में बेतहाशा वृद्धि है। भारत के सभी राज्यों की जमीन पर आतंकवाद एवं नक्सलवाद अपनी जड़ें मजबूत कर रहा है। आज हालात यह है कि तमाम आर्थिक गतिशीलता के बावजूद गरीबी–अमीरी के बीच की खाई बढ़ती जा रही है। जनसंख्या नियंत्रित होने के बजाय प्रति वर्ष दो करोड़ की दर से बढ़ रही है। समस्याओं के ढेर पर बैठे देश को एकमात्र प्रबुद्ध लोकतंत्र का सहारा है। अब जरूरत है समृद्धि की परिकल्पना को जमीनी हकीकत में बदलने की तभी हमें वास्तविक लोकतंत्र की अनुभूति होगी। 36 राज्य (28 राज्य एवं 8 केंद्र शासित प्रदेश) 6400 जातियां, 22 भाषाएं, 6 धर्म एवं 6 नृतजातीय समूह को एक सूत्र में पिरोने वाले इस राष्ट्र को स्वस्थ और प्रबुद्ध जनमत के निर्माण एवं अभिव्यक्ति की बेहद जरूरत है। जनसंपर्क के समस्त साधनों का यह दायित्व बनता है कि वह समाज के सभी वर्गों में यथोचित राजनीतिक चेतना उत्पन्न कराएं। वे देश की समृद्धि के लिए सकारात्मक सोच विकसित कराने में मूल रूप से मददगार बने ताकि हमारा देश भुखमरी, बेरोजगारी, अशिक्षा व जनसंख्या आधिक्य सरीखी संगीन बीमारियों से मुक्त होकर स्वस्थ जनमत के निर्माण की दिशा में ठोस कदम बढ़ाने योग्य अपने को पा सके।

अशिक्षित समाजों में स्वस्थ और ठोस जनमत–निर्माण के पहलू पर जनसंचार एवं संप्रेषण के संबंधित कई समस्याएं एवं बाधाएं हैं, जिनकी विवेचना निम्नांकित संदर्भों में की जा सकती हैं–

टिप्पणी

1. **अशिक्षा**– विकासशील अल्पविकसित समाजों में निरक्षरता स्वस्थ व ठोस–जनमत निर्माण में सबसे बड़ी बाधा है। अशिक्षित समाजों के सदस्य जनसंपर्क के अधिकांश साधनों का उपयोग ही नहीं कर पाते हैं। मसलन इनके लिए समाचारपत्र–पत्रिकाएं राजनीतिक साहित्य आदि बेमानी है क्योंकि निरक्षर होने की वजह से इन पुस्तकों पत्र–पत्रिकाओं का प्रयोग करके ज्ञान का लाभ अर्जित नहीं कर सकते हैं। इसका दुखद परिणाम या होता है कि वे प्रकाशित मीडिया में छपी खबरों लिखो विचारों आदि से ना तो अवगत होते हैं ना ही उसका लाभ उठा सकते हैं और ना ही अपने विचारों को लेखों के माध्यम से दूसरों तक पहुंचा सकते हैं। उन्हें यथोचित राजनीतिक प्रशिक्षण प्राप्त करने उनमें राजनीतिक चेतना उत्पन्न कराने तथा विचार अभिव्यक्ति के लिए मानसिक स्तर पर कमजोर बनाने का मुख्य कारक निरक्षरता है। शिक्षा की वजह से उन्हें एक स्वतंत्र नागरिक के रूप में अपना अधिकारों कर्तव्यों का ज्ञान नहीं हो पाता है। अपने संकुचित दृष्टिकोण व मानसिकता के कारण व्यवस्था की राजनीति और राजनीतिक जीवन के प्रति उनका कोई रुझान नहीं होता है। वस्तुतः अशिक्षा एवं सदस्यों को अपनी राजनीतिक व्यवस्था राजनीतिक प्रक्रिया राजनीतिक दल सक्रिय राजनीति एवं शासक वर्ग से सीधा सरोकार रखने में बाधक की भूमिका निभाता है और देश में स्वस्थ एवं ठोस जनमत के निर्माण में सबसे बड़ी रुकावट बनता है।

2. **निर्धनता**– निर्धनता अशिक्षित समाजों में स्वस्थ व ठोस जनमत के निर्माण में सबसे बड़ी रुकावट है निर्धनता इस समाज के सदस्य में आदर्श नागरिक के गुणों का विकास नहीं होने देता है। एक भूखे व्यक्ति के लिए राष्ट्रहित और जनमत निर्माण की बातें बेमानी है। बहुत हद तक निर्धनता ही इस समाज के सदस्यों को शिक्षा प्राप्त करने के अवसर से भी वंचित करता है। निर्धनता मनुष्य के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है और बात यह कि लोकतांत्रिक समाज के सदस्यों की हो वहां निर्धनता लोकतंत्र के लिए सबसे बड़ा अभिशाप बन जाती है क्योंकि यह आदर्श नागरिक और आदर्श जनमत के निर्माण में सबसे बड़ी रुकावट बनती है। यहां तक कि ऐसे अभावग्रस्त मतदाता चुनाव के समय अपने मतों के लेनदेन का सौदा रोटी के चंद टुकड़ों के लिए विवश होते हैं। लेनदेन की इस राजनीति में मतों के ठेकेदारों का इनके वोटों पर पूरा कब्जा हो जाता है। इस प्रकार निर्धनता जनमत के निर्माण व अभिव्यक्ति में एक बड़ी बाधा है।

3. **सामाजिकता**– राजनीतिक जीवन के प्रति तटस्थता– अशिक्षा और निर्धनता इस समाज के सदस्यों को राजनीतिक–सामाजिक जीवन की आकर्षण चकाचौंध से विमुख करता है यानी कि राजनीति के प्रति तटस्थ बनाता है। राजनीतिक सामाजिक जीवन के प्रति विमुखता की अभिवृति उनके राजनीतिक दृष्टिकोण को संकुचित बनाते हैं और उन्हें एक स्वतंत्र देश के नागरिक के रूप में अपने अधिकारों कर्तव्यो का ज्ञान अर्जित करने तथा लाभ उठाने के योग्य नहीं बनने देते हैं। इस प्रकार राजनीतिक–सामाजिक जीवन के प्रति विमुखता जहां उन्हें एक आदर्श नागरिक बनने से रोकती है, वहीं जनमत–निर्माण व अभिव्यक्ति में भी गंभीर अवरोधन पैदा करती है।

टिप्पणी

4. **राजनीतिक चेतना का अभाव**– सामाजिक राजनीतिक जीवन के प्रति उदासीनता ऐसे नागरिकों के अंदर राजनीतिक चेतना जागृत नहीं होने देता है। राजनीतिक चेतना के अभाव में यह अपने नागरिक अधिकारों और प्रयोग के साथ–साथ राष्ट्र की समृद्धि और इसके रास्ते में आने वाली अड़चनों के प्रति उदासीन और संवेदनहीन होते हैं। इसके परिणाम स्वरूप व्यवस्था की सार्वजनिक समस्याओं का हल ढूंढने में मददगार बनने के प्रति ना तो इनकी अभिरुचि होती है और ना ही समस्या निदान के संबंध में यथोचित मत का निर्माण कर सकते हैं। इस प्रकार राजनीतिक चेतना की गैर हाजिरी इन समाजों में जन्नत निर्माण और अभिव्यक्ति के रास्ते में एक बड़ी रुकावट है।

5. **राष्ट्रीयता की भावना का अभाव**– किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था के जनमत निर्माण व अभिव्यक्ति प्रक्रिया में नागरिकों के अंतः करण में मौजूद राष्ट्रीयता की भावना आधार तत्व की भूमिका अदा करती है। अशिक्षा, निर्धनता तथा जीवन के प्रति उदासीनता का भाव इस समाज के सदस्यों को राष्ट्रीयता का बोध नहीं होने देता है। राष्ट्रीयता के तत्वों की अनुभूति नहीं होने की वजह से तथा राष्ट्रहित के ज्ञान के अभाव में इस समाज के सदस्यों में ठोस जनमत निर्माण एवं स्वस्थ विचार की अभिव्यक्ति की संभावना नहीं के बराबर होती है।

6. **गलत सिद्धांतों के आधार पर राजनीतिक दलों का गठन**– विकासशील व्यवस्थाओं में राजनीतिक दलों का निर्माण जाति धर्म, वर्ग क्षेत्रीयता का सांप्रदायिकता जैसे संक्रमण तत्वों पर आधारित होता है। इस तंग राजनीतिक मानसिकता के कारण समाज तथा सामाजिक जीवन के प्रति राजनीतिक दलों एवं नेताओं का नजरिया भी संकुचित होता है । इस नजरिया के कारण राजनीतिक दल और उनके नेता गण अशिक्षित समाज के समुन्नति विकास के नाम पर मतों की राजनीति करते हैं और अपने वोट बैंक में बढ़ोतरी के लिए हर राजनीतिक गतिविधि को मत प्रबंधन की दृष्टि से अंजाम देते हैं। इस संदर्भ में लिप्सेत की मान्यता है कि प्रत्येक समाज का चाहे जो भी आदर्श हो लेकिन यह सत्य है कि कम पढ़े लिखे समाज और अशिक्षित समाजों में राजनीति के प्रति उदासीनता और सोचने समझने की क्षमता कम होने की वजह से वहां स्टीरियो– टाइप्स मतों की प्रधानता होती है। ऐसे समाजों की जनता अपने सामाजिक वर्ग, जाति, धर्म या व्यक्तिगत परिवेश के प्रचलित दृष्टिकोण शुरू से स्वीकार कर लेती है। यहां के अधिकांश सदस्य प्रशासन और राजनीतिक जटिलताओं को समझने में सक्षम नहीं होते हैं। इसलिए समाज के विशिष्ट वर्ग राजनीतिक दल तथा राजनीतिक नेताओं द्वारा प्रस्तुत विचारों को आसानी से स्वीकार कर लेते हैं। यदि जनसंचार के अभिकरण भी स्वतंत्र और निष्पक्ष ना हो तो संचार उपकरण विदली नेताओं के कार्यक्रमों का प्रचार प्रसार करके लोगों के विचारों को वांछित दिशा में मोड़ कर स्टीरियो टाइप की स्थिति पैदा कर देते हैं। इस प्रकार गलत और संकुचित सिद्धांतों पर आधारित राजनीतिक दल अपने राजनीतिक फायदे के लिए संकीर्ण मानसिकता का प्रयोग करके इस समाज के सदस्यों को जाति, धर्म, वर्ग आदि तत्वों के आधार पर बैठकर अपने आप को सत्तारूढ़ करने का मार्ग सहज सुलभ बनाते हैं और अवस्था में

टिप्पणी

राजनीतिक सौदेबाजी को निरंतर बढ़ावा देते रहते हैं जिससे ठोस जनमत का निर्माण संभव नहीं हो पाता है।

7. **सामाजिक भेदभाव**– विकासशील अवस्थाओं में मौजूद सांस्कृतिक विविधता ही वहां के समाजों में चरम सामाजिक भेदभाव, विद्यमानता की परिस्थितियां पैदा करती है। जाति धर्म, वर्ग, वंश संप्रदाय पर आधारित समाज में मौजूद सामाजिक भेदभाव ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिद्वंद्विता, सांप्रदायिकता, छुआछूत पक्षपात आदि से विभेदीकरण के तत्वों को बढ़ावा मिलता है। विभेदकारी यह तत्व सदस्यों में पृथक्करण की मानसिकता को मजबूती प्रदान करते हैं। ऐसे समाज के सदस्य सार्वजनिक जीवन के राष्ट्रीय प्रसंगों, अपने संकुचित दृष्टिकोण और निजी जरूरतों की पूर्ति में करते हैं। अपनी आवश्यकताओं के कारण अपने ही समाज में बंटी हुई जिंदगी जीते हैं और सामाजिक स्तर पर इनके विभेदन का फायदा राजनीतिक दलों एवं उनके नेताओं को मिलता है। सामाजिक भेदभाव को हवा देकर नेतागण चुनाव में अपनी जीत का मार्ग आसान करते हैं लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर स्वस्थ और ठोस जनमत के निर्माण में भेद भाव चुनावी राजनीति की सफलता में गंभीर अड़चनें उत्पन्न करता है जिसका परिणाम बंटे हुए जनादेश के रूप में सामने आता है।

8. **जातिवाद एवं सांप्रदायिकतावाद**– अशिक्षित समाजों में राजनीतिक दल अपनी राजनीतिक रोटी सेंकने के लिए सदस्यों को जातीयता, सांप्रदायिकता जैसे संवेदनशील तत्वों के आधार पर बांटने का कार्य करते हैं। निरक्षर और निर्धन समाज संकुचित मानसिकता का पोषक होता है इसलिए जाति, धर्म, वर्ग, सांप्रदायिकता आदि विषयों के प्रति इनकी विशेष आसक्ति होती है। विकासशील समाजों में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जातीय एवं राजनीतिक शक्ति के रूप में उदित होकर व्यवस्था की राजनीति के स्वरूप निर्धारण और दलों द्वारा किए जाने वाले मतप्रबंधन में आधार तत्व की भूमिका निभा रही है। राजनीति में जाति के हावी हो जाने की वजह से जातियों का राजनीतिकरण हो जाता है। राजनीतिक दल जातियों को वोट बैंक के रूप में इस्तेमाल करते हैं, इससे समाज के लोगों में पृथक्करण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

   सांप्रदायिकता के अंतर्गत समाज के सदस्यों की ऐसी भावनाएं एवं क्रियाकलापों का समावेश होता है, जिसके तहत किसी धर्म या भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों को प्रमुखता दी जाती है। इससे उस संबंध समूह में पृथकता की भावना उत्पन्न होती है। राजनीतिक दलों द्वारा अपना वोट बैंक मजबूत करने के लिए समाज में ऐसी भावनाओं को प्रोत्साहन दिया जाता है। प्राथमिक स्तर पर यह दोनों तत्व अशिक्षित समाजों में पृथक्करण की प्रवृत्ति का पोषण करते हैं जो ठोस जनमत के निर्माण में एक बड़ी रुकावट है।

9. **सामाजिक बुराइयां**– परंपरागत पिछड़े समाजों में लोगों का सामाजिक जीवन कई बुराइयों में जकड़ा हुआ है जिनमें छुआछूत, भेदभाव, दहेज प्रथा, व्यक्ति पूजा, अपराध, मदिरापान, जुआ, वेश्यावृत्ति, अमीरी–गरीबी के बीच की खाई, अपराध, आदि प्रमुख हैं जो सामाजिक वातावरण को दूषित करती हैं।

इन बुराइयों के चलते सामाजिक पर्यावरण में तनाव की स्थिति बनी रहती है और इस तनावपूर्ण वातावरण में स्वस्थ जनमत के निर्माण एवं अभिव्यक्ति की संभावनाएं क्षीण हो जाती हैं। इस प्रकार सामाजिक बुराइयां जनमत निर्माण में व्यवधान पैदा करता है।

टिप्पणी

10. **क्षेत्रीयतावाद**– विकासशील समाजों में राष्ट्र निर्माण व राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या सभी सरकारों के लिए गंभीर चुनौती बनी हुई है। इन समाजों में राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या का सीधा सरोकार राजनीतिक प्रक्रियाओं की गहराई से है। राष्ट्रीय एकीकरण के भावात्मक तत्वों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि इन समाजों में जातीय, धार्मिक, भाषाई तथा क्षेत्रीयता पर आधारित परंपरागत निष्ठा एवं समाज से जुड़े तथ्य सदस्यों के सामाजिक–राजनीतिक जीवन में प्रधानता रखते हैं जो इन समाजों में क्षेत्रीयतावाद के तत्वों का पोषण करते हैं। क्षेत्रीयतावाद की मानसिकता से ग्रसित नेता सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, भाषाई आदि कारकों का हवाला देकर अपने पृथक अस्तित्व निर्माण के लिए जागरूकता का प्रदर्शन करते हैं। अपने प्रदेश को विशेष स्थिति व पहचान दिलाने की मांग की आड़ में राजनीतिक पृथक राज्य का निर्माण करके अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहते हैं। जैसा कि भारत के प्रादेशिक दलों यथा–डी.एम.के., अकाली दल, झारखंड पार्टी, शिवसेना आदि के द्वारा राजनीतिक कारणों से प्रादेशिकता की मांग समय–समय पर विशेष रूप से उठाई जाती रही है। क्षेत्रीयतावाद जहां राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक बनता है वहीं यह स्वस्थ और ठोस जनमत के निर्माण में अड़चन पैदा करता है। सामान्यतया शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए राज्य जिनमें ज्यादातर लोग निरक्षर हैं वहां राजनीतिक दल एवं नेतागण जात–पात, भाषा, क्षेत्र आदि के आधार पर समाज के विभिन्न समुदायों के सदस्यों को लड़ाकर अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति करते हैं लेकिन क्षेत्रीयतावाद की मानसिकता राष्ट्रीय जनमत के निर्माण में बहुत बड़ी रुकावट बनती है।

11. **सजातीय तनाव एवं संघर्ष**– अशिक्षित समाजों में संप्रेषण की समस्या एवं ठोस जनमत निर्माण के अभाव की एक खास वजह सजातीय तनाव संघर्ष भी है। इन समाजों में विभिन्न भाषाओं, जातियों, धर्मों, संस्कृतियों के लोग निवास करते हैं। इनके बीच वस्तुओं, सेवाओं, अवसरों, लाभों के वितरण से संबंधित परस्पर–विरोधी स्थितियां बनी रहती हैं। यदि समाज के किसी समूह को अन्य समूहों की तुलना में ज्यादा अवसर लाभ या सम्मान मिलता है तो अन्य समूह इनके प्रति द्वेषभाव रखने लगते हैं। यह भाव समूह के बीच विभाजक कार्य तत्वों को जन्म देता है।

12. **पक्षपाती प्रेस**– विकास के समाजों में अधिकांशतया प्रेस की भूमिका पक्षपातपूर्ण होती है। कई बार समाचारों के प्रसारण में भी प्रेस पक्षपाती रवैया अपनाती है। ज्यादातर प्रेस की भूमिका सरकार की तरफदारी करने की होती है। इसलिए किसी भी घटना का प्रकाशन यथोचित रूप में नहीं कर पाते हैं। सत्ता पक्ष नौकरशाही और पूंजीपतियों को संरक्षण देने के फेर में इनके द्वारा प्रसारित खबरें ज्यादातर सत्यता से परे होती हैं। पक्षपातपूर्ण प्रेस के रवैये से कई बार

टिप्पणी

जनता तक सही सूचनाएं नहीं पहुंच पाती हैं। इसलिए जनमत निर्माण और अभिव्यक्ति का स्वरूप भी यहां आज समीचीन रूप में आकार नहीं ले पाता। अशिक्षित समाजों के जनमत निर्माण में प्रेस की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। इस दृष्टि से प्रेस का पक्षपाती रवैया इन समाजों में ठोस जनमत का निर्माण बहुत बड़ा अवरोधक है। किसी भी व्यवस्था में स्वस्थ जनमत के निर्माण में प्रेस का स्वतंत्र निष्पक्ष और निर्भीक होना अति आवश्यक है।

विवेचित् प्रसंग इस तथ्य का स्पष्टीकरण करते हैं कि विकासशील देशों या तीसरी दुनिया के देशों के अशिक्षित समाजों के अशिक्षित या अल्प शिक्षित जनता संप्रेषण मामले में परिस्थितिजन्य कई गंभीर समस्याओं का सामना कर रही है। इन समस्याओं के समाधान में वहां मौजूद राजनीतिक दलों की भूमिका भी बहुत सकारात्मक और सर्जनात्मक नहीं दिखाई दे रही है। अशिक्षा, गरीबी, बेरोजगारी ,आर्थिक पिछड़ापन आदि परिस्थितियों से निपटने के लिए राजनीतिक अभिजनों में आर्थिक राजनीतिक क्षमता व सामर्थ्य का अभाव इन राजनीतिक व्यवस्थाओं के यथोचित विकास का मार्ग अवरुद्ध कर रहा है। राजनीतिक व्यवस्था और सरकार की सामर्थ्य में कमी के कारण आम जनों में व्यवस्था के प्रति असंतोष गहराता जा रहा है। इसका फायदा राजनीतिक दलों एवं दलीय नेताओं द्वारा उठाया जा रहा है। उनके द्वारा जातीयता, क्षेत्रीयता, सांप्रदायिकता जैसे कारकों को बढ़ावा सत्ता प्राप्ति की लालसा–पूर्ति के लिए दिया जा रहा है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. लोकतंत्र में सरकार की निर्माण–शक्ति क्या है?

   (क) जनमत (ख) अभिमत

   (ग) धर्ममत (घ) उक्त सभी

4. जनमत को सामान्य जनता की मिश्रित प्रतिक्रिया के रूप में किसने परिभाषित किया?

   (क) वाल्टर लिपमैन (ख) कैरोता

   (ग) विलोबी (घ) किंबाल यंग

5.4 दल एवं इनके राजनीतिक संदर्भ

राजनीतिक दलों का वर्गीकरण भी विद्वानों के लिए एक 'बौद्धिक दंगल' है। एक ओर जहां वर्गीकरण का परम्परागत सामान्य ढंग है वहीं दूसरी ओर आल्मण्ड, जैम्स जप, जीन ब्लोंडल, नील ए. मैक्डोनाल्ड, सिगमंड न्यूमैन, डुवर्जर आदि ने राजनीतिक दलों और दलीय व्यवस्थाओं का अपने–अपने ढंग से वर्गीकृत किया है। इन वर्गीकरण से हमें राजनीतिक दलों के प्रति नवीन दृष्टिकोणों का बोध होता है।

5.4.1 दलों का वर्गीकरण

प्रथम, सदस्यता प्राप्ति की सरलता और कठिनाई के आधार पर हम दलों को 'खुले' दल और 'बन्द' दल में विभाजित कर सकते हैं। खुले दल वे होते हैं जिनमें किसी भी

टिप्पणी

नागरिक की सदस्यता आसानी से मिल जाती है बशर्ते कि वह दल के सिद्धांतों तथा नियमों को स्वीकार करता हो। इसके विपरीत दलों में हर व्यक्ति के लिए सदस्यता सुगम नहीं होती। उनमें गहरी छानबीन, प्रशिक्षण और परीक्षा के बाद केवल विश्वस्त व्यक्तियों को ही सदस्यता प्रदान की जाती है।

द्वितीय, दलों का एक विभाजन संकुचित और समग्रवादी दलों के रूप में भी किया जाता है। संकुचित दल वे हैं जो ''सदस्यों के जीवन का केवल एक सीमित अंग मात्र होते हैं। संदस्यों के केवल राजनीतिक जीवन से उनका संबंध होता है।'' इनके विपरीत समग्रवादी दलों का संबंध अपने सदस्यों के जीवन के हर पहलू से अर्थात् उनके संपूर्ण जीवन तथा कार्यकलापों से होता है। सदस्यों के जीवन के हर पक्ष पर कठोर दलीय नियंत्रण तथा आदेश लागू होते हैं। अधिकांशतः जो दल 'बन्द' होते हैं वे 'समग्रवादी' भी होते हैं। उदाहरणार्थ, रूस या चीन का साम्यवादी दल ऐसा ही 'बन्द' अथवा 'समग्रवादी' दल है, मुसोलिनी का इटली का फासिस्ट दल भी ऐसा ही था और हिटलर का जर्मनी का नाजी दल भी।

तृतीय, दलों का सर्वसाधारण और आम रूप में प्रचलित वर्गीकरण उनके लक्ष्यों के आधार पर किया जाता है। इस आधार पर राजनीतिक दल मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं–रूढ़िवादी या अनुदारवादी (Conservative), उदारवादी (Liberals), प्रतिक्रियावादी (Reactionary) एवं प्रगतिवादी (Radicals)। अनुदारवादी एवं रूढ़िवादी राजनीतिक दल होते हैं जो आकस्मिक और अधिक परिवर्तनों में विश्वास नहीं करते।

अनुदारवादी दल को दक्षिणापंथी दल भी कह दिया जाता है। उदारवादी दल वह होता है जो वर्तमान व्यवस्था से संपूर्ण रूप में सन्तुष्ट नहीं होता और उसकी त्रुटियों में क्रमशः सुधार चाहता है। इसे हम अत्यधिक प्रगतिशील दल नहीं कह सकते क्योंकि यह क्रमिक सुधार का पोषक होता है, आकस्मिक रूप से आमूल परिवर्तनों का नहीं। प्रक्रियावादी दल अत्यधिक दक्षिणापंथी और रूढ़िवादी होता है, जो सदैव अपना मुख पीछे की ओर किए हुए प्राचीन सभ्यता और संस्थाओं को ही सब कुछ मानता है। इनमें अन्ध भक्ति की प्रबलता होती है। परिवर्तनवादी दल वह है जो वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं में आमूल परितर्वन करना चाहता है। इसे हम आमूल परिवर्तनवादी दल भी कह सकते हैं जो वर्तमान व्यवस्था को संपूर्ण रूप से मिटाकर उसके स्थान पर एक नई व्यवस्था स्थापित करने का पोषक है। समाजवादी और साम्यवादी दलों को प्रायः इसी श्रेणी में रखा जाता है।

चतुर्थ, लक्ष्यों के आधार पर दलों का एक अन्य वर्गीकरण भी किया जाता है–वामपंथी व मध्यपंथी। इस वर्गीकरण की उत्पत्ति फ्रांस की संसद में विभिन्न दलों के बैठने की व्यवस्था से हुई है। वहां संसद के अधिक उग्रवादी दल अध्यक्ष के वाम पक्ष में बैठते थे और अधिक रूढ़िवादी अध्यक्ष के दक्षिण में। उग्रवाद तथा रूढ़िवाद के बीच वाले विचार रखने वाले सदस्य सदन के मध्य में बैठते थे। इसी आधार पर संसार में उग्रवाद विचारधारा के दलों को वामपंथी कहा जाता है तथा रूढ़िवादी दलों को दक्षिणपंथी। इन दो सिरों के बीच में बैठने वालों को उनके विशेष दल की विचारधारा के अनुसार दक्षिणपंथी मध्यम तथा वामपंथी मध्यम इत्यादि की संज्ञा दी जाती है।

टिप्पणी

आल्मण्ड का वर्गीकरण (Almond's Classification)

दलीय व्यवस्थाओं का वर्गीकरण करने के लिए इतना ही काफी नहीं है कि हम केवल दलों के संख्यात्मक पहलुओं पर ध्यान दें, विशेषकर उस स्थिति में जबकि निर्वाचन नियमों में सामान्यत परिवर्तन मात्र से राजनीतिक दलों का उदय, उत्थान और पतन हो सकता है। इसीलिए आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिक सरल संख्यात्मक दृष्टिकोण (Simple Numerical Approach) से हटते जा रहे हैं; प्रो. आल्मण्ड ने अपने ग्रन्थ 'दी पोलिटिक्स ऑफ दी डेवलपिंग एरियाज' में राजनीतिक दलों की चार प्रमुख श्रेणियां (Major Categories) बताई हैं और साथ ही उनके कुछ उप–विभाग (Sub-divisions) भी किए हैं। ये प्रमुख श्रेणियां और विभाग निम्नानुसार हैं–

(1) 'सत्तावादी' (सर्व सत्तावादी की एक पृथक उप–श्रेणी सहित) ('Authoritarian' with a Separate Sub-category of Totalitarian)

(2) 'प्रमुखतापूर्ण गैर सत्तावादी' (Dominant Non-authoritarian)

(3) 'प्रतिस्पर्द्धात्मक दो दल' (Competitive Two Party)

(4) 'प्रतिस्पर्द्धात्मक बहु–दल' (Competitive Multi-party)

जेम्स जप के मतानुसार यद्यपि आल्मण्ड का यह वर्गीकरण काफी सुधरा हुआ है तथापि अनेक कमियों का शिकार है। यह वर्गीकरण ब्रिटिश और अमेरिकन व्यवस्थाओं को बराबर प्रस्तुत करता है। इस आधार पर बहुत अधिक बल देता है कि एक दलीय व्यवस्थाएं सर्वसत्तावादी व्यवस्थाओं जैसी ही होती हैं, और साथ ही शैलीगत अंतरों (Stylistic Difference), दलीय आकांक्षाओं और दलों द्वारा अपने कार्य करने की प्रभावशीलता आदि तत्त्वों की उपेक्षा करता है। आल्मण्ड का वर्गीकरण इस दृष्टि से उपयोगी है कि उसका सामान्य उद्देश्य आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की विवेचना करना है। किंतु यदि दलों का अधिक निकट से गहन अध्ययन करना है तो आल्मण्ड के वर्गीकरण से एक अधिक सुधरे हुए वर्गीकरण पर नियन–निक्षेप करना होगा।

जेम्स जप का वर्गीकरण (James Jupp's Classification)

यार्क–यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर जेम्स जप ने दलीय व्यवस्थाओं का एक सुन्दर और विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। जेम्स जप की मान्यता है कि दलीय व्यवस्थाओं का वर्गीकरण करते समय केवल संख्यात्मक मापदण्ड (Numerical Criteria) को ही नहीं बल्कि शैलीगत मापदण्ड (Stylistic Criteria) को भी अपनाना चाहिए। उदाहरणार्थ, जब एक सर्वसत्तावादी (Totalitarian) दलीय व्यवस्था को एक सत्तावादी या अधिकारवादी (Authoritarian) दलीय व्यवस्था से पृथक करना हो तो केवल यह तर्क देना ही काफी नहीं है कि छोटे दलों (Minor Parties) की उपस्थिति एक निर्णायक कारक (The Deciding Factor) है। बल्कि अन्य महत्वपूर्ण कारकों को भी ध्यान में रखना होगा, यथा–जीवन के सभी पक्षों पर नियंत्रण की, और ऐसे नियंत्रण के प्रति वैचारिक दृष्टिकोण और शिथिल या कठोर अनुशासन आदि। जेम्स जप ने दलीय व्यवस्था के निम्नलिखित सात प्रकार बतलाए हैं–

1. अस्पष्ट द्वि–दलीय व्यवस्था (Indistinct Bi-partisan System)
2. स्पष्ट द्वि–दलीय व्यवस्था (Distinct Bi-partisan System)

3. बहु–दलीय व्यवस्था (Multi-party System)
4. प्रमुखतापूर्ण दलीय व्यवस्था (Dominant party System)
5. उदार एक दलीय व्यवस्था (Broad One-party System)
6. संकीर्ण एक दलीय व्यवस्था (Narrow One-party System)
7. सर्वसत्तावादी व्यवस्था (Totalitarian System)

टिप्पणी

1. **अस्पष्ट द्वि–दलीय व्यवस्था** (Indistinct Bi-partisan System)–दलीय व्यवस्था के इस रूप का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका है। डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन दलों के कार्यक्रमों में कोई प्रमुख और विषम अंतर नहीं दिखाई देते, विधायिका के दलीय अनुशासन शिथिल है और स्थानीय क्षेत्रों में तो लगभग नहीं के बराबर। फिर भी दलीय निष्ठा की पूर्णरूपेण रक्षा की जाती है। केंद्रीय अंगों का अस्तित्व है, लेकिन उनका मुख्य काम प्रचार है न कि संपूर्ण दलीय यांत्रिकी का नियंत्रण। दल का एक नेता होता है, किंतु उसका महत्व ब्रिटिश नेता की तुलना में बहुत ही कम है। कनाडा, ब्राजील, कोलम्बिया आदि देशों में भी अस्पष्ट द्वि–दलीय व्यवस्था ही देखने को मिलती है।

2. **स्पष्ट द्वि–दलीय व्यवस्था** (Distinct Bi-partisan System)–व्यवस्था का दूसरा रूप 'स्पष्ट' द्वि–दलीय है। इस व्यवस्था में दोनों दलों का एक स्पष्ट पिरामिडी ढांचा और अनुशासन होता है दोनों ही दलों के कार्यक्रम में अंतर बने रहते हैं और दोनों ही दलों में अभिजात–वर्ग के सामाजिक संगठन (Social Composition of their Elites) में महत्वपूर्ण अंतर पाया जाता है। स्पष्टतः द्वि–दलीय अवस्था का प्रमुख रूप उत्तर पश्चिमी यूरोप में देखने को मिलता है। ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, जापान, आस्ट्रेलिया आदि में भी इस दलीय व्यवस्था का अस्तित्व है। ब्रिटेन में रूढ़िवादी दल और श्रमिक दल ही प्रधान है, अन्य दल गौण हैं। श्रमिक दल और रूढ़िवादी या अनुदार दल के कार्यक्रमों में भारी अंतर है। उदाहरणार्थ, अनुदार दल उद्योगों के समाजीकरण का विरोधी है तो श्रमिक दल महत्वपूर्ण व्यवसायों और उद्योग धंधों का राष्ट्रीयकरण करने का इच्छुक। अनुदार दल की सदस्यता प्रधानतः धनीमानी वर्ग के लोगों की है–जबकि श्रमिक दल की सदस्यता अधिकांशतः उन व्यक्तियों की है जो श्रमिक हैं। दोनों दलों के अपने–अपने राष्ट्रव्यापी शक्तिशाली और सुदृढ़ संगठन है।

3. **बहु–दलीय व्यवस्था** (Multi-Party System)–एक बहु–दलीय व्यवस्था में स्थायी गठबंधन इस रूप में नहीं होना चाहिए कि एक द्वि–दलीय व्यवस्था के मुकाबले की स्थिति पैदा हो जाए। जैम्स जप के अनुसार आदर्श स्थिति वह है जिसमें कि प्रत्येक साथ या पार्टनर किसी भी दल के साथ सहयोग करने में समर्थ हो। उदाहरणार्थ, श्रीलंका में प्रतिनिधि सदन में लगभग 10 दल रहे हैं और पिछले कुछ वर्षों में उनमें से प्रत्येक दल किसी न किसी गठबंधन (Coalition) में शामिल रहा है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि दलों का अपना कोई विशिष्ट अस्तित्व नहीं होता। सामयिक गठबंधन करने के बावजूद भी दल अपनी स्पष्टता और विशिष्टता बनाए रखते हैं। सभी प्रतिस्पर्द्धात्मक दलीय व्यवस्थाओं में बहु–दलीय व्यवस्था प्रायः सर्वाधिक अस्थिर रहती है और कोई

टिप्पणी

नहीं कह सकता कि कब कौन–सा दल सत्ताच्युत हो जाए। बाइमर गणराज्य, फ्रांस का चौथा गणराज्य, इण्डोनेशिया, पूर्व–फासिस्ट इटली, कांगो आदि को प्रायः बहु–दलीय व्यवस्था की दुर्बलता के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है।

4. **प्रमुखतापूर्ण दलीय व्यवस्था** (Dominant Party System)–दलीय व्यवस्था का यह रूप कुछ ही देशों में विकसित हुआ है। भारत में यद्यपि अनेक दलों का अस्तित्व है, लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति से लगातार 30 वर्ष तक एकमात्र कांग्रेस दल ही प्रबलता के साथ छाया रहा। जनसंघ, साम्यवादी आदि कोई भी दल कांग्रेस के प्रभुत्व को चुनौती नहीं दे सके। हां 1977 में परिस्थितियां बदलीं और 5 दलों से निर्मित 'जनता पार्टी' के नेतृत्व में शक्तिशाली कांग्रेस दल के पतन ने विश्व को आश्चर्यान्वित कर दिया परंतु वह स्थायी नहीं रह सका। मैक्सिको, मलेशिया, उगाण्डा आदि में भी प्रमुखतापूर्ण दलीय व्यवस्था ही बनी रही है।

5. **उदार एक–दलीय व्यवस्था** (Broad One-party System)–दलीय व्यवस्था का यह रूप काफी भिन्नता रखता है। एक 'उदार' एक 'संकीर्ण' और एक 'सर्वसत्तावादी' एक–दलीय व्यवस्था में अंतर करना प्रायः कठिन होता है और इसीलिए संबंधित दलों का सदैव विस्तृत निरीक्षण किया जाना चाहिए। पारिभाषिक दृष्टि से, ये सभी दल शासकीय दल (Governing Parties) होते हैं, अतः पुलिस, सेना, प्रतिबंध और बन्दीगृह आदि के प्रयोग द्वारा अपना आधिपत्य अथवा प्राधान्य बनाए रखते हैं। संवैधानिक चुनौतियों से मुक्त रहने के कारण, अकेला दल सदैव अधिनायकवादी आकर्षणों का शिकार बन जाता है अर्थात एक–दलीय व्यवस्था में अधिनायकवादी प्रवृत्ति विकसित होने की पूरी संभावना रहती है, फिर चाहे उस (दल) का स्वरूप 'विस्तृत या उदार' (Broad) ही क्यों न हो। फिर भी सभी एक–दलीय व्यवस्थाओं को एक ही श्रेणी में रखना अनुचित होगा। संकीर्ण एक–दलीय व्यवस्था में उदार एक–दलीय व्यवस्था की ओर बढ़ने का एक आन्दोलन विगत वर्षों से गतिमान हुआ है और साम्यवादी जगत, लेटिन अमेरिका और मध्य पूर्व के सैनिक अधिनायकतंत्रों में 'उदारवादीकरण' (Liberalisation) की प्रक्रिया कुछ–कुछ रंग ला रही है। एक–दलीय व्यवस्था को हम 'उदार' की श्रेणी में रखें या 'संकीर्ण' की श्रेणी में–यह इस बात पर निर्भर करेगा कि चुनाव कहां तक लड़े जाते हैं, दल में गुटबन्दी या दलबन्दी की कहां तक स्वतंत्रता है, दल के बाहर समूहों के संगठन को कहां तक प्रोत्साहन दिया जाता है, सार्वजनिक आलोचना कहां तक बर्दाश्त की जाती है।

6. **संकीर्ण एक–दलीय व्यवस्था** (Narrow One-party System)–इस दलीय व्यवस्था की सीमाएं भी अस्पष्ट रूप से परिभाषित हैं। ऐसा अकेला दल किसी सैनिक समूह अथवा किसी संकीर्ण परम्परागत अभिजन–वर्ग का छद्मवेष हो सकता है। उसकी सर्वाधिकारवादी आकांक्षाएं हो सकती हैं, वह अपने कार्य करने के वास्तविक तरीकों को छुपाने का प्रयत्न कर सकता है। जो छोटे अविकसित देश हैं उनमें संकीर्ण एकल दल अधिनायक के व्यक्तिगत गुट (Personal Clique of the Dictator) का रूप ले लेता है–इतना कि उसे हम कठिनाई से ही एक 'दल' की संज्ञा दे सकते हैं। दूसरी ओर यूगोस्लाविया जैसे बड़े राज्यों में संकीर्ण एकल–दल विस्तृत होने की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं।

टिप्पणी

7. **सर्वसत्तावादी व्यवस्था** (Totalitarian System)–दलीय व्यवस्था का अंतिम रूप या प्रकार है 'सर्वसत्तावादी'। राजनीतिक संगठन का यह बिल्कुल नया रूप बीसवीं शताब्दी की उपज है। जर्मन नाजी दल और सोवियत कम्युनिस्ट दल में अपने सर्वाधिक पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने वाला यह सर्वसत्तावाद के सामान्य रूपों में अपनाया गया है। अमेरिकन राजनीतिक शास्त्रियों में सर्वसत्तावाद के सामान्य लक्षणों पर सहमति है, यद्यपि किसी विशिष्ट व्यवस्था के श्रेणीकरण के बारे में असहमति के आधार भी मौजूद हैं। यद्यपि नाजी जर्मनी और सोवियत रूस को ही सर्वसत्तावाद के 'आदर्श प्रकार' (Ideal Types) मानने के संबंध में विद्वानों में कुछ मतभेद पाये जाते हैं। तथापि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि सर्वसत्तावादी दल का चरम रूप हिटलर के नामी और सोवियत साम्यवादी दल में देखने को मिला है। किंतु यदि यह कहा जाए कि साम्यवादी जगत में यानी विभिन्न साम्यवादी देशों में जो एकल–दल पाए जाते हैं। वे एक ही प्रकार के सर्वसत्तावादी हैं तो यह उचित नहीं होगा क्योंकि विभिन्न देशों की दलीय व्यवस्थाओं में भिन्नता बढ़ती जा रही है। फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी को भी एकदम समरूप व्यवस्थाएं नहीं माना जा सकता। वास्तव में कोई भी दो सर्वसत्तावादी दल लम्बे समय तक बिल्कुल एक जैसे नहीं रहे हैं। हां, यह अवश्य है कि पूर्वी यूरोप के अधिकांश साम्यवादी दल 1940 के दशक में और 1950 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में पूरी तरह सोवियत दल के नमूने पर ही थे। कोई भी दो फासिस्ट दल भी एकसमान नहीं रहे हैं, इटालियन फासिस्टों अथवा स्पेनिश सर्वाधिकारवादियों के लिए 'सर्वसत्तावादी' शब्दावली को एकदम समान रूप में प्रयुक्त नहीं कर सकते। वैचारिक और सैद्धांतिक रूप में फासिस्ट तथा साम्यवादी आन्दोलनों में बहुत कम समानताएं देखने को मिलती हैं।

गैर–दलीय व्यवस्थाएं (Non-party Systems)– ऐसी व्यवस्थाएं थाईलैंड, इथोपिया, अफगानिस्तान, नेपाल, घाना, जोर्डन, कुवैत, सऊदी अरब आदि देशों में देखने को मिली हैं। गैर–दलीय व्यवस्थाओं में वे व्यवस्थाएं भी सम्मिलित होती हैं, जिनमें से दलों को समाप्त कर दिया गया है।

जेम्स जप (James Jupp)–ने दलीय व्यवस्थाओं संबंधी अपने विस्तृत विवरण को एक लघु परिशिष्ट के रूप में सारभूत रूप में चित्रित किया है, जिससे हमें एकदम स्पष्टता के साथ पता चलता है कि प्रतिस्पर्द्धी व्यवस्थाओं (Competitive System) और गैर प्रतिस्पर्द्धी व्यवस्थाओं (Non-competitive System) के अंतर्गत कौन–कौन सी दलीय व्यवस्थाएं पाई जाती हैं, उनके मूल लक्षण क्या हैं और वे कौन–कौन से देश हैं जिन्हें हम प्रतिस्पर्द्धी और गैर–प्रतिस्पर्द्धी व्यवस्थाओं में शामिल करते हैं आदि।

मैक्डोनॉल्ड का वर्गीकरण (Neil A. McDonald's Classification of Parties)

1. सिद्धान्त पर आधारित दल (Doctrine-Based Parties)
2. गैर सिद्धान्तिक दल (Non-doctrinal Parties)
3. संगठनात्मक आधार (Organizatiional Bases)

1. **सिद्धांत पर आधारित दल** (Doctrine-Based Parties)–सिद्धांत पर आधारित दल की विशेषता यह है कि इसके नेता और इसकी अपील का आधार अधिकांशतः

टिप्पणी

सिद्धांतों और नैतिक तर्क–वितर्क के साम्राज्य में घूमते हैं। वे समाजवादी दल जो श्रम संघीय सदस्यता (ट्रेड यूनियन मेम्बरशिप) पर आधारित नहीं होते, जैसा कि ब्रिटेन में समाजवादी दल हैं, सिद्धांत पर आधारित दल के रूप में माने जा सकते हैं। साधारणतया तथाकथित पूंजीवादी दल (Capitalistic Parties) अपने दृष्टिकोण में उतने सिद्धांतवादी (Doctrinaire) नहीं नहीं होते जितने कि समाजवादी दल। फिर भी पूंजीवाद सिद्धांतवादी दल के लिए एक आधार प्रस्तुत करता है क्योंकि यह एक राजनीतिक सिद्धांत के प्रतिपादन और उसकी रक्षा के लिए तत्पर रहता है। रूढ़िवादी और उदार दल (Conservative and Liberal Parties) भी सिद्धांत के अस्तित्व का संकेत करते हैं, क्योंकि सामाजिक विकास के सिद्धांतों के बारे में जो तर्क इन दलों द्वारा दिए जाते हैं वे सिद्धांत संबंधी मामले (Matter of Doctrine) हैं।

2. **गैर–सैद्धांतिक दल** (Non-doctrine Parties)–वे दल जिनकी अपील और जिनका संगठनात्मक आधार विभाजित हितों (Share Interest) पर आधारित होता है, आवश्यक रूप से गैरसिद्धांतवादी दल माने जा सकते हैं। दलों के लिए सर्वाधिक सामान्य वास्तविक गैर–सैद्धांतिक आधार (The Most Common Actual Non-doctrine Bases) प्रायः ये होते हैं–सामाजिक–आर्थिक वर्ग, करिश्मावादी नेतृत्व, चर्च यूनियन, विभाजित राष्ट्रीय (Shared Nationality) गठबंधन, सार्वजनिक कार्यालय आदि।

3. **संगठनात्मक आधार** (Organizational Bases)–डुवर्जर ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संरचनात्मक (Direct and Indirect Structure) के आधार पर दलों में अंतर किया है और दलों में इस बात पर भी अंतर आया है कि आधारभूत संगठनात्मक इकाई एक कॉकस या ब्रान्च है, सैल है अथवा एक मिलिशिया–प्रकार की इकाई (Militia-type Unit) है। प्रत्यक्ष संरचना वाले दल (Parties with Direct-Structure) वे होते हैं जिनसे सदस्य प्रत्यक्ष रूप से संबंधित हों अर्थात एक ऐसा दल जो व्यक्तियों को सदस्यों के रूप में लिए हुए है। (Which has individuals as members)। अप्रत्यक्ष दल वे होते हैं जो उन अन्य सामाजिक विरचनाओं (Social Formations) पर निर्मित हुए हों जो कि उनकी आधारभूत घटक इकाइयां (Basic Component Unit) हैं। कॉकस, ब्रांच, सैल अथा मिलिशिया–टाइप इकाई की प्रमुखता के आधार पर डुवर्जर ने दलों के ये रूप गिनाए हैं–कॉकस पर आधारित (Causes-Based Parties), ब्रान्च पर आधारित दल (Branch-based Parties), सैल पर आधारित दल (Cell-Based Parties) और मिलिशिया–आधारित दल (Militia-Based Parties)। मिलिशिया–आधारित दल में नामानुसार ही गुण होते हैं अर्थात इसके सदस्य अभिजन वर्ग के होते हैं, वे सुस्पष्ट चिन्ह, यूनीफार्म अथवा रंगीन कमीज धारण करते हैं और कवायद आदि करते हैं।

डुवर्जर ने सामान्य तौर पर कॉकस तथा ब्रान्च–आधारित प्रकार के दल को लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था के समान बताया। सैल तथा मिलिशया–आधारित प्रकार के दल को सर्वसत्तावादी दल और क्रांतिकारी राजनीतिक व्यवस्थाओं के समान माना जाता है।

5.4.2 राजनीतिक दलों के कार्य : प्रजातांत्रिक और अधिनायकवादी

टिप्पणी

राजनीतिक दलों के कार्यों को भी विभिन्न प्रकार से रोचक रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रजातांत्रिक राजनीतिक दलों और अधिनायकवादी दलों के कार्यों में बाहर से तो अधिक भिन्नता नहीं दिखाई देती, लेकिन आधारभूत रूप से अधिनायकवादी दलों के कार्य अपनी प्रकृति और उद्देश्य में प्रजातांत्रिक दलों के कार्यों की अपेक्षा महत्वपूर्ण अंतर लिए होते हैं। राजनीतिक दलों के कार्यों को नील ए.मैक्डोनाल्ड ने रोचक रूप में निम्नानुसार प्रस्तुत किया है–

1. संयोजक के रूप में दल (Party as Connector)
2. मैनेजर–ऑपरेटर के रूप में दल (Party as Manager-Operator)
3. दलाल–मध्यस्थ के रूप में दल (Party as Broker Mediator)
4. संगठक के रूप में दल (Party as Organization)
5. मनोनयनकर्त्ता के रूप में दल (Party as Nominator)
6. संगठनात्मक शस्त्र के रूप में दल (Party as Organizational Weapon)

1. संयोजक के रूप में दल का विशेष महत्व है। दलीय संगठन एक संयोजक सूत्र के रूप में कार्य करता है, सरकार के पृथक–पृथक अंगों को निकट लाता है, मिलता है और नियंत्रण की एकता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। दल ही सरकार को लोकप्रिय संप्रभुत के प्रयोग के अनुरूप बनाता है।
2. मैनेजर–ऑपरेटर के रूप में दल का कार्य स्वतः स्पष्ट है। राजनीतिक दल सामान्यतया सरकार का प्रबन्ध और संचालन करते हैं। उनका लक्ष्य सत्ता पर अधिकार जमाना होता है। एक प्रभावी दलीय व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि दल एक तो अपने कार्यक्रमों को प्रस्तुत करे और दूसरा इन कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए आवश्यक शक्ति ग्रहण करे अर्थात शासन पर नियंत्रण स्थापित करके या सत्तारूढ होकर अपने कार्यक्रमों की पूर्ति की दिशा में अग्रसर हों।
3. दलाल और मध्यस्थ के रूप में लोकतंत्र में राजनीतिक दल महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। राजनीतिकज्ञ अधिकांशतः दलाल होते हैं अर्थात दलाल की भांति विभिन्न विरोधी मतों में सामंजस्य लाने, मध्यस्थ का कार्य करने आदि के लिए तत्पर रहते हैं, और दल वह साधन होता है जिसके माध्यम से या जिसके द्वारा वे अपना कार्य करते हैं।
4. संगठनकर्त्ता के रूप में राजनीतिक दल अधिक रचनात्मक और सक्रिय कार्य करते हैं। लोगों के छिन्न–विच्छिन्न मतों को संगठित करने का जो महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, अन्य राजनीतिक संगठन उतनी कुशलतापूर्वक नहीं कर सकते। दल समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं, और जनता को स्पष्ट विकल्पों में से किसी एक को चुन लेने के लिए तैयार करते हैं।
5. मनोनयनकर्त्ता के रूप में सभी राजनीतिक दलों का काम न केवल महत्त्वपूर्ण है बल्कि असाधारण भी है। एक दल को हम दल भी कह सकते हैं जब वह मनोनयन करता हो। निर्वाचनों के समय प्रत्याशियों के मनोनयन का कितना क्रांतिकारी महत्व है, कहने की आवश्यकता नहीं।

6. संगठनात्मक शस्त्र के रूप में सभी राजनीतिक दलों का चाहे वे प्रजातांत्रिक दल हों या साम्यवादी दल, महत्व है। वैसे साम्यवादी या अधिनायकवादी दल संगठनात्मक शस्त्र के रूप में अधिक प्रभावी रहते हैं।

टिप्पणी

पीटर एच. मर्कल (Peter H. Merkel) ने राजनीतिक दलों के कार्यों को इस प्रकार व्यक्त किया है–

1. विभिन्न सरकारी कार्यालयों के लिए नेतृत्व कार्मिकों की भर्ती और उनका चयन
2. सरकार के लिए कार्यक्रमों और नीतियों का प्रजनन।
3. सरकारी अंगों का समन्वय और नियंत्रण।
4. समूह–मांगों को संतोष प्रदान करके और उनमें सामंजस्य लाकर सामाजिक एकता का विकास।
5. अपने पक्ष में समर्थन अर्जित करके और समाजीकरण द्वारा व्यक्तियों में सामाजिक एकता लाना अर्थात उन्हें एक राजनीतिक समूह के रूप में परिवर्तित करना।
6. विरोधी प्रतिसंगठन बनाना अथवा उच्छेदन अर्थात या तो विरोधी दल के रूप में शक्ति संयुक्त करना या सत्तारूढ़ दल को अपदस्थ करके स्वयं सरकारी नियंत्रण प्राप्त करना।

प्रजातांत्रिक दलों के कार्य (Functions of Democratic Parties)

राजनीतिक दलों के जिन सामान्य कार्यों का संकेत ऊपर दिया गया है सामान्यतः वे ही प्रजातांत्रिक दलों के कार्य हैं। इन पर कुछ विस्तार से विवेचन आवश्यक है, और हम मुख्यतः प्रो. सिगमण्ड न्यूमैन (Sigmund Newman) के विचारों को प्रस्तुत करते हुए आगे बढ़ेंगे। न्यूमैन ने प्रजातांत्रिक राजनीतिक दलों के मुख्य कार्य इस प्रकार बतलाए हैं–

1. अस्त–व्यस्त एवं बिखरे जनमत को संगठित करना (To organize the chaotic public will)
2. नागरिकों को राजनीतिक उत्तरदायित्व की दृष्टि से शिक्षित बनाना (To educate the private citizen to political responsibility)
3. शासन और जनमत को जोड़ने वाली कड़ी का प्रतिनिधित्व करना (To represent the connection link between govt. and public opinion)
4. नेताओं का चुनाव (The selection of leaders)

इन कार्यों का विश्लेषण करते हुए प्रो. न्यूमैन ने लिखा है कि राजनीतिक दल विचारों के दलाल (Broker of Ideas) हैं जो दलीय सिद्धांतों का निरंतर स्पष्टीकरण, व्यवस्थीकरण और प्रसारण करते हैं। वे सामाजिक हित–समूहों के प्रतिनिधि होते हैं और व्यक्ति तथा समाज अथवा समुदाय के बीच की दूरी कम करते हैं। वे कम से कम द्वि–दलीय व्यवस्था की प्रतियोगी योजना में मानवता को अधिकाधिक शिक्षित बनाते हैं और उसकी निर्बंध तथा स्वतंत्र पसन्द को प्रोत्साहित करते हैं। राजनीतिक दल जलता को सार्वजनिक प्रश्नों और समस्याओं के प्रति जागरूक रहने की शिक्षा देते हें।

राजनीतिक दलों के कारण संसद वाद–विवाद का मंच बन जाती है जिसमें उन नीतियों का भली–भांति स्पष्टीकरण हो जाता है जिन पर सरकार को चलना चाहिए।

एक राजनीतिक दल का यह मुख्य कार्य है कि वह विचारों के आदान–प्रदान और सम्पर्क का रास्ता खुला और निर्बाध रखे। दलों का यह कार्य उन्हें प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र में सरकार को नियंत्रित करने वाली ऐजेन्सी बना देता है।

टिप्पणी

राजनीतिक दलों का अंतिम उद्देश्य सरकार–निर्माण करना होता है, अतः वे नेताओं और अधिकारियों के चुनाव में भाग लेते हैं। चुनाव में प्रत्येक दल अपने प्रत्याशी खड़े करता है, अपनी योजनाओं का और लक्ष्यों के प्रचार द्वारा जनता को आकर्षित करता हैं और तब जनता द्वारा उपयुक्त दल के प्रत्याशी विजयी बनते हैं। इतना ही नहीं, राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में सामंजस्य भी स्थापित करते हैं। संसदीय शासन प्रणाली में दलीय अनुशासन और कार्यक्रम के फलस्वरूप विधायिका तथा कार्यपालिका में अभिन्न संबंध बना रहता है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में दल का महत्व इस अर्थ में काफी बढ़ जाता है क्योंकि शासन के विभिन्न अंगों की पूर्ण पृथकता को दल–व्यवस्था से ही दूर किया जाता है।

अन्त में, राजनीतिक दल सामाजिक तथा सांस्कृतिक उत्थान के लिए भी कार्य करते हैं। विशेषकर पिछड़े देशों में दलों के ये कार्य काफी महत्वपूर्ण होते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में कांग्रेस ने हरिजनोद्धार, अस्पृश्यता–उन्मूलन, जमींदारी–व्यवस्था की समाप्ति आदि के क्षेत्र में जितनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, वह किसी से छिपी नहीं है।

अधिनायकवादी दलों के कार्य (Functions of Dictatorial Parties)

अधिनायकवादी दल बाहर से प्रजातांत्रिक दलों से अधिक भिन्न नहीं दिखाई देते हैं। उनके सिद्धांत और कार्य प्रजातांत्रिक आवरण लिए रहते हैं। वे भी अस्त–व्यस्त जन–इच्छा को संगठित करते हैं, व्यक्तियों का सामूहिक रूप से आबद्ध करते हें और जनमत तथा शासन को जोड़ने वाली कड़ी का उत्तरदायित्व निभाते हैं। वे नेताओं का चुनाव भी करते हैं, पर इतना होते हुए भी वे सही अर्थ में प्रजातांत्रिक नहीं होते और उनके उपरोक्त कार्यों का अर्थ आधारभूत रूप में बदल जाता है। अस्त–व्यस्त जन–इच्छा (Chaotic Public Will) के संगठन का अभिप्राय केंद्रीय भूत नियंत्रण (Monolithic Control), व्यक्तियों को समूह रूप में आबद्ध करने का आशय 'एकरूपता को लादना' (Enforcement of Conformity) और राज्य एवं समाज के मध्य सम्पर्क बनाए रखने के उत्तरदायित्व का तात्पर्य केवल मात्र ऊपर की ओर से एकतरफा प्रचार और निर्देश का प्रवाह है।

अधिनायकवादी दल जीवन के व्यक्तिगत, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी पहलुओं का अपनी इच्छानुसार मार्गदर्शन करता है। सिडनी तथा वैब के शब्दों में वह 'विभिन्न संगठनों के माध्यम से जन–समुदायों पर संतुष्ट मानसिक प्रभाव' (A Co-operative Intellectual Influence on the Mass of Population) डालता है। शासन पर दल इस तरह छाया रहता है कि उसकी व्यावहारिक स्थिति देश के वास्तविक शासन जैसी होती है। सरकार की ओर से जारी होने वाले कानूनों, आदेशों, नीतियों आदि का पर्दे के पीछे दल ही निर्णय करता है। शासन के सभी अंगों पर दल का पूर्ण नियंत्रण एवं एकाधिकार होता है। दल नेताओं और जनता के बीच एक कड़ी का कार्य करता है। किंतु उसके माध्यम से नेतागण अपने कार्यों का प्रशंसात्मक विवरण जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं, अपने निर्देशों को जनता तक पहुँचाते हैं और जनता में यह

टिप्पणी

भय स्थापित कर देते हैं कि उसे हर स्थिति में नेताओं की इच्छा का पालन करना है। अधिनायकवादी अथवा एक दलीय व्यवस्था में विरोधियों को बर्दाश्त नहीं किया जाता और दलीय आदर्शों के विपरीत किसी विचारधारा को प्रकट होने और पनपने का अवसर नहीं दिया जाता। संचार और सूचना के सभी साधनों पर दल का कठोर नियंत्रण होता है। अतः समाचार–पत्रों, समाचार–एजेंसियों, रेडियो, साहित्य आदि के माध्यम से वह लोगों के समक्ष अपना मनोवांछित रूप प्रकट करता है।

प्रजातांत्रिक दलों के संकट–तत्त्व (Crisis Elements) अधिनायकवादी गतिविधियों में निहित होते हैं। वास्तव में अधिनायकवादी संगठन (Dictatorial Organizations) बहुधा प्रजातांत्रिक दल–व्यवस्था में स्वयं में विकसित हो जाते हैं। वे 'एक राज्य में राज्य' (A State with the State) बना लेते हैं और अपने प्रारम्भिक आधारभूत तथा मौलिक सिद्धांतों का परित्याग कर देते हैं। उनका उदय समाज में व्याप्त किसी आधारभूत कमी की अभिव्यक्ति (The Expression of a Basic Lack with in the State Society) ही मानी जानी चाहिए। ऐसे संगठन उन लोगों को अपना अनुयायी अथवा सदस्य बनाते हैं जिन्हें तत्कालीन समाज से असंतोष होता है और जो स्वयं को उस समाज का अंग नहीं समझते तथा यह महसूस करते हैं कि उनकी आवश्यक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति समाज के वर्तमान ढांचे में नहीं हो सकती। प्रायः इस प्रकार का प्रत्येक अधिनायकवादी संगठन कुछ बाह्य तत्वों (Outsiders) से भी प्रभावित होता है।

प्रजातांत्रिक और अधिनायकवादी दलों की तुलना

(Contrast between Democratic and Dictatorial Parties)

अधिनायकवादी राज्यों में भी राजनीतिक दल अनिवार्य होता है, लेकिन प्रजातांत्रिक दलों की अपेक्षा उस दल (अधिनायकवादी दल) का व्यवहार सर्वथा भिन्न होता है–

(1) प्रजातांत्रिक राज्यों में भी राजनीतिक दल भिन्नता और पारस्परिक आलोचना को छूट देते हैं जबकि साम्यवादी अथवा फासीवाद अधिनायकतंत्र में राजनीतिक दल लोगों को भाषण, विचार अभिव्यक्ति की कोई स्वतंत्रता नहीं देता। दल केवल उन वफादार लोगों की अपेक्षा करता है जो अपने नेताओं के आदेश को बेहिचक और बिना तर्क–वितर्क के शिरोधार्य करें।

(2) प्रजातांत्रिक दल अनौपचारिक (Informal), गैर–सरकारी (Non-government) होते हैं जबक अधिनायकवादी राजनीतिक दल प्रत्येक सरकारी और गैर–सरकारी गतिविधि पर छाया रहता है और व्यावहारिक रूप में उस शासन का एक अंग ही होता है जिस पर कि उसका प्रभुत्व व्याप्त है। उदाहरणार्थ, सोवियत रूस में सैद्धांतिक रूप से दल और सरकार एक–दूसरे से पृथक होते हुए भी व्यावहारिक रूप में मास्को से नीचे गणराज्यों, क्षेत्रों, जिलों, और दूरस्थ गांवों तक दोनों एक–दूसरे के समानान्तर हैं। शासन के सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों और नीतियों पर पहले दल निर्णय करता है और तदन्तर सरकार उन्हें कार्यान्वित करती है।

(3) जहां प्रजातांत्रिक व्यवस्था में आलोचना के अधिकाधिक अवसर प्रादन किए जाते हैं और स्वतंत्र अभिव्यक्ति के वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा की जाती है वहां अधिनायकवादी व्यवस्था में 'प्रजातांत्रिक केंद्रवाद' (Democratic Centralism) प्रभावी होता है, अर्थात किसी प्रस्ताव के प्रारम्भिक स्तरों पर ही टिप्पणियां की

जा सकती हैं। एक बार नेताओं और निर्णय ले लिए जाने पर प्रत्येक का यह कर्तव्य हो जाता है कि निर्णय का पालन करे। कुल मिलाकर केंद्रीकरण का ही आदि से अन्त तक बोलबाला रहता है।

टिप्पणी

(4) जहां प्रजातांत्रिक व्यवस्था में नेताओं में वांछित परिवर्तन बड़ा सुगम होता है और जनता को प्रत्याशियों को चुनकर भेजने की खुली छूट होती है वहां अधिनायकवादी नेता दल के भीतर के शक्ति संघर्ष के माध्यम से स्वयं उभर कर आते हैं। इस प्रकार जनता द्वारा निर्वाचित न होकर स्वयं ही के द्वारा चुने हुए (Self-selected) होते हैं।

(5) जहां प्रजातांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दल अपने कार्यक्रमों का प्रचार करने और दूसरे दलों से अपने कार्यक्रमों का अंतर स्पष्ट करने के लिए व्यापक चुनाव–अभियान चलाते हैं, वहां एक अधिनायकवादी राज्य में दल निरंतर प्रशासकीय उद्देश्यों के समर्थन से प्रचार–अभियान (Electoral campaign) चलाता है। दल ही वह माध्यम है जिसके द्वारा सारे समाज में सिद्धांतों, विचारों और कार्यक्रमों की एकरूपता थोपी जाती है।

(6) प्रजातांत्रिक व्यवस्था में विविध विचारों, सिद्धांतों और कार्यक्रमों वाले विभिन्न समूहों (Groups) को पनपने की छूट होती है किंतु अधिनायकवादी व्यवस्था में इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। अधिनायकवादी दल का उदय ही अन्य प्रतियोगी समूहों की कब्र पर हेाता है। विभिन्न राजनीतिक समूहों में मरणात्मक संघर्ष के फलस्वरूप कोई एक समूह सर्व–सत्तावन होकर उभरता है, सत्तारूढ़ होता है तथा संपूर्ण देश के राजनीतिक जीवन को अपने में केंद्रीभूत कर लेता है।

(7) प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक दलों की सदस्यता की कोई सीमा नहीं होती। सदस्यों की अधिकाधिक संख्या ही दल की अधिकाधिक लोकप्रियता का आधार होती है। जनता के बहुमत को अपने पक्ष में करके ही दल निर्वाचनों के माध्यम से सत्तारूढ़ होने का स्वप्न देखता है। इसके विपरीत अधिनायकवादी दल की सदस्यता बहुत नियंत्रित होती हैं। दल एक बन्द समाज (Closed Society) के समान होता है जिसकी सदस्यता को इस दृष्टि से बड़ा सीमित रखा जाता है कि दल में कठोर एकता और अनुशासन बना रहे।'

(8) प्रजातांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के माध्यम से सत्ता परिवर्तन बड़ी शांति और सुगमता से हो जाता है जबकि अधिनायकवादी राज्य में हम सफाई–अभियान (Purges) की चर्चा सुनते रहते हैं। कोरी एवं अब्राहम (Corry and Abraham) के अनुसार–जून, 1934 में जर्मनी में नाजी दल ने अपने दल के बीसियों प्रमुख सदस्यों को गोली से उड़ा दिया था और सन् 1936 से 1938 तके बीच रूस में साम्यवादी दल में निरंतर सफाइयां (Purges) की जाती रही थीं। पुराने जाने–माने सदस्यों को, जिन्होंने जारशाहों के विरुद्ध संघर्ष में कठोर भूमिका निभाई थी, जेलों में ठूंस दिया गया था अथवा निर्वासित कर दिया अथवा मार डाला गया था। यह सब कुछ केवल इसी कारण हुआ कि दल में फूट पड़ गई थी। एक दलीय व्यवस्था वाले राज्यों का इतिहास ऐसी घटनाओं से भरा

पड़ा है कि जब कभी दल में विरोधी गुट उत्पन्न हो गए, तभी शक्तिशाली गुट को निर्ममतापूर्वक कुचल दिया गया और अपने साथियों की लाश पर दल की एकता का झण्डा फहराया।

टिप्पणी

राजनीतिक दलों के गुण–अगुण (Merits and Demerits of Parties)

1. राजनीतिक दलों के अभाव में लोकतंत्रीय सरकार का संचालन संभव नहीं है। राजनीतिक दल न होने पर स्थिति यह हो जाएगी कि विधायिका में जितने भी सदस्य होंगे उतने ही मत होंगे। इस प्रकार विचार–विमर्श में समय का अपव्यय होने के उपरान्त भी विधायिका का किसी निश्चय पर पहुँचना कठिन हो जाएगा।
2. राजनीतिक दलों से लोकतंत्र इस रूप में भी व्यावहारिक बनता है कि इनसे देशभर में बिखरी हुई जनता को एक सामान्य सिद्धांत पर सहमति के निकट लाया जाता है और उस सिद्धांत को क्रियात्मक बनाने का प्रयत्न किया जाता है।
3. मेकाइवर ने लिखा है कि "दल प्रणाली के बिना राज्य में न तो सोच होती है और न ही सच्चा आत्म–निश्चय। गैर–प्रतिनिधिकारी तथा अनुत्तरदायी सरकार जनता की इच्छा पर कभी आधारित न होकर शक्ति पर आश्रित होती है और शक्ति पर आधारित व्यवस्था में परिवर्तन का एकमात्र तरीका क्रांति ही रह जाता है। इसके विपरीत प्रत्येक सरकार लोकमत पर जीवित रहती है, शक्ति के स्थान पर सहमति से काम लेती है तथा वाक्–युद्ध अथवा वाद–विवाद द्वारा समस्याओं का समाधान करती है।"
4. संगठित राजनीतिक दलों के अभाव का अभिप्राय है व्यक्तिगत और वर्गीय हितों को आवश्यकता से अधिक महत्व और प्रोत्साहन मिलना। यदि दल नहीं होंगे तो निर्वाचित प्रतिनिधि भी अपने स्वार्थ–साधन के लिए गुट बना लेंगे और जनहित की उपेक्षा करेंगे। व्यक्तिगत स्वार्थों के स्थान पर निश्चित नीति और कार्यक्रम के अनुसार कार्य करने की पद्धति राजनीतिक दलों के अस्तित्व में ही संभव है।
5. राजनीतिक दलों का यह काम है कि राज्यों के स्थान पर राष्ट्रीय राज्य देखने को मिले हैं। दल–प्रणाली रूपी विशेष यन्त्र ने वर्ग–राज्य का राष्ट–राज्य में रूपान्तर किया। वस्तुतः राजनीतिक दलों का आरम्भ 'वर्ग सहित शासन' के सिद्धांत के विरोध स्वरूप ही हुआ और आज दल–प्रणाली ने लोकमत का संगठन तथा निर्देशन करके लोकतंत्रीय सरकार के उद्देश्यों का आशातीत विस्तार कर दिया है। लॉवेल ने कहा भी है कि ''राजनीतिक दल विचारों के दलाल के रूप में कार्य करते हैं।''
6. राजनीतिक दलों के अभाव में सरकार की स्थिरता नष्ट हो जाएगी क्योंकि आए दिन नए–नए दल बनते–बिगड़ते रहेंगे और सरकारें भी बदलती रहेंगी। दलीय पद्धति चुनाव परिणामों के आधार पर स्थित सरकारों को जन्म देती हैं।
7. राजनीतिक दल अपने चुनाव और प्रचारों द्वारा नागरिकों को राजनीतिक चेतना प्रदान करते हैं तथा जनता में सार्वजनिक कार्यों और समस्याओं के प्रति रुचि उत्पन्न करते हैं। हरमन फाइनर के शब्दों में राजनीतिक दल इस प्रकार के

कार्य करते हैं कि प्रत्येक नागरिक को सारे राष्ट्र का वह ज्ञान प्राप्त हो जाए जो समय और प्रवेश की दूरी के कारण प्राप्त करना असंभव है।

टिप्पणी

8. राजनीतिक दलों के अस्तित्व के फलस्वरूप ही विधायिका में एक सजग विरोधी दल रहा है जो सरकार के प्रत्येक काम पर आलोचनात्मक दृष्टि रखता है और जिसके भय के कारण शासन को अपने सभी कार्यों में सावधानी रखनी होती है।
9. नागरिकों को सामुदायिक, धार्मिक और जातीय भेद–भावों से ऊपर उठकर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से समस्याओं को देखने–समझने में राजनीतिक दल सहायक होते हैं। राजनीतिक दलों के स्वस्थ प्रयासों से नागरिकों का दृष्टिकोण सीमित नहीं रह पाता और मनोवृत्ति संकुचित न रहकर व्यापक बन जाती है।
10. राजनीतिक दलों के अस्तित्व के फलस्वरूप ही यह बहुत कुछ संभव हो सका है कि सरकारी विभाग और अंग सहकारिता तथा सामंजस्य के साथ काम करें।
11. राजनीतिक दलों द्वारा बहुत से ऐसे परोपकारों और रचनात्मक कार्य भी किए जाते हैं जिनका राजनीतिक में विशेष संबंध नहीं होता। इसके अतिरिक्त राजनीतिक दलों के अपने शोध–विभाग होते हैं जो महत्त्वपूर्ण अनुसंधानों में, आंकड़ों तथा सूचनाओं के संग्रह में व्यस्त रहते हैं। इस प्रकार ये राजनीतिक दल सरकार को बहुत–सी ऐसी बातों की जानकारी कराते हैं जिन्हें मालूम करने का सरकार के पास कोई प्रभावशाली माध्यम नहीं होता।
12. राजनीतिक दलों से प्रशासकीय समरूपता बनी रहती है, नागरिक अधिकारों की सुरक्षा रहती है और क्रांति की संभावनाएं धूमिल पड़ जाती हैं। संसदीय प्रणाली तो दलीय व्यवस्था के बिना चल ही नहीं सकती, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की दुरूहता को भी कार्यगत तथा कोमल बनाने में राजनीतिक दलों का अनुदान कुछ कम नहीं होता। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि दलीय व्यवस्था वास्तव में ऐसी प्रणाली है जिसने अमेरिका के संविधान की जटिलता को तोड़ डाला है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. आकस्मिक और अधिक परिवर्तनों में विश्वास नहीं करने वाले दल क्या कहलाते हैं?

   (क) अनुदारवादी (ख) रूढ़िवादी

   (ग) समग्रवादी (घ) अनुदार एवं रूढ़िवादी

6. किसकी मान्यता है कि दलीय व्यवस्थाओं के वर्गीकरण में शैलीगत मापदंड को भी अपनाना चाहिए।

   (क) प्रो. जेम्स जप (ख) आल्मण्ड

   (ग) मैक्डोनॉल्ड (घ) डुवर्जर

5.5 सामाजिक जीवन का राजनीतिकरण

टिप्पणी

मूलतः मानव सामाजिक प्राणी है; इसलिए वह राजनीतिक व्यवस्थाओं को भी विकसित करता है। इसको इस बात से प्रमाणित किया जा सकता है कि व्यक्ति प्रभावी संबंधों में प्रवेश किए बिना कभी भी साथ–साथ नहीं रह सकते। जब कभी यह संबंध स्थिर तथा विरल (बार बार आने वाले) हो जाते हैं तो राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण प्रारंभ होता है। सभी प्रकार के समाजों में जिन को राजनीति में हिस्सा लेने की अनुमति है, सभी व्यक्ति राजनीति में समान रूप से भाग नहीं लेते। कुछ लोग अधिक सक्रिय होते हैं जबकि कुछ निष्क्रिय। सक्रिय लोगों में भी कुछ चुनाव लड़ते हैं और चुनाव लड़ने वालों में कुछ जीत जाते हैं। जीतने वालों को हम शक्तिशाली मानने लगते हैं। वास्तव में,व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था में हिस्सा लेता है, अथवा नहीं; यह उसके राजनीतिकरण पर निर्भर करता है।

5.5.1 जीवन के राजनीतिकरण की यथार्थता

राजनीति आदर्श रूप से शक्ति तथा सत्ता से संबंधित है जिनमें शक्ति के केंद्रों पर प्रभुत्व पाने का प्रयास किया जाता है। राज को शक्ति तथा सत्ता का सर्वोच्च संरक्षक माना गया है। राजनीतिकरण से अभिप्राय राजनीतिक जागरूकता राजनीतिक प्रभाविता भावना तथा राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि से है। अर्थात राजनीतिकरण व प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्तियों में राजनीतिक जागरूकता प्रभाविता भावना तथा राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि होती है। गुन्नार मिर्डल के अनुसार भारत में 19वीं शताब्दी में आधुनिकीकरण और राष्ट्रवाद के विकास के साथ–साथ भारत का राजनीतिक कारण भी शुरू हुआ; अर्थात भारत में अंग्रेजी शासन काल में राजनीतिक जागरूकता में वृद्धि होने लगी। रजनी कोठारी के अनुसार किसी भी विकासशील देश में आधुनिकीकरण राजनीतिकरण के बिना नहीं आ सकता। भारत में राजनीतिकरण की प्रक्रिया ने आधुनिकीकरण लाने साथ में वृद्धि करने में काफी सहायता दी है यद्यपि राजनीतिक जागरूकता तथा राजनीतिक सहभागिता में परस्पर संबंध है। फिर भी दोनों में कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। वास्तव में राजनीतिकरण की प्रक्रिया को 2 अवस्थाओं में बांटा जा सकता हैः प्रथम अवस्था में राजनीतिक जागरूकता में वृद्धि होती है जबकि दूसरी अवस्था में राजनीतिक प्रभाविता एवं इसके परिणाम स्वरूप राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि होती है। अगर राजनीतिकरण पूरी तरह नहीं हो पाया है तो हो सकता है कि राजनीतिक जागरूकता तो पाई जाती हो परंतु राजनीतिक प्रभाविता एवं सहभागिता नहीं अपेक्षाकृत कम हो।

राजनीतिक सामाजिक यथार्थता को समझने के एक अवधारणातमक यंत्र के रूप में राजनीतिकरण, विशेषतः राजनीतिक समाजशास्त्र में अपेक्षाकृत नवीन अवधारणा है। गोल्डरिच ने 1960–70 के दशक के मध्य सर्वप्रथम यह विचार व्यक्त किए की सामाजिक जीवन में यदि राजनीतिकरण किसी न किसी रूप में व्यापक स्तर पर विद्यमान है, फिर भी इस पर कोई क्रमबद्ध अध्ययन नहीं हुआ है। दया कृष्ण के अनुसार यह ठीक रहेगा कि अगर हम राजनीतिकरण शब्द को सामाजिक जीवन चिंतन व क्रिया के उन क्षेत्रों तक सीमित रखें जिनमें राजनीतिक क्षेत्र अधिक प्रबल है। पिजानो ने राजनीतिकरण को राजनीतिक व्यवस्था में समर्थन के माध्यम के रूप में देखा है। राजनीतिकरण में

टिप्पणी

राजनीति के प्रति व्यक्तिगत स्थिति, राजनीतिक प्रभाविता तथा राजनीतिक सहभागिता को सम्मिलित किया जाता है। राजनीतिकरण के प्रति व्यक्तिगत स्थिति में राजनीतिक चेतना, राजनीति में रुचि, राजनीतिक विकास व मनोवृतियां जिनमें सरकार के विशिष्ट लक्षण भी सम्मिलित हैं को शामिल किया जाता है। राजनीतिक प्रभाविता नागरिक की अनुभूति है कि व्यक्तिगत राजनीति कार्य राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है या कर सकता है अर्थात नागरिक कर्तव्य को निभाना लाभप्रद है यह एक अनुभूति है कि राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन संभव है तथा व्यक्तिगत नागरिक इस परिवर्तन को लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

राजनीतिक सहभागिता प्रजातांत्रिक व्यवस्था में सहमति देने अथवा वापस लेने का एक प्रमुख साधन है जिसके द्वारा शासकों को जनता के प्रति उत्तरदायीं बनाया जाता है। राजनीतिक सहभागिता को उन स्वैछिक क्रियाओं इनके द्वारा समाज के सदस्य शासकों के चयन एवं जन नीतियों के निर्माण ने प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रुप से भाग लेते हैं; के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिकरण एवं बहुपक्षीय एवं अत्यंत व्यापक अवधारणा है रजनी कोठारी ने ठीक ही कहा है कि यदि हमारे समय में आधुनिकीकरण एवं केंद्रीय प्रवृत्ति है तो या राजनीतिकरण ही है जो इसको शक्ति प्रदान करता है। साथ ही ऐसी शक्ति भी है जिस पर मानव ने अभी नियंत्रण करना नहीं सीखा है। कुछ विद्वान जैसे न्ड्यूस व मैक्कलीलैंड, आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन का परिणाम मानते हैं जबकि लर्नर जैसे विद्वान आधुनिकीकरण का परिणाम मानते हैं। जोना आसगुड फील्ड ने, भारतीय संदर्भ में राजनीतिकरण को आधुनिकीकरण अथवा सामाजिक प्रयोजन की अपेक्षा राजनीतिक व्यवस्था की देन बताया है।

5.5.2 भारत में राजनीतिकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पश्चिमी समाजों में 17वीं शताब्दी के पश्चात इतनी तीव्रता से परिवर्तन हुए कि इन देशों की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संरचना का स्वरूप ही पूर्णतः परिवर्तित हो गया। औद्योगिकीकरण नगरीकरण तथा वैज्ञानिक प्रगति शिक्षा के प्रसार तथा संचार एवं आवागमन के साधनों ने इन देशों की राजनीतिक व्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था को परिवर्तित कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति का जीवन स्तर ऊंचा हो गया तथा प्रदत्त गुणों के स्थान पर व्यक्ति के अर्जित गुणों का महत्व बढ़ने लगा। इन परिवर्तनों के कारण राजाओं–महाराजाओं की शक्ति दैवीय प्रचारित हुई और राजतंत्र का पतन होने लगा। आधुनिकीकरण, धर्मनिरपेक्षीकरण तथा राजनीतिकरण की प्रक्रियाओं को गति मिली तथा मानवतावादी और समाजवादी मूल्यों का महत्व बढ़ने लगा। इन देशों में प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं का विकास हुआ जिनके कारण जनता को राजनीति में स्वतंत्र रूप से सहभागिता अवसर मिला तथा शासकों के चुनाव के कारण जनता अपने अधिकारों एवं राजनीतिक उत्तरदायित्व के प्रति सचेत होती गई। इससे राजनीतिकरण की प्रक्रिया बढ़ती गई। इस प्रकार राजाओं की दैवीय शक्ति की समाप्ति तथा प्रजातांत्रिक मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना के साथ–साथ राजनीतिकरण का इतिहास शुरू होता है। इंग्लैंड में राजनीति की शुरुआत सर्वप्रथम हुई, जबकि 600–700 वर्ष पहले राजाओं की दैवीय शक्ति को चुनौती दी जाने लगी थी तथा राजनीतिक आर्थिक एवं सामाजिक समानता की भावनाओं में वृद्धि होने लगी थी।

टिप्पणी

भारत में राजनीतिकरण का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है क्योंकि इसकी शुरुआत अंग्रेजी शासनकाल में पश्चिमीकरण तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के साथ ही हुई। इन दोनों प्रक्रियाओं ने राजनीतिकरण को लाने में सहायता दी है। रजनी कोठारी ने राजनीतिकरण को आधुनिकीकरण की पूरब–प्रक्रिया कहां है तथा इसकी शुरुआत का अंग्रेजी शासन काल बताया है जिसमें परंपरागत तथा आधुनिक मूल्यों की अंतक्रिया शुरू हुई। जाति व्यवस्था (जो कि प्रदत्त गुणों पर आधारित है) में व राजनीतिकरण प्रक्रिया में और भी अधिक तीव्रता आने लगी।

राजनीतिकरण के इतिहास का नया दौर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शुरू होता है जब लोगों को बिना किसी भेदभाव के एक समान वयस्क मताधिकार एवं इसके द्वारा (गुप्त मतदान) अपने शासकों को चुनने का अधिकार मिला। प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण अर्थात पंचायती राज एवं सामुदायिक विकास योजनाओं के द्वारा ग्रामीण जनता में राजनीतिक जागरूकता आई। यद्यपि पंचायतें अधिकांश प्रदेशों में अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रही हैं परंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि राजनीतिक जागरूकता तथा सहभागिता बढ़ाने में इन इकाइयों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात शिक्षा के विस्तार, संचार तथा आवागमन के साधनों में वृद्धि, धर्मनिरपेक्षकरण तथा राजनीतिक दलों ने भारतीय जनता में राजनीतिकरण आने में काफी सहायता दी है। भाषायी चेतना, क्षेत्रीयता, पुनरुत्थानवादी आंदोलनों तथा आपात स्थिति ने राजनीतिकरण बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. मनुष्य मूलतः कैसा प्राणी है?

   (क) असामाजिक (ख) जंगली

   (ग) सामाजिक (घ) विवेकशून्य

8. सर्वप्रथम यह विचार किसने व्यक्त किया कि, 'सामाजिक जीवन में राजनीतीकरण किसी न किसी रूप में व्यापक स्तर पर विद्यमान है।'

   (क) गुन्नार मिर्डल (ख) रजनी कोठारी

   (ग) गोल्डरिच (घ) दया कृष्ण

5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग) 2. (ख) 3. (क) 4. (ख)
5. (घ) 6. (क) 7. (ग) 8. (ग)

5.7 सारांश

भारत एक विशाल राष्ट्र है। यहां विभिन्न जाति, धर्म सम्प्रदाय के लोग रहते हैं। यहां के लोगों के बीच सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि स्तरों पर न्यायिक विषमताएं देखने को मिलती हैं। इन विषमताओं ने भारत में अनेक चुनौतियों एवं क्षेत्रीय समस्याओं को जन्म दिया है। जातिवाद, लिंगभेद व क्षेत्रीयवाद की समस्याओं ने राष्ट्रीय एकीकरण

के निर्माण में कुछ समस्याएं उत्पन्न की हैं जिसमें सांप्रदायिकता, भाषावाद आर्थिक असंतुलन आदि प्रमुख हैं।

टिप्पणी

एक सामान्य अवधारणा के तहत स्त्रियों को प्राकृतिक एवं सामाजिक रूप से पुरुषों से तुलनात्मक रूप से निर्बल माना गया। पुरुषों के अदम्य साहस, वीरता एवं आक्रामक दृष्टिकोण से स्त्रियों को समाज में ही द्वितीय श्रेणी का नागरिक बना दिया। इसके साथ ही साथ धर्म–ग्रंथों एवं सामाजिक मान्यताओं ने स्त्रियों की स्वतंत्रता पर कड़े प्रतिबंध लगाए और स्त्रियों को पुरुष की संपत्ति कहा जाने लगा और इस प्रकार एक ऐसे समाज का गठन हुआ जिसे पुरुष प्रधान समाज कहा गया। ऐसे समाज में 'नारी वर्ग को'–चाहे वह उच्च वर्ग की हो या निम्न वर्ग की – सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं अन्य महत्वपूर्ण अधिकारों से वंचित कर दिया गया जबकि वही अधिकार पुरुषों को प्राप्त थे।

चुनाव में प्रत्येक दल अपने प्रत्याशी खड़े करता है, अपनी योजनाओं का और लक्ष्यों के प्रचार द्वारा जनता को आकर्षित करता है और तब जनता द्वारा उपयुक्त दल के प्रत्याशी विजयी बनते हैं। इतना ही नहीं, राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में सामंजस्य भी स्थापित करते हैं। संसदीय शासन प्रणाली में दलीय अनुशासन और कार्यक्रम के फलस्वरूप विधायिका तथा कार्यपालिका में अभिन्न संबंध बना रहता है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में दल का महत्व इस अर्थ में काफी बढ़ जाता है क्योंकि शासन के विभिन्न अंगों की पूर्ण पृथकता को दल–व्यवस्था से ही दूर किया जाता है।

सभी प्रकार के समाजों में जिन को राजनीति में हिस्सा लेने की अनुमति है, सभी व्यक्ति राजनीति में समान रूप से भाग नहीं लेते। कुछ लोग अधिक सक्रिय होते हैं जबकि कुछ निष्क्रिय। सक्रिय लोगों में भी कुछ चुनाव लड़ते हैं और चुनाव लड़ने वालों में कुछ जीत जाते हैं। जीतने वालों को हम शक्तिशाली मानने लगते हैं। वास्तव में,व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था में हिस्सा लेता है, अथवा नहीं; यह उसके राजनीतिकरण पर निर्भर करता है।

5.8 मुख्य शब्दावली

- **पारस्परिक** – आपसी
- **उम्मीदवार** – प्रत्याशी
- **क्षेत्रीयतावाद** – क्षेत्र–विशेष आधारित अवधारणा
- **बहुभाषीय** – अनेक भाषाओं से संबंधित
- **अपरिहार्य** – आवश्यक
- **चकनाचूर** – ध्वस्त/नष्ट
- **मताभिव्यक्ति** – विचार व्यक्त करना
- **निर्वासित** – निष्कासित

टिप्पणी

5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. 'जाति' से क्या आशय है?
2. धर्मनिरपेक्षता का क्या अर्थ है?
3. राज्यभाषा संशोधन विधेयक 1967 का मूल कथ्य क्या है?
4. जनमत का क्या तात्पर्य है?
5. दल और गुट में मुख्य अंतर क्या है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में जाति एवं धर्म का प्रभाव विश्लेषित कीजिए।
2. क्षेत्रवाद और भाषा का भारतीय राजनीति पर प्रभाव दर्शाइए।
3. जनमत को परिभाषित करते हुए अशिक्षित समाज में जनमाध्यमों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
4. क्षेत्रीयता से क्या आशय है? दलों के राजनीतिक संदर्भ रेखांकित कीजिए।
5. 'सामाजिक जीवन का राजनीतिकरण' विषय पर सारगर्भित टिप्पणी लिखिए।

5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

- Damodaran, K. 1967. Indian Thought: A Critical Survey. New York: Asia Publication House.
- Desai, A. R. 2005. Social Background of Indian Nationalism. Mumbai: Popular Prakashan Pvt. Ltd.
- Varma, Vishwanath Prasad. 1971. Modern Indian Political Thought. Agra: Lakshmi Narain Agarwal Publishers.
- Hans J. Morgenthau, Politics among Nations : The Struggle for Power and Peace (New York : Alfred A. Knopf, 1948).
- Hans J. Morgenthau (2nd ed.), Politics among Nations : The Struggle for Power and Peace (New York : Alfred A. Knopf, 1954).
- Kenneth N. Waltz, Theory of International Politics (Boston: Addison-Wesley Pub. Co., 1979).
- John J. Mearsheimer, The Tragedy of Great Power Politics (New York : Norton, 2001).